Government Oriental Library Series

Edited by the Pandits under the supervision of the Curator,
Government Oriental Library, Mysore

Bibliotheca Sanskrita No. 52

स्मृति च निद्रका

श्री याज्ञिक्देवणभट्टोपाध्याय विरचिता

श्रा द का ण्डः

SMRITI CHANDRIKA

BY

DEVANA BHATTA

EDITED BY

THE CURATOR, GOVT. ORIENTAL LIBRARY, MYSORE

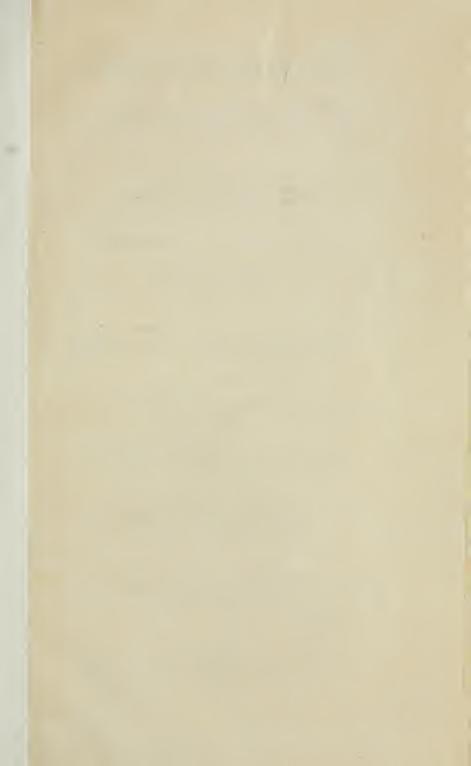
SRADDHAKANDA

PUBLISHED UNDER THE AUTHORITY OF THE GOVERNMENT OF HIS HIGHNESS THE MAHARAJA OF MYSORE

MYSORE:

PRINTED AT THE GOVERNMENT BRANCH PRESS 1918







Government Oriental Library Series

Edited by the Pandits under the supervision of the Curator, Government Oriental Library, Mysore

Bibliotheca Sanskrita No. 52

स्मृति च निद्रका

श्री याज्ञिकदेवणभट्टोपाध्याय विरचिता

श्राद्व का ण्डः

SMRITI CHANDRIKA

BY

DEVANA BHATTA

EDITED BY

THE CURATOR, GOVT. ORIENTAL LIBRARY, MYSORE

SRADDHAKANDA

PUBLISHED UNDER THE AUTHORITY OF THE GOVERNMENT OF HIS HIGHNESS THE MAHARAJA OF MYSORE

MYSORE:

PRINTED AT THE GOVERNMENT BRANCH PRESS 1918

उपोद्घातः.

इह खलु स्मृतिचिन्द्रिकाख्यस्याम्य प्रम्थस्य प्रणेता सकल-विद्याविशारदकेशवादित्यभद्योपाध्यायस्य सृतुः याज्ञिकदेथण-भट्टोपाध्यायसोमयाजीति तत्तत्काण्डान्ते लिखितया प्रशस्ति-पङ्क्ष्या स्पष्टं ज्ञायते. स तु कुत्र कदा वाऽऽसीदिति स्पष्टं नाय-गम्यते. अथापि १२६० तमात्किस्ताब्दादा च १२७१ तमिक-स्ताब्दादेविगिरिमधिष्ठितस्य याद्ववंदयम्य महादेवनुपतेः प्राड्टि-वाकेन हेमादिणा स्थीये चतुर्वगीचिन्तामणा श्राद्धकल्पे स्मृति-चिन्द्रकाकारस्यास्य तात्वर्याण्युपन्यस्तानि, क्रचित्खण्डितानि च अतश्च १२६०—१२७१ किस्ताब्द्कालिकाद्रमाद्रेदेवणभट्टोऽयं प्राचीन इति स्पष्टमाकल्यते.

स्मृतिचिन्द्रिकायां सङ्ग्हकारश्चतुर्विशितिमतसङ्गृहकारश्चेति² द्वावेव निवन्धप्रनथकृतौ परामृष्टौ दृश्येते. कोऽयं संप्रहकार इति तु न कुत्रापि विशदीकृतं दृश्यते. चतुर्विशितमतसङ्गृहकारस्य नामधेयमपि चतुर्विशितमतस्य व्याख्यातुर्भद्दोजिदी- क्षितस्यापि न विदितमासीदिति "कश्चन शिष्यः" इति यद्ता व्याख्यात्रैव शक्दिकृतम्.

¹ श्राद्वकत्पः. अध्याव ११, पु. ११३९; पु. ११४३; अध्याव १३, १२१३; १२६३; १३६४; अध्याव. १५, १४०८. Asiatic Society of Bengal, Ed. १८३३.

² संस्कारकाण्ड: — पु. ७३, ८१, १३४, १७१, १८२, १९४, २१३.

[े] चतुर्विशतिमतव्याख्याः पु. २.

सङ्ग्रहकारवाक्यानि चिन्द्रकायामन्दितानि चतुर्वितिमत-सङ्ग्रहे न दश्यन्ते अतश्च सङ्ग्रहकाराविराचितस्सङ्ग्रहश्चतुर्विश-तिमतसङ्ग्रहादन्य प्रवेति वाढं ज्ञायते. तथा च किस्ताब्दानां चतुर्दशशतके प्रख्याते विजयनगरसंस्थाने चिन्द्रकाकारस्स्व-प्रन्थं प्राणेपीदिति सर् थामस् स्ट्रेंज्नामकेन प्राष्ट्रिवाकेनोक्तामिति कृष्णस्वामिविदुषा स्वीये स्मृतिचिन्द्रकाया आङ्ग्रेयभाषानुवादे स्वितो देवणभट्टकालो निर्मूल प्रव.

किंच "अत्र विशेषमाह नारायणः" इति आह्निककाण्डे ५६७ तमपुटे प्रन्थकृता परामृष्टो नारायणः मनुस्मृतेव्यांख्याता सर्वज्ञनारायणो वाऽन्यो वेति न ज्ञायते. यदि मनुव्याख्यातैव स स्यात्तदा स किस्ताव्दानां त्रयोदशशतकात्प्राचीन एवेति ज्ञायते. अतश्च चतुर्दशशतकालिकस्स इति यङ्गूलर्नाम्ना पाश्चात्यविद्युपा स्वीये मनुस्मृतेराङ्गयभाषानुवादे उपोद्धाते १२९ तम एत्रे लिखितं तदिष निर्मृलं भवति.

द्राविडसम्प्रदायविरुद्धस्य मातुलतुहितृपैतृस्वसेयीपरिणय-नस्यानुष्टेयत्व प्रतिपादनादयं ग्रन्थकर्ता दाक्षिणात्यस्त्वान्ध्र इति स्पष्टमाकल्यते

प्रनथश्चायं संस्काराहिकव्यवहारश्चाद्वाशौचप्रायश्चित्तात्मकैः पद्भिः काण्डैविभक्तो वर्तते. तत्र संस्काराहिकव्यवहारश्चा- द्वकाण्डा वाढं संशोध्यात्र मुद्रापिताः प्रख्यापिताश्चः आशौ- चकाण्डश्चेदानीं मुद्रामाधिकढोऽस्तिः नैकाऽपि प्रायश्चित्तकाण्ड- मातृकाऽद्याप्यत्र लब्धाः "प्रायश्चित्ते वक्ष्यामः" इति तत्रतत्र

¹ संस्कारकाण्डः, पु. २००.

वदता ग्रन्थकृता प्रायश्चित्तकाण्डोऽपि प्रायेण विराचितस्सङ्ग-विपतो वाऽसीदिति सूच्यते. स्वीयपुस्तकभाण्डागारे स्पृतिच-न्द्रिकायाः प्रायश्चित्तकाण्डं वहन्तो महाराया मातृकादानेन यशो लभेरन्

श्राद्धकाण्डस्यास्य शोधनेऽधस्ताईशिता मातृकाकोशाः उपयुक्ताः—

> No. 2848 तालपत्रात्मकमान्ध्रालिप्या लिखितमशुद्धम्. No. 2581 तालपत्रात्मकं नागरलिप्या लिखितं प्रायेण शुद्धम्.

No. 4316 ,,

No. 4339 तालपत्रात्मकं ग्रन्थालिप्या लिखितं नात्य-शुद्धम्

पुस्तकचतुष्टयमप्येतत्पुस्तकभाण्डागारीयमेवेति सर्वमन-वद्यम्.

R. S.

स्मृतिचिन्द्रकायां परामृष्टानि स्मृतिकर्तृपुराणादिनामानि.

आत्रेः आङ्गराः आदिपुराणम् आपस्तम्बः आश्वलायनः उशना ऋष्यशृङ्गः कश्यपः कल्पभाष्यम ऋतुः कात्यायनः कारणीजिनिः कूर्मपुराणम् कौशिकः गर्भः गृह्यपरिशिष्टम् गृह्यशौनकः गृह्यकात्यायनः गोभिलः गौतमः चर्तुांवशातिमतम् छागलेयः जमदाग्नः जावाििः जातूकर्णः ज्योति इशास्त्रम्

दक्षः

देवलः धौम्यः नन्दिकेश्वरः नारदः नारायणः निरुक्तम् नृसिंहपुराणम् ५इपुराणम् पराशरः प्रजापतिः प्रचेताः पारस्करः पितामहः पुलस्त्यः पुलहः पैठीनसिः वह्नव्राह्मणम् बृहंस्पातेः व्रह्मगर्भः व्रह्माण्डपुराणम् व्राह्मपुराणम् वोधायनः वैजावापः भविष्यत्पुराणम् भविष्योत्तरम् भारद्वाजः भृगुः

मनुः मतस्यपुराणम् मरीचिः मार्कण्डेयः मार्कण्डेयपुराणम् यमः यज्ञपार्श्वः

याज्ञवल्कयः योगयाज्ञवल्क्यः

रत्नकोश लघुब्यासः लघुहारीतः

लिङ्गपुराणम् लोगाक्षिः

वराहपुराणम् वगहामिहिरः

वसिष्ठः वायुपुराणं वार्तिककाराः

व्याघ्रपादः

व्यासः विवस्वान् विश्वामित्रः

विष्णुः विष्णुधर्मोत्तरम् विष्णुपुराणम् वृद्धपराशरः ----

वृद्धमनुः वृद्धवासिष्ठः

वृद्धयाज्ञवल्क्यः

वृद्धशातातपः

वृद्ध शङ्खः

वैयाघ्रपादः

शङ्करः शङ्घः

शङ्खालावितौ

शाख्यायनिः शातातपः

शिवधर्मशास्त्रम्

शौनकः

षट्त्रिंशनमतम्

सङ्गहकारः

सत्यतपाः

सत्यव्रतः संवर्तः

सपतः साङ्ख्यायनः

साङ्ग्यायनगृह्यम्

सुमन्तुः

सुश्रुतः

स्कन्दपुराणम्

हारीत



स्मृतिचन्द्रिकायां श्राद्धकाण्डस्थविषयानुक्रमणिकाः

| | | | | पुटस | ङ्ख्या |
|-------------|-----------------------------------|---------------------------------|----------------------|---------|--------|
| (1) | श्राद्धमहिमा | •••• | •••• | | 1 |
| (2) | श्राद्धभेदाः | •••• | •••• | •••• | 4 |
| | नित्यादिद्वादशश्राद्धानिरूपणम् | Į | •••• | | ,, |
| | तेषां लक्षणानि | •••• | •••• | | ,, |
| (3) | श्राद्धाधिकारिनिर्णयः | •••• | •••• | •••• | 5 |
| | अनुपनीतस्यापि श्राद्धेऽधिक | ारः | •••• | :•• | 6 |
| | सति पुत्रे तस्यैवाधिकारः | ••• | •••• | •••• | 7 |
| | तदभावे सपिण्डादीनाम् | •••• | •••• | • • • • | 8 |
| | पत्नीशब्दस्य द्वेधाऽर्थव्यवस्थ | Τ | **** | 9- | -10 |
| | 'न पुत्रस्य पिता कुर्यात् | ' इलादि वचनं | स्नेहाविहीनापित्रादि | - | |
| | विषयम् | **** | •••• | | 11 |
| | धनहारित्वादिनिमित्ताभावेऽ | पि श्राद्धे कृते ऽ भ्युव | : | •••• | ,, |
| | असवर्णश्राद्धकरणे दोषः | | *** | •••• | ,, |
| (4) | मातामहश्राद्धाधिकारि | रिनर्णयः | • • • | | 12 |
| | दौहित्रेण मातामहश्राद्धमवरः | यं कर्तव्यम् | **** | •••• | ,, |
| | अकरणे दोषः | | •••• | • • • • | ,, |
| | धनहारिणो दौहित्रस्यावश्यं | नवश्राद्धादावप्याधिः | कारः | •••• | 13 |
| | द्विविधः पुत्रिकापुत्रः | **** | •••• | •••• | ,, |
| | पुत्रिकापुत्रकर्तृकश्राद्धे विशेष | 4 : | •••• | •••• | 14 |
| | द्रयामुष्यायणे पुत्रिकापुत्रे । | वेशेष: | •••• | •••• | ,, |
| | क्षेत्रजे तु द्वधामुध्यायणे | **** | | •••• | ,, |
| | SMRITI CHA.—Vo | ьV. | | В | |

| | पुटस | ाङ्घपा |
|---|------|----------|
| (ర్) जीविपतृकश्राद्धनिर्णयः | •••• | 15 |
| र्जीविपतृकस्य पितामहादिश्राद्धेष्वनधिकारः | ••• | ,, |
| तस्यैव साम्रिकस्य कचिदपवादः | ••• | ,, |
| पित्रादिषु त्रिषु द्वयोरेकस्य वा मरणे | | 16 |
| जीविपतृकस्य पिण्डपित्यज्ञादौ होमस्य पाक्षिकत्वम् | •••• | 17 |
| (6) প্রান্তকালাঃ | | 18 |
| अमावास्यादिषु श्राद्धमवर्यं कर्तव्यम् | ••• | ,, |
| विषादिहतानां कृष्णचतुर्दश्यां श्राद्धं कार्यम् | | 20 |
| अयनद्वये श्राद्धं निखम् | | 22 |
| राङ्कपद्मकादीनां लक्षणम् | ••• | , , |
| तीर्थद्रव्याद्युपपत्तौ श्राद्धमवश्यं कर्तव्यम् | | 23 |
| गजच्छायादीनां लक्षणम् | •••• | 24 |
| उपरागे श्राद्धं निलम् | | 26 |
| युगादिपु मन्वादिषु च श्राद्धमक्षय्यम् | | 28 |
| (7) अमावास्याद्वैधनिर्णयः | •••• | 30 |
| कुदृसिनीवाल्यादीनां लक्षणम् | •••• | ,, |
| तिथिद्वेधे कर्मकालव्यापिनी प्राह्या | | 32 |
| (0) | **** | 34 |
| (८) अमात्रास्याावषयााण अमाया नक्षत्रवारादिविशेषयोगे श्राद्धकरणे फलविशेषः | **** | 35 |
| (0) | **** | 3; |
| राकानुमितभेदेन पौर्णमासी द्विधा | **** | |
| राकानुमातमदन पाणमासा ।द्वधा र्ष्वाण यागकालविचारः | **** | " " |
| | • • | 57 4≈ |
| (10) तिथिद्वैधनिर्णयः | •••• | 45 |
| संपूर्णायां तिथै। कर्मानुष्टेयम् | **** | 46 |

| | | | पुटस | क्ष्या |
|--------------|---|-------------------|---------|--------|
| | तिथिद्वैविध्ये पूर्वा तिथिरुत्तरविद्धा, उत्तरा च प् | र्वविद्धा प्रश्वा | **** | 46 |
| | उपवासे परविद्वेव तिथियीह्या | •••• | | 47 |
| | पक्षभेदेन मतान्तरेऽत्र विशेषः | •••• | •••• | 48 |
| | उदयव्यापिन्यास्तिथेरल्पत्वे तिथ्यन्तरेऽनुष्ठानम् | | •••• | 49 |
| | क्वाचिदस्यापवादः | | • • • • | 51 |
| | नक्तवते प्रदोषव्यापिनी तिथिशीह्या | ••• | •••• | ,, |
| | प्रदोषपरिमाणम् | •••• | •••• | ,, |
| | दिनद्वयेऽपि प्रदोषव्यापितिथ्यलामे- | *** | | 52 |
| | नक्षत्रोपवासे विशेष: | •••• | •••• | ,, |
| (11) | पकादशीमहिमा | **** | •••• | 53 |
| (12) | पकादशीनिर्णयः | **** | | 54 |
| | एकादशीवतस्य नित्यत्वं, अकरणे दोषश्च | •••• | | 55 |
| | पक्षद्वयोपवासविधानस्य वानश्रस्थादिविषयत्वा | Ą | •••• | ,, |
| | पुत्रवतो गृहस्थस्य कृष्णैकादश्यामुपवासानिवेधः | **** | •••• | 56 |
| | पक्षद्वयोपवासविधानं पुत्रवद्गृहिव्यतिरिक्तविष | यम् | ••• | 58 |
| | मतान्तरे पुत्रवद्गृहस्थोपवासानिषेधवाक्यानां | काम्योपवासविषय | त्वम् | 59 |
| | नित्यनैमित्तिकयोनित्यं कार्थम् | **** | •••• | ,, |
| | उपवासलक्षणम् | •••• | •… | ,, |
| | उपवासग्रहणविधिः | •••• | •••• | 62 |
| | एकादशीव्रतं सूतकादावि कार्यम् | **** | ••• | 63 |
| | उपवासाशक्तौ | •••• | •••• | 64 |
| (13) | पकादशोद्वैधनिर्णयः | •••• | | 65 |
| | संपूर्णेकादशीलक्षणम् | •••• | ••• | ,, |
| | दशमीशेषस्योदयात्प्राचीनमुह्तेद्वयानन्प्रवेशे | उपवासः कर्तव्यः | **** | 66 |

xii

| | | | पुटस | ङ्ख्या |
|--------------------------------------|---------------------------------|-------------------------|----------|--------|
| दशमीशेषस्योदयात्प्राचीनमु | हूर्तद्वयानुप्रवेशे उ | पवासविचार: | •••• | 67 |
| अरुणोदयलक्षणम् | ••• | **** | **** | 69 |
| एकादशीदिनक्षये दशमीवि | द्धोपोध्या | £+++ | | 70 |
| यस्मिन् दिनक्षये त्रयोदः | खामपि द्वादशी | तस्मिनेवोपवासः | कर्तव्य: | 71 |
| विद्धोपवासनिषेधपराणां व | (क् यानामेकादशी | दिनक्षयव्यतिरिक्तां | वेषयत्वम | τ 72 |
| वेधसन्देहे | **** | | **** | 73 |
| उपवासनिषेधे यार्देक चि द्धक्ष | यकल्पनम् | **** | •••• | 76 |
| त्रयोदशीपारणनिवेधपाणि | वाक्यानि त्रये | दश्यां द्वादशीसंभ | বে- | |
| विषयाणि | *** | •••• | | 78 |
| (14) अपराह्वनिर्णयः | **** | **** | •••• | 80 |
| मतभेदेनाःशह्यह्य ाने | त.र्थत्वे ऽ पि मनूक्त | एव प्राह्यः | | 81. |
| कुतपशब्द(निर्वचनम् | . 188 | | •••• | 82 |
| कुतपादी रौहिणाःतः श्राद | इकाल: | | •••• | 83 |
| (15) श्राद्धकालविषयाणि | | **** | | 85 |
| कन्यागते सवितरि महाल | याख्ये पञ्चमापरप | क्षे श्राद्धं कर्तव्यम् | •••• | 86 |
| ऐककालिकेषु श्राद्धेषु तन्त्रे | रण श्रपणं कृत्वा | ज्येष्टानुक्रमेण श्रा | द्धा- | |
| नुष्टानम् | **** | | **** | 90 |
| शसहतारीनां महालये चर् | नुर्दश्यामेकोा <u>द</u> िष्टश्र | ादे कृतेsपि दिना | न्तरे | |
| पार्वणश्राद्धं क.र्यम् | | **** | | 92 |
| कृष्णपक्षे मखात्रयोदस्यां । | पितृवर्गस्य माताम | गहवर्गस्य च पार्वणा | मनु- | |
| ष्टेयम् | **** | | **** | 96 |
| मातृश्राद्रममावास्यादिपु न | पृथकर्तःयम् | **** | | 98 |
| अन्वष्टकादौ मातृश्राद्धं पृष | यगेव | | | 99 |
| सवितुः क यागतत्वाभावे | श्राद्धं न कार्यम् | **** | **** | 101 |

xiii

| | | | | पुटन | सङ्ख्या |
|------|-------------------------------|---------------------|---------------|---------|---------|
| (16) | अधिमासविषयाणि | | | • • • | 102 |
| | अधिमासि श्रीतस्मार्तिकयाः | न कार्याः | •••• | •••• | ,, |
| | अधिमासप्राप्तिकालविचारः | *** | •••• | | 103 |
| | आवश्यको विधिरिधिमासेऽनु | ष्टे यः | | | 106 |
| | अधिमासे वर्ज्यानि | •••• | •••• | •••• | 109 |
| | अधिमास मृतानामधिमासेऽ | पे श्राद्धं कार्यम् | •••• | •••• | 114 |
| | संसर्पोहस्पतिसंज्ञी मासौ नारि | धेमाधी | **** | •••• | 116 |
| (17) | मृताहविषयाणि | •••• | •••• | | 117 |
| | सौरसावनचान्द्रमासनिरूपणम | Ę | **** | •••• | 118 |
| | सौरसावनचान्द्राहोरात्राणां भे | ।दनिरूपणम् | ••• | | 119 |
| | सांवत्सरिकश्राद्वाद।वस्तगामि | नी तिथिमीह्या | ••• | ••• | 121 |
| (18) | मृताहापीरज्ञानविषया | णि | •••• | | 124 |
| (19) | काम्यश्राद्धकालाः | •••• | **** | •••• | 126 |
| | संकान्यादै। पित्तत्त्रयतिशय | काले पुत्र।दिना श्र | ाद्धं कार्यम् | | " |
| | अयनादी पुण्यकः छविचारः | ••• | •••• | •••• | 128 |
| | उपरागे महणकाल एव श्रादं | कर्तव्यम् • | **** | •••• | 132 |
| | मतान्तरेण काम्यश्राद्धकालां | नेरूपणम् | **** | •••• | 133 |
| | काम्यार्थिनैव काम्यश्राद्धानि | कार्याणि | **** / | •••• | 137 |
| (20) | गौणश्राद्धकालाः | •••• | *** | | 138 |
| | आशौचादिप्राप्ती श्राद्धित्रया | यां कालविचारः ं | *** | •••• | 139 |
| | श्राद्धशब्दार्थनिरूपणम् | •••• | *** | •••• | 141 |
| (21) | थ्राद्धदेशाः | *** | *** | • • • • | 142 |
| | श्राद्ध। ईदेश नि रूपणम् | **** | **** | •••• | ,, |
| | निषिद्धदेशनिरूपणम् | **** | 4041 | ••• | 143 |

xiv

| | | पुटसङ्ख्या |
|--|--------------|------------|
| (22) काम्यश्राद्धदेशाः | •••• | 144 |
| कार्यादिक्षेत्रमाहात्म्यवर्णनम् | •••• | 145 |
| सित संभवे गयादिषु सवर्णादिभ्यापि पिण्डदाना | दिकं कार्यम् | 151 |
| गयाश्राद्धे तत्रत्या एव बाह्मणा निमन्त्रणीयाः | •••• | 152 |
| (23) श्राद्धे भोजनीयब्राह्मणनिरूपणम् | •• | 154 |
| निमन्त्रणात्प्रागेव बाह्मणान् परीक्षेत | **** | ···· ,, |
| ठक्षण्या एव बाह्मणार् श्राद्धे नियोजनीयाः | •••• | 155 |
| मुख्यकरपटाभे <mark>ऽतुकल्पानुष्ठानं दोषा</mark> वहम् | **** | 160 |
| सगुणानामनुकल्पानामभावे निर्गुणानामनुकल्पतय | गा स्वीकारः | 162 |
| ्काले प्राप्तोऽतिथिरवर्यं भोजनीयः | | 166 |
| (24) श्राद्धे वर्ज्या ब्राह्मणाः | •••• | ,, |
| सत्यपि ज्येष्ठे कनिष्ठेन दाराभिहोत्रसंबन्धे कृते । | परिवेदनदेषाभ | ाव- |
| विचारः, | **** | 172 |
| देशान्तरस्थेऽष्टवर्षादिकालः प्रतीक्षणीयः | •••• | 174 |
| अत्र विषयविशेषविचार: | •••• | 175 |
| सत्यिप ज्येष्ठे किनष्टस्याधानप्राप्तिविचारः | •••• | 176 |
| कुण्डगोळकशब्दार्थः | •••• | 179 |
| अकारणपरित्यक्तादिशब्दार्थविचमरः | | 182 |
| पङ्किद्षकपङ्किपावनलक्षणम् | 4<+4 | 187—188 |
| (25) श्राद्धदिनात्प्राचीनदिनकृत्यम् | •••• | 189 |
| देविषित्रर्थे ब्राह्मणनिमन्त्रणम् | 7444 | 190 |
| पैतके वैश्वदेवे च बाह्मणसंख्याविमागः | •••• | 191 |
| निमन्त्रणप्रकारः | •••• | 194 |
| निमन्त्रितत्राह्मणपरित्यागे दोषभृयस्त्वम | ••• | 197 |

| 198 201 202 206 210 211 212 223 224 |
|---|
| 202 206 210 211 212 223 |
| 206 210 211 212 223 |
| 210 211 212 223 |
| 211 212 223 |
| 212 223 |
| 223 |
| |
| 224 |
| |
| 226 |
| 228 |
| 231 |
| 233 |
| 236 |
| 238 |
| 244 |
| 246 |
| 249 |
| 252 |
| 256 |
| 258 |
| 259 |
| 262 |
| ,, |
| |

xvi

| | | पुट | सङ्ख्या |
|---|----------------------------|------------|---------|
| श्रा दा ईपुष्पधूपद्रन्यवस्थायाहरणम् | *** | | 263 |
| (32) श्राद्धदिनापराह्वकृत्यम् | •••• | , | 268 |
| पित्रचं सर्वेमप्रदक्षिणं प्राचीनावीतिना, वैश्वदैि | वेकं कर्म यज्ञोपवी | - | |
| तिना प्रदक्षिणं कार्यम् | •••• | •••• | 269 |
| प्रक्षाळितपदान्विप।नासनेषूपवेशयेत् | •••• | | 271 |
| उपवेशनप्रकारः | •••• | | 274 |
| (33) अवान्तरसंकल्पादिकृत्यम् | •••• | •••• | 280 |
| बाह्मणाभ्यनुज्ञानन्तरं श्राद्धभूमौ तिलविकिरणा | ादि सर्वे ऋमेणानुष्टे | यम् | 282 |
| विश्वेदेवावाहनप्रकारः | **** | •••• | 284 |
| श्राद्धविशेषेषु विश्वेषां देवाना विशेषनामानि प्र | योज्यानि | | 285 |
| (34) वैश्वदैविकार्चनाविधिः | **** | | 290 |
| अर्घ्यपात्रादिषु विशेषः | •••• | | 291 |
| गन्धदानादिकृत्ये प्रयोगसरणिः | | | 294 |
| (35) पैतृकार्चनविधिः | | | 295 |
| पित्राद्याचाहने श्राद्धकर्तुरतीताः पूर्वपुरुषाः | पितृपिता महप्रापि त | [- | |
| महा प्राह्याः | | ••• | 296 |
| पितृनुहिश्य श्रांदे दत्तमनं कथं तान् प्रारं | प्रोतीत्यनुपपत्तिनिर। | _ | |
| करणम् | •••• | | 298 |
| श्राद्धे वस्वादिरूपेण पित्रादयोऽनुसन्धयाः | *** | | 300 |
| पार्वणादिश्राद्धे पित्रादीनां सपत्रीकानां तृप्तिर्न | केवलानाम् | ••• | 301 |
| पितृणामासनदानावाहनादौ प्रयोगसरणि: | | | 303 |
| (36) अर्घ्यांद्यपचाराविधिः | **** | •••• | 305 |
| गन्धानुले गनादी विशेष: | ••• | ••• | 313 |
| (37) अग्नौकरणविधिः | •••• | , | 317 |

xvii

| | | पुटसङ्ख्या |
|---|-------------------------|---------------------|
| अम्रवाधेयसमित्रिरूपणम् | •••• | 320 |
| प्रकृतौ पिण्डपितृयज्ञे पक्षद्वयप्रकारः | *** | ** 75 |
| होममन्त्रेष्हप्रकारः | | 327 |
| पैतकलादमाकरणं प्राचीनावीतिना कार्य | र्गम् | 329 |
| (38) उभयविधास्रीकरणार्थासिनिर्ण | यः | 330 |
| अनिधकस्य द्विजपाणावप्सु वेत्युभयविध | यम य्रीकरणम् | 332 |
| अप्स्वित पक्षे विषयविशेषः | •••• | 333 |
| पाणिहोमपक्षे बीहियववित्रित्रयवैश्वदैविक | ज्ञाह्मणपाण्योर्विकल्प: | 335 |
| हुतशेषस्य पित्र्यबाह्मणभोजनपात्रेष्वेव | निक्षेप: | ,, |
| सत्यपि ब्राह्मणवाहुळ्ये प्रथमोपविष्टस्यैव | [पाणी होम: | ···· ₂ , |
| पाणी हुतस्य तदानीमेव भोजने निषेध | यः | 336 |
| (39) परिवेषणविधिः | **** | 337 |
| पात्रप्रक्षाळनम् | **** | 338 |
| परिवेषणकर्त्वनिरूपणम् | •••• | 339 |
| देवपूर्वं परिवषणम् | *** | 342 |
| परिवेषणानन्तरमभ्युक्षणावोक्षणादिकृत्य | ाम् | 343 |
| अन्नत्य।गप्रकारः | **** | 346 |
| भोक्तुमुपक्रान्तेषु बाह्यणेषु श्राद्धकर्तुः | कर्तव्यम् | 350 |
| अपेक्षितस्यायाचने याचितस्याप्रदाने न | व दोषभूयस्त्वम् | 351 |
| भोजनकालेऽश्रुपातनादिनिषेधः | **** | 353 |
| (40) निमन्त्रितब्राह्मणविषयाणि | •••• | 354 |
| भोजनकाले भोक्तृनियमाः | **** | 355 |
| (41) अन्नविकिरणादिविधिः | ••• | 358 |
| विकिरणानन्तरं श्राद्धकर्तुरनाचमने दोष | 4: | 359 |
| Smriti Cha.—Vol. V. | | C |

xviii

| | | | | पुरः | सङ्ख्या |
|------|-------------------------------|--------------------------------|-------------------|---------|---------|
| (42) | पिण्डदानविधिः | •••• | **** | | 361 |
| | पिण्डीनर्वापणकालस्य यथ | ास्वशाखं व्यवस्था | | | 362 |
| | पितृसेवितावशिष्टभोजनं वि | नेत्यम् | •••• | | 364 |
| | कचित्रयाम्रायः | •••• | •••• | | ,, |
| | पिण्डनिर्वापणस्थाने कर्तव्य | पादि ' | •••• | | 365 |
| | पिण्डप्रदाने मन्त्रा | **** | •••• | | 368 |
| | पिण्डदाने यजमःनस्य पूर्व | पुरुषा एव देवता न | वस्वादय: | | 369 |
| | अत्र वाक्यान्तरविरोधे पा | रेहार: | •••• | • • • • | 370 |
| | पिण्डप्रमाणम् | •••• | | •••• | 371 |
| | पिण्डनिवापणानन्तरकृत्यम् | Į | • | | 372 |
| | पिण्डार्चने विशेष: | •••• | | •••• | 376 |
| | पिण्डचालनानन्तर मग्नीकरप | गान्नि प्रति गच्छेत् | **** | | 377 |
| | मातामहादिश्राद्धे कुत्स्नपितृ | तृश्राद्धकल्पस्यातिदे ३ | τ: | | ,, |
| (43) | पिण्डदानप्रयोगसर्रा | णः | **** | | 379 |
| (44) | पिण्डदानविषयाणि | | •••• | | 382 |
| | गृह्ये विधानान्तरानुक्तौ पि | ण्डपितृयज्ञकल्पनैव | पिण्डदानं कःर्यम् | | 383 |
| | नामगोत्रादीनामपरिज्ञाने | •••• | •• | ••• | 388 |
| (45) | ब्राह्मणभोजनात्मकप्र | धानपाश्चात्याङ्ग | विषयाणि | | ,, |
| | भुक्तवद्भयो बाह्मणभ्य आ | ाशीर्वाद प्रह णप्रकारः | •••• | •••• | 389 |
| | पात्रचालन कर्तृविषये विधि | धेप्रातिषेषी(| •••• | | 391 |
| | स्वस्तिवाचनप्रयोगः | | ••• | | ,, |
| | अक्षय्योदकदानम् | | •••• | | ,, |
| | दक्षिणालेन देयवस्तुनिरूप | णम् | •••• | | 392 |
| | दक्षिणादानप्रयोगः | •••• | •• | **** | 394 |

xix

| | | | | पुटर | सङ्ख्या |
|------|--------------------------------------|---------------------|-----------------|---------|---------|
| | स्वधावाचनम् . | *** | •••• | | 397 |
| | ब्राह्मणविसर्जनम् . | *** | | | 399 |
| | पितृप्रार्थना | | | | .400 |
| | श्रियोक्तिपूर्वकं स्वस्थानं प्रति | ब्राह्मणविसर्जनम् | | •••• | 401 |
| (46) | पिण्डप्रतिपत्त्यादिविषय | ाणि | •••• | ••• | 402 |
| | कर्तुः पुत्रार्थिलाभावे अग्निजल | मदिषु पिण्डप्रक्षेप | गम् | • • • • | ,, |
| | सति पुत्रार्थिले पत्नी मध्यमपि | ोण्डं प्राक्षीयात् | •••• | | ,, |
| | तीर्थश्राद्धे पिण्डानामण्स्वेव प्रा | तिपत्तिः | **** | | 404 |
| | पिण्डप्रक्षेपणानन्तरं द्विजोच्छि | ष्टशोधनम् | **** | ••• | ,, |
| | अत्र विषयविशेषविचारः . | | •••• | **** | 405 |
| | श्राद्धदिने वैश्वदेवानुष्ठानकाली | वेचारः | •••• | •••• | 406 |
| | श्राद्वादे। पृथक्पाकाद्वैश्वदेवकरा | णेन दोषः | •••• | •••• | 407 |
| | भत्र नित्यश्राद्धविचारः . | ••• | •••• | ••• | 408 |
| | विश्वदेवार्थं पृथक्पाके कृतेऽपि | पित्रर्थपाकादेव भ | ोजनम् | •••• | 409 |
| | पितृसेवितस्य भोजनप्रकारः . | •••• | | 1911 | ,, |
| | विप्रेरेव श्राद्धशिष्टाने गृहीते व | भन्नान्तरं संपाद्यः | भोक्तव्यम | | 410 |
| | अनुज्ञापक्ष एव पितृष्ठेवितभोऽ | तनियम: | | | ,, |
| | पितृसेवितमपि माषमांसादिव | कमन्वाधानादिने | कृतान्वाधानेन न | r | |
| | भोक्तब्यम् . | *** | **** | ••• | ,, |
| | सत्यिप नियमे व्रतिनः वैधमान | बरतो न व्रतभङ्गः | | ••• | 411 |
| | दातृभोक्रोनियमान्तराणि . | | **** | *** | 412 |
| | ्र श्राद्धकर्तुः फलनिरूपणम् . | | **** | | 413 |
| (47) | यथाराक्ति पार्वणानुष्ठा | | •••• | | 414 |
| | पात्रामंगनी | | | | ,, |
| | | | | | |

| | | | पुट | सङ्ख्या |
|------|---|--------------------------|--------|---------|
| | एकस्यापि ब्राह्मणस्यालाभे | •••• | | 4.15 |
| | पकद्रव्यसंपादनासंभवे आमश्राद्धेऽधिकारः | •••• | | 416 |
| | सर्वश्राद्धेषु शूदः पार्वणविधानेनाममेव दद्यात् | •••• | •••• | ;, |
| | लब्धकीतादिपकानसद्भावेऽप्यामश्राद्धमेव द्वि | जै: कार्यम् | ••• | 417 |
| | पाकसामग्रीसद्भावेऽप्यनमिकादिनाऽऽमश्राद्धं व | कार्यम् | ••• | ,, |
| | पक्तेनैव श्राद्धं कचिद।वस्यकम् | •• • | •••• | ,, |
| | भामशाद्धे विशेषः | •••• | , | 418 |
| | आमद्रन्यस्याप्यसंभवे हेमश्राद्धम् | **** | **** | 419 |
| | आमश्राद्धे हेमश्राद्धे च कर्तव्यांशस्य भेदः | •••• | | " |
| | हेमद्रव्यस्याप्यलाभे | •••• | **** | 420 |
| | श्राद्धाङ्गसंपादनासंभवे | •••• | •••• | " |
| | विस्मृतपार्वणानुष्टान।संभवे | •••• | •••• | ,, |
| | संकल्पश्राद्धपार्वणश्राद्धये।भेंदपदर्शनम् | •••• | ••• | 421 |
| | अनुकल्पानुष्टानेऽपि शाठ्याभावे सति मुख्यक | ल्पानुष्ठानफलं भवति | f | ,, |
| (48) | प्रतिसांवत्सरिकश्राद्धम् | **** | | 422 |
| | यजमानस्याक्षामध्यैं, कारणान्तरेण कालातिप | त्तौ वाऽन्यश्र्राद्धं कु | र्यात् | ,, |
| | आब्दिकं मासिकं च श्राद्धं पार्वणवदनुष्टेयम् | ••• | **** | 423 |
| | पितृमृताहे मातामहादिश्राद्धं न कार्यम् | •••• | | 424 |
| | पैतृकस्य मातामहश्राद्धस्य च अमावास्यादिक | ाले यागपद्यं, समान | - | |
| | तन्त्रत्वं च | •••• | •••• | 425 |
| | मातापित्रोस्सांवत्सारिकश्राद्धकालस्यैक्ये कर्तव्य | ां शविचारः | ••• | 426 |
| | मातापित्रोर्युगपन्मरणे पौर्वापर्याज्ञाने | | | ,, |
| | भ्रात्रादीनां सांवत्सारिकश्राद्धदिनैक्ये श्राद्धा | ननेकं ज्येष्टादिक्रमेण | 1 | |
| | पृथगेव कार्थम् | | •••• | ,, |
| | | | | |

| | | | पुटसङ्ख्या | | |
|------|---|----------------------|------------|------|-----|
| | अत्र वाक्यान्तरंग विरोधे त | त्पारेहार: | | ••• | 427 |
| | मृताहश्राद्धं पार्वणवियानेनैकं | तोहिष्टविधानेन वा | कार्यम् | ••• | 428 |
| | बहुसम्मतत्वात्पार्वणपक्षस्यैव | परिश्राह्यलम् | | *** | 429 |
| | परस्परविरुद्धानां स्मृतीनां वि | वेषयभेदेन व्यवस्थ | π | | 430 |
| | अविभक्तैः प्रतिसांवत्सरिकश्र | ाद्धकरणविषय <u>ः</u> | 1** | | 431 |
| (49) | नित्यश्राद्धादिविपयाणि | π | •••• | | ,, |
| | नित्यश्राद्धनि रूपणम् | **** | •••• | | ,, |
| | नित्यशाद्धमुक्तकाले पार्वणविधानेन यथ श्रद्धं यथासामर्थ्यमनुष्टेयम | | | | 432 |
| | काम्यश्राद्धानिरूपणम् | | | | ,, |
| | वृद्धिश्राद्धनिरूपणम् | **** | •••• | | ,, |
| | वृद्धिश्राद्धकालविचारः | •••• | | *** | 433 |
| | वृद्धिश्राद्धे कर्तव्यविशेषनिरू | ग्णम् | | | 434 |
| | वृद्धिश्राद्धे पैतृकप्रचारोपि दैवि | वेकप्रचारवदाश्रयण | ािय: | | 436 |
| | वृद्धिश्राद्धे आवाहनादौ प्रयोग | ाभेद: | | **** | 439 |
| (50) | वृद्धिश्राद्धप्रयोगः | •••• | ••• | •••• | 441 |
| | अर्घप्रदाने विशेष: | •••• | **** | | 442 |
| ` | अम्रीकरणे विशेषः | •••• | •••• | | 443 |
| | तृप्तिप्रश्नपिण्ड ानयोविंशेषः | | •••• | | 444 |
| | पिण्डार्चनानन्तरं कर्तव्याविशे | ोष: | •••• | | 445 |
| | पार्वणस्य द्वैविष्यम् | •••• | | | 446 |
| (51) | अन्यदाभ्युदयिककर्मा | नेरूपणम् | •••• | | 446 |
| | तत्र मातरस्सगणाधिपाः पूज | | •••• | •••• | 448 |
| (52) | कर्माङ्गश्राद्धविपयाणि | | **** | | 450 |
| (53) | तीर्थश्राद्धविषयाणि | ••• | **** | | 451 |



स्मृति च न्द्रिका

श्राद्यकाण्डप्रारम्भः.

उक्तमाहिके नित्यश्राद्धं, अधुना तत्प्रसङ्गाच्छ्राद्धप्रकरणः मारभ्यते

तत्रादौ श्राद्धमिहिमा । तत्र सुमन्तुः— श्राद्धात्परतरं नान्यच्छ्रेयस्करमुदाहृतम् । तस्मात्सर्वप्रयत्नेन श्राद्धं कुर्योद्विचक्षणः ॥ देवलोऽपि—

> अरोगः प्रकृतिस्थश्च चिरायुः पुत्रपौत्रवान् । अर्थवानर्थकामी च श्राद्धकामो भवेदिह ॥ परत्र च परां तुार्धे छोकांश्च विविधान् शुभान् । श्राद्धक्रत्समवाप्नोति यशश्च विपुलं नरः ॥

याज्ञवल्क्योऽपि —

आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गे मोक्षं सुखानि च।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं पीता नॄणां पितामहाः ॥
यमोऽपि—

ये यजन्ति पितृन् देवान् त्राह्मणान् सहुताशनान् । सर्वभूतान्तरात्मानं विष्णुमेव यजन्ति ते ॥ Smriti Cha.—Vol. V, आयुः पुत्रान् यशस्त्वर्गं कीार्ते पुष्टिं वलं श्रियम् । पश्न सुखं धनं धान्यं प्राप्तुयात्पितृपूजनात् ॥ मार्कण्डेयपुराणेऽपि—

पिता पितामहश्चैव तथैव प्रितामहः। पिण्डसम्वान्धनो होते विज्ञेयाः पुरुषास्त्रयः ॥ लेपसम्वन्धिनस्त्वन्ये पितामहपितामहात्। प्रभृत्युक्तास्त्रयस्तेषां यजमानश्च सप्तमः ॥ तथाऽन्ये पूर्वजास्स्वर्गे येचान्ये नरकौकसः। ये च तिर्यक्तवमापना ये च भूतादिसंस्थिताः॥ तांत्सर्वान्यजमाने। वै श्राद्धं कुर्वन्यथाविधि । समाप्याययते वत्स येन येन शृणुष्व तत्॥ अन्नमिकरणं यतु मनुष्यैः क्रियते भुवि । तेन तुष्टिमुपायान्ति ये पिशाचत्वमागताः॥ यदम्बु स्नानवस्नोत्थं भूमौ पतति पुत्रक । तेन ये तरुतां प्राप्तास्तेषां तृप्तिः प्रजायते ॥ यास्त गन्धाम्बकणिकाः पतन्ति धरणीतले । ताभिराप्यायनं तेषां ये देवत्वं कुले गताः॥ · उद्धतेषु तु पिण्डेषु याश्वात्र कणिका भुवि । ताभिराप्यायनं तेपां ये तिर्यक्तवं कुळे गताः ॥ ये चादन्ताः कुले वालाः कियायोग्या ह्यसंस्कृताः । विपन्नास्ते तु विकिरसंमाजनजलाशिनः ॥

भुक्त्वा चाचमतां यच जलं यचाङ्किसेचने ।
बाह्मणानां तथेवान्ये तेन तृप्तिं प्रयान्ति वै ॥
तेनानेककुले तत्र तत्तद्योन्यन्तरं गताः ।
प्रयान्त्याप्यायनं वत्स सम्यक् श्राद्धित्रयावताम् ॥

वृहस्पतिरापि-

य एवं वेत्ति मितमांस्तस्य श्राद्धफलं भवेत् । उपदेष्टाऽनुमन्ता च लोके तुल्यफलौ समृतौ ॥ इमं श्राद्धविधि पुण्यं कुर्याद्वाऽपि पठेतु यः । सर्वकामस्स वञ्चाति ह्यस्तत्वं च विन्दाते॥

तथाऽकरणेऽपि दोपस्तेनैव दार्शतः—

न तत्र वीरा जायन्ते नारोगा न शतायुषः । न च श्रेयोऽधिगच्छन्ति यत्र श्राद्धं विवर्जितम् ॥ आदित्यपुराणेऽपि—

न सन्ति पितरश्चेति कृत्वा मनिस यो नरः । श्राद्धं न कुरुते तत्र तस्य रक्तं पिवन्ति ते ॥ तथा धनाशुद्धाविप दोषो मार्कण्डेयपुराणे दर्शितः— अन्यायोपार्जितैर्द्रव्यैर्यच्छ्राद्धं क्रियते नरैः । तृष्यन्ति तेन चण्डालाः पुल्कसाद्याश्च योनयः ॥ इति ॥

इति स्मृतिचिन्द्रिकायां श्राद्धमिहिमा.

अथ श्राद्धभेदाः.

तत्र विश्वामित्रः—

निसं नेमित्तिकं काम्यं दृद्धिश्राद्धं सिपण्डनम् । पार्वणं चेति विज्ञेयं गौष्ठचं सुद्धचर्थमप्टमम् ॥ कर्माङ्गं नवमं प्रोक्तं दैविकं दशमं स्पृतम् । यात्र।स्वेकादशं प्रोक्तं पुष्टचर्थं द्वादशं स्मृतम् ॥

तत्र नित्यनैमित्तकयोर्छक्षणं पारस्करेणोक्तम्—
अहन्यहानि यच्छ्राद्धं तन्नित्यमिति कीर्तितम् ।
वैश्वदेविवहीनं तु अशक्तोष्युदकेन तु ॥
एकोदिष्टं तु यच्छ्राद्धं तन्नैमित्तिकमुच्यते ।
तद्प्यदेवं कर्तव्यमयुग्मानाशयोद्धिजान् ॥ इति ॥

काम्यादीनां लक्षणं वृद्धविसष्टेनोक्तम्—
अभिष्रेतार्थिसिद्धचर्थं काम्यं पार्वणवत्स्मृतम् ।
पुत्रजन्मविवाहादौ वृद्धिश्राद्धमुदाहृतम् ॥
नवानीतार्ध्यपात्रं च पिण्डश्च परिकीर्यते ।
पितृपात्रेषु पिण्डेषु सपिण्डीकरणं तु तत् ॥
श्रतिपर्व भवेद्यस्मात् शोच्यते पार्वणं तु तत् ।
गोष्ठचां यत्कियते श्राद्धं गोष्ठीश्राद्धं तदुच्यते ।
वहूनां विदुषां शाप्तौ सुखार्थं पितृतृप्तये ॥

इति । शुद्धचर्थस्य लक्षणं प्रचेतसोक्तम्— क्रियते शुद्धये यतु ब्राह्मणानां तु भोजनम् । गुद्धचर्थमिति तत्त्रोक्तं श्राद्धं पार्वणवत्कृतम् ॥

कर्माङ्गादीनां लक्षणं पारस्करेणोक्तम्—

निषेककाले सोमे च सीमन्तोन्नयने तथा ।

क्रेयं पुंसवने श्राद्धं कर्माङ्गं विधिवत्कृतम् ॥

देवानुद्दिश्य क्रियते यत्तद्देविकमुच्यते ।

तिन्नत्यश्राद्धवत्कुर्याद्वादश्यादिषु यत्नतः ॥

गच्छन् देशान्तरं यद्धि श्राद्धं कुर्यात्तु सार्पेषा ।

तद्यात्रार्थमिति मोक्तं मत्रेशे च न संशयः ॥ इति ।

अत्र कर्माङ्गवचनमकरणे कमवैगुण्यज्ञापनार्थम् । सार्पेषा सार्पः प्रधानकेनेत्यर्थः । अन्यथा केवलेन तृत्रेरशक्यत्वात् ॥

इति स्मृतिचन्द्रिकायां श्राद्धभेदाः.

अथ श्राद्धाधिकारिनिर्णयः

तत्र वृहस्पतिः---

प्रमीतस्य पितुः पुत्रैः श्राद्धं देयं प्रयत्नतः । ज्ञातिवन्धुसुहृच्छिष्यऋत्विग्भृत्यपुरोहितैः ॥ इति ॥ पुत्राभाव इति शेपः । पितुर्प्रहणं मातुरपि पदर्शनार्थम्— अत एव सुमन्तुः—

मातुः पितुः प्रकुर्वीत संस्थितस्यौरसस्सुतः ॥ इति । एतदनुपनितेनापि कार्यम् । तदाह सुमन्तुः— श्राद्धं कुर्यादवश्यं तु प्रमीतिपितृको हि यः । त्रतस्थो वाऽत्रतस्थो वा एक एव भवेद्यदि ॥

अत्रतस्थोऽनुपनीतः । अत एव दृद्धमनुः—
कुर्यादनुपनीतोपि श्राद्धमेको हि यस्मुतः ।
पितृयज्ञाहुतिं पाणौ जुहुयाह्राह्मणस्य सः ॥ इति ।

अत्र विशेषमाह व्याघ्रः—

कृतचौलस्तु कुर्वीत उदकं पिण्डमेव च । स्वधाकारं प्रयुक्जीत वेदोचारं न कार्येत् ॥

मातापित्रोरिति शेषः । स्मृत्यन्तरेऽपि— कृतचूडोऽनुपेतस्तु पित्रोक्श्राद्धं समाचरेत् । स्दाहरेत्स्वधाकारं न तु वेदाक्षराण्यसौ ॥ इति ॥

वेदाक्षराण्यपि प्रयोक्तव्यानीसाह— नं ह्यस्मिन् युज्यते कर्म किञ्चदामौज्जिवन्धनात् । नाभिव्याहारयेद्वह्म स्वधानिनयनाहते ॥ इति ।

एवश्चात्र विकल्पो द्रष्टव्यः । पुत्राभावे तु शङ्कोक्तम्— पितुः पुत्रेण कर्तव्याः पिण्डदानोदकक्रियाः । पुत्राभावे तु पत्नी स्यात् पन्नचभावे तु सोदरः॥

इति । पुत्रग्रहणेनात्र मुख्याः गौणाश्च गृह्यन्ते— विण्डदोंऽशहरश्चेषां पूर्वाभावे परःपरः ।

इति याज्ञवल्क्यस्मरणात्। अतो द्विविधपुत्राभावे 'षुत्राभावे तु पत्नी स्यात्' इति वचनार्थः। तदपि पौत्राभावविषयम्—

पौत्रोथ पुत्रिकापुत्रः स्वर्गप्राप्तिकरावुभौ । रिक्थे च पिण्डदाने च समौ तौ परिकीर्तितौ ॥

इति वृहस्पतिना गौणपुत्रसामान्याभिधानात् । न चैत्रं पिण्ड-दाने पुत्रपौत्रयोर्विकल्पस्स्यादिति शङ्कनीयम्,

पुत्रेषु विद्यमानेषु नान्यो वै कारयेत्स्वधाम्।

इति ऋ दयगृ इस्मरणात्।

नैतत्योत्रेण कर्तव्यं पुत्रवांश्चेत्पितामहः।

इति कात्यायनस्मरणात्। पुत्राभावे तु पत्नी स्यादिखेतद्यज्ञपत्न्या दायहरत्वात्तद्विषयम्। अन्यथा तु यो दायहरस्स एव
दद्यात्। अत एव विष्णवापस्तम्बौ 'यश्चार्थहरस्स पिण्डदायी,
पुत्रः पितृवित्ताभावे पिण्डं दद्यात्' इति। अत एव याज्ञवस्वयंनाऽपि—

पिण्डदोंऽशहरश्चेपां पूर्वाभावे परः परः । इति पिण्डदत्वांशहरत्वयोरैकाधिकरण्यमुक्तम् । एवं सोदरेऽपि द्रष्ट-व्यम् । एवञ्च यदुक्तं मनुना—

> भ्रतॄणामेकजातानां एकश्चेत्पुत्रवान् भवेत् । सर्वे ते तेन पुत्रेण पुत्रिणो मनुरब्रवीत् ॥ इति ॥

तत्र पुत्रग्रहणं ग्रामस्य तात इतिवत् प्रशंसार्थमित्यवगन्तव्यम् । अन्यथा 'पत्नीदुहितरः' इसाद्यसमञ्जसं स्यात् । अनेनैवाभिप्रा-येणगौतमोऽपि 'पुत्राभावेऽस्य वान्यवाः सपिण्डाः मातृसीप- ण्डाः शिष्याश्च द्युः । तद्भावे ऋत्विगाचार्यौ व्हि । मातृ-सिपण्डा मातुलाद्यः । सिपण्डाभावे समानोद्काः पिण्डं द्युः । तथाच मार्कण्डेयपुराणे—

पुत्राभावे सिपण्डास्तु तद्भावे तु सोद्काः ।

मातुस्सिपिण्डा ये वा स्युर्थे वा मातुश्च सोद्काः ॥
कुर्युरेनं विधि सम्यगपुत्रस्य सुतास्समृताः ।
कुर्यान्मातामहायैवं पुत्रिकातनयस्तथा ॥
सर्वाभावे स्त्रियः कुर्युस्स्वभर्तॄणाममन्त्रकम् ।
तद्भावे च नृपातिः कार्येत्स्वकुटुम्बिनाम् ॥
तज्जातीयैः नरैस्सम्यग्दाहाद्यास्सकलाः कियाः ।
सर्वेषामेव वर्णानां बान्धवो नृपातिर्यतः ॥

श्री विष्णुपुराणे पराशरोपि-

पुत्रः पौत्रः पपौत्रो वा तद्वद्वा भ्रातृसन्तिः।
सिपण्डसन्तिर्वाऽपि कियार्हा नृप जायते॥
तेपामभावे सर्वेषां समानोदकसन्तितः।
मातृपक्षस्य पिण्डेन सम्बद्धा ये जलेन वा॥
कुलद्वयेऽपि चोत्सन्नैस्त्रीभिः कार्याः किया नृप।
तत्सङ्घातगतैर्वाऽपि कार्याः पेतस्य वै कियाः॥
उत्सन्नवन्धुरिक्थानां कारयेदवनीपतिः। इति।

उक्तेपु पुत्रादिषु कस्य कस्मिन्कर्मण्यधिकार इत्याशङ्कच स एवाह— पूर्वाः क्रिया मध्यमाश्च तथा चैवोत्तराः क्रियाः ।
तिप्रकाराः क्रिया होतास्तासां भेदान् गृणुष्व मे ॥
आद्याहाद्द्वादशाहाच मध्ये यास्स्युः क्रिया यताः ।
ताः पूर्वा मध्यमा मासि मास्येकोदिष्टसंज्ञिकाः ॥
मेते पितृत्वमापन्ने सिपण्डीकरणादनु ।
क्रियन्ते याः क्रियाः पित्रचाः मोच्यन्ते ता नृयोत्तराः ॥
पितृमातृसपिण्डैस्तु समानसिछ्छैस्तथा ।
तत्सङ्घातगतैश्चेव राज्ञा वा धनहारिणा ॥
पूर्वाः क्रियाश्च कर्तव्याः पुत्राधैश्चोत्तराः क्रियाः ।
दौहित्रैर्वा नृपश्चेष्ठ कार्यास्तत्तनयेस्तथा ॥ इति ॥

सिषण्डाचैरवनिपत्यन्तैः पूर्वाः क्रियाः मध्यमाश्च कर्तव्याः । पुत्राचैरेव भ्रातृसन्तसन्तैदौद्धित्राचैश्चोत्तराः क्रियाः कर्तव्या न सिषण्डाचैरवनिपसन्तैरित्यर्थः । दौहित्रेषु तु भविष्यत्पुराणो-क्तो विशेषः—

यथा त्रतस्थोऽपि सुतः पितुः कुर्यात्क्रियां नृप । उदकाद्या महाबाहो दौहित्रोऽपि तथाऽईति ॥ इति ॥

ननु च पुत्राभावे तु पत्नी स्यादित्येतत्—'सर्वाभावे स्त्रियः कुर्युः स्वभर्तॄणाममन्त्रकम्' इति पुराणवचनेन विरुध्यते । मैवम्— पुत्राभावे तु पत्नी स्यादिसेतद्वाह्मादिविवाहोढादिविपयं, तस्या यज्ञान्वितत्वेन तत्रैव पत्नीशब्दप्रयोगात् । इतस्त्र तु— क्रयक्रीता तु या नारी न सा पत्नी विधीयते।
न सा देवे न सा पित्रचे दासीं तां कवयो विदुः ॥
इति पत्नीत्वाभावात स्वभर्नृणाममन्त्रकमिति पुराणवचनं ताद्वि
पयम् । यद्वा—पुत्राभावे तु पत्नी स्यादिसेतद्रह्मवादिनीवि
पयम्, तस्या अध्ययनसद्भावेन मन्त्रयोगित्वात् । पुराणवचनं त्वध्ययनविहीनसचोवध्वभित्रायमित्यनुसन्धेयम् । यदत्र युक्तं
तद्गाह्यम् । पत्नचां तु विशेषमाह वृद्धमनुः—

अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती व्रते स्थिता । पत्नी दद्यातु तत्पिण्डं कृतस्त्रमंशं लभेत च ॥

इति । शयनं पालयन्ती सुसंयतेत्यर्थः । विष्णुरापि— श्वश्रादीनां तथा पिण्डं पत्नी दद्यात्सुसंयता ।

इति । यत्तु कात्यायनेनोक्तं—

पुत्रीदशब्योऽथवा पत्नी पिता भ्राताऽथवा गुरुः। स्त्रीहारी धनहारी च कुर्युः पिण्डोदकक्रियाम्॥ इति,

यदापि वृद्धशातातपेन-

मातुलो भागिनेयस्य स्वस्तीयो मातुलस्य च । श्वशुरस्य गुरोश्चैव सख्युर्मातामहस्य च ॥ एतेषां चैव भार्याणां स्वसुर्मातुः पितुस्तथा । श्राद्धमामं तु कर्तव्यमिति वेदविदां स्थितिः ॥ इति, अत्रापि श्रीविष्णुपुराणवचनानुसारेण व्यवस्था वेदितव्या ।

यत्तु कात्यायनेनोक्तं—

अपुत्रायां पितर्द्धात्सपुत्रायां तु न क्वचित् ।
न पुत्रस्य पिता कुर्यात् नानुजस्य तथाऽग्रजः ॥
इति, तत् स्नेद्दविद्दीनिपित्रादिविषयम् । अत एव वोधायनः—
पित्रा श्राद्धं न कर्तव्यं पुत्राणां तु कथञ्चन ।
भ्रात्रा नैव च कर्तव्यं भ्रातृणां च कनीयसाम् ॥
अपि स्नेद्देन कुर्यातां सपिण्डीकरणं विना ।
गयायां तु विशेषेण ज्यायानिप समाचेरत् ॥ इति ॥
अत्र धनद्दारित्वादिनिमित्ताभावेऽपि कृतेऽभ्युद्य इत्याद्द वृद्धशातातपः—

पितुक्श्राद्धं तु कर्तव्यं सर्वेषां वर्णलिङ्गिनाम्।
एवं कुर्यान्नरस्सम्यङ्क्षहतीं श्रियमान्नयात्॥
इति। लिङ्गिन आश्रमिणः। एतच सवर्णाभिनायेण, अन्यथा दोपश्रवणात्। तथाच मरीचिः—
ब्राह्मणो ह्यसवर्णस्य यः करोत्योध्वदेदेहिकम्।
तद्वर्णत्वमसौ याति इह लोके परत्र च॥
पारस्करोऽपि—

न ब्राह्मणेन कर्तव्यं शूद्रस्य त्वौर्ध्वदैहिकम् । शूद्रेण वा ब्राह्मणस्य विना पारशवात्क्वचित् ॥

इति स्मृतिचिन्द्रकायां श्राद्धाधिकारिनिर्णयः

अथ मातामहश्राद्धाधिकारिनिर्णयः.

तत्र पुलस्तः--

मातुः पितरमारभ्य त्रयो मातामहाः स्मृताः । तेपां तु पितृवच्छ्राद्धं कुर्युर्दुहितृसूनवः ॥ पितृवच्छ्राद्धं पार्वणमिसर्थः । तच्च श्राद्धमावज्यकम् । अत एव व्यासः---

पितॄन् मातामहांश्चैव द्विजश्श्राद्धेन तर्पयेत् । अनृणश्च पितॄणां तु ब्रह्मलोकं स गच्छति ॥ पुराणेऽपि—

> कृत्वा तु पैतृकं श्राद्धं पितृप्रभृतिषु त्रिषु । कुर्यान्मातामहानां च तथैवानृण्यकारणात् ॥ .

इति । आनृण्यग्रहणं नित्यत्वज्ञापनार्थम् । अत एवाकरणे दोषः पुराणे दर्शितः—

पार्वणं कुरुते यस्तु केवलं पित्रहेतुकम् ।

मातामहां न कुरुते पितृहा स प्रजायते ॥

पितरो यत्र पूज्यन्ते तत्र मातामहा भ्रुवम् ।
अविशेषेण कर्तव्यं विशेषात्रस्कं वजेत् ॥

इति । यत्र यस्मिन् कर्मणि पितरः पूज्यन्ते तत्राविशेषेण मातामहा अपि पूज्या इत्यर्थः । अनेन सर्वस्मिन्नपि पितृ श्राद्धे मातामहश्राद्धमपि कार्यमित्युक्तं भवति । अत्र केपु चिद्दपवादमाह कात्यायनः— कर्षूसमन्वितं मुक्त्वा तदाद्यं श्राद्धपोडशम् । प्रत्याब्दिकं च शेपेपु पिण्डास्स्युष्पाडिति स्थितिः ॥

इति । कपूसमान्वतं सपिण्डीकरणश्राद्धम् । पोडशग्रहणमे-कोदिष्टोपलक्षणार्थम् । एवच यन्मातामहश्राद्धं पितृश्राद्धपु विहितं तत्रैव दोपानृण्ययोराभिधानात्तदेव सर्वदौहित्रसाधार-णम् । यः पुनर्धनहारी दौहित्रः स नवश्राद्धाद्यपि कुर्यादेव । 'यो यत आददीत स तस्मै श्राद्धं कुर्यात्' इति स्मरणात् । अनेनैवाभित्रायेण स्कन्दोपि—

श्राद्धं मातामहानां तुं अवश्यं धनहारिणा ।
दौहित्रेणार्थानिष्कृत्य कर्तव्यं विधिवत्सदा ॥
इति । यो धनहारी दौहित्रः तेनावश्यं नवश्राद्धाद्यौध्वदैहिकं कार्यमित्यर्थः । तत्रोपपत्तिमाह स एव—
मल्लेमतन्मनुष्याणां द्राविणं यत्मकीर्तितम् ।
तद्गृह्णन् मलमादत्ते दुर्भेदं ज्ञानिनामापे ॥
ऋषिभिक्तस्य निर्दिष्टा निष्कृतिः पावनी परा ।
आ देहपतनात्कुर्यात्तस्य पिण्डोदकक्रियाम् ॥

इति। ननु च---

कुर्यान्मातामहश्रादं नियमात्पुत्रिकासुतः । जभयोरिप सम्बद्धः कुर्यात्स उभयोरिप ॥

इति यमेन पुत्रिकापुत्र एव नियमग्रहणादन्यत्र नियमो न गृह्यते, मैवं-वचनार्थापारिज्ञानात् । अस्यार्थः--द्विविधो हि पुत्रिकापुत्रः, एको मातामहेन सम्बद्धः अपरः पितृमाता-महाभ्यामिति । तत्र प्रथमो मातामहश्राद्धं नियमेन कुर्यात् पितृ श्राद्धमिच्छ्या, य उभयसम्बद्धः स उभयोरपीति । अतो ना-नेन नियमोऽवगम्यते । यदपि मनुनोक्तं--

दौहित्रो हासिलं रिक्थमपुत्रस्य पितुहरेत्।
स एव दद्यात् द्वौ पिण्डौ पित्रे मातामहाय च ॥
इति, तदापि यो धनहारी दौहित्रस्स एव पितृमातामहयोनेवश्राद्धाद्यौध्वदैहिकं कुर्यात्, नेतर इत्यवंपरं न पुनारेत
रस्य श्राद्धमात्रानिषेधार्थ, पूर्वोक्तानृण्यादिप्रतिपादकवचनिरो
धात्। एवश्च यत्कैश्चिदुक्तं धनहारिपुत्रिकापुत्रयोमीतामहश्राद्धमावव्यकं नान्यस्येति, तत् पूर्वोक्तवचनादर्शननिवन्धनामेत्युपेक्षणीयम्। पुत्रिकापुत्रश्राद्धे विशेषमाह मनुः—

मातुः प्रथमतः पिण्डं निर्वपेत्पुत्रिकास्रुतः । द्वितीयं तु पितुस्तस्यास्तृतीयं तु पितुः पितुः ॥

इति । द्वचामुष्यायणे तु पुत्रिकापुत्रे उश्चनसोक्तो विशेपः— मातामहां तु मात्रादि पैतृकं पितृपूर्वकम् । मातृतः पितृतो यस्माद्धिकारोस्ति धर्मतः ॥

इति । क्षेत्रजे तु द्रचामुष्यायणे देवलोक्तं—
द्रचामुष्यायणका दद्यः द्वाभ्यां पिण्डोदके पृथक् ।
इति । द्वाभ्यां पितृमातृवर्गाभ्यामित्यर्थः । अत्र क्रमविशेषमाह
मराचिः—

सगोत्रो वाडन्यगोत्रो वा यो भवेद्विधिना सुतः । पिण्डं श्राद्धविधानं च क्षेत्रिणे प्राग्विनिवंपेत् ॥ वीजिने तु ततः पश्चात् क्षेत्री जीवित चेत्ववित् । वीजिने दद्युरादौ तु सृते पश्चात्प्रदीयते ॥ इति । क्षेत्रिण इति शेषः।

इाते स्मृतिचिन्द्रकायां मातामहश्राद्धाधिकारिनिर्णयः.

अथ जीविपतृकश्राद्धनिर्णयः.

तत्र कात्यायनः---

सिपतुः पितृकुत्येषु अधिकारो न विद्यते । न जीवन्तमितकम्य किञ्चिदद्यादिति श्रुतिः ॥ इति । पितृकृत्येषु श्राद्धेषु पितामहादिसम्बन्धेष्विसर्थः । अत्र केषुचिदपवादो मैत्रायणीयपरिशिष्टे दर्शितः—

उद्वाहे पुत्रजनने पित्रचेष्टचां सौमिके मखे। तीर्थे ब्राह्मण आयाते पडेते जीवतः पितुः॥ इति । जीवतः पितुः पुत्रस्य पडेते श्राद्धकाला इत्यर्थः। पित्रचेष्टचां चातुर्मास्चेपु, सौमिके मखे सोमयागादौ पुरोडा-शात्पिण्डदाने च। एतत्साग्रिकाभिप्रायम्। अत एव सुमन्तुः-

> न जीविपतृकः कुर्याच्छ्राद्धमग्निमृते द्विज । येभ्य एव पिता दद्यात्तेभ्यः कुर्वीत साग्निकः ॥

पितामहोऽप्येवमेव कुर्याज्जीवाति साप्तिकः। सामिकोऽपि न कुर्वीत जीवति प्रिपतामहे ॥ इति ॥ प्रितामहग्रहणं पितृपितामहोपेतप्रितामहपद्शेनाथम् । अत एव विष्णः-- 'पितारे पितामहे प्रिपतामहेच च जीवाते नैव दद्यात ' इति । पितरि पितामहे च जीवति कथं कार्यमित्यपेक्षिते स एवाह-' पितरि जीवति यः श्राद्धं कुर्यात्स येपां पिता कुर्यात्तेषां कुर्यात पितारे पितामहे च येपां पितामहः' इति। तथा पि ।दिपु त्रिषु द्वयोरेकस्य वा मरणेऽपि तेनैवोक्तं-- 'यस्य पिता मेतस्स्यात्स पित्रे पिण्डं निधाय पितामहात्परं द्वाभ्यां द्यात्। यस्य पितामहः प्रेतस्स्यात्तस्मै पिण्डं निधाय प्र-पितामहात्परं द्वाभ्यां दद्यात् । यस्य पितामहप्रपितामहौ च प्रेतौ स्यातां यस्य पिता प्रितामहश्च पेतौ स्यातां स पित्रे पिण्डं निधाय पितामहात्परं द्वाभ्यां दद्यात्' इति। भविष्यत्पुराणे पितरि जीवति द्वयोरेव श्राब्दमुक्तं—

जीवमाने न देयं स्याद्यस्माद्भरतसत्तम ।

तस्माज्जीविपता कुर्याद्वाभ्यामेव न संशयः ॥

इति । मनुस्तु त्रिपु यो जीवित तमेव श्राद्ध भोजयेदित्याहश्रियमाणे तु पितिर पूर्वेपामेव निर्वेषेत् ।

विनवद्भावितं श्राद्ध स्वकं पितरमाशयेत् ॥

पिता यस्य तु रुत्तस्स्याज्जीवेद्घाऽपि पितामहः ।

पितुस्तु नाम संकीर्त्य कीर्तयेत्प्रपितामहम् ॥

पितामही वा तच्छ्रादं भुअतित्यत्रवीन्मनुः ॥

इति । पूर्वेपां पितामहादीनाम् । निगमोऽपि—'यो जीवति पितृणां तं भोजयित्पितृस्थान इसेके, जीवतामजीवतां वा देय-मेवेति हिरण्यकेतुः' इति । एवं पिण्डीपतृयक्वेऽपि द्रष्टव्यम् । अत एव याज्ञवल्क्यः—

होमतः पितृयज्ञस्य जीवेत्पितारे जीवतः । पितरं भोजयित्वा वा पिण्डौ निर्दृणुयात्पिता ॥ उभौ यस्य व्यतीतौ तु जीवेचेत्प्रपितामहः । पिण्डौ निर्दृणुयात्पूर्वौ भोजयेत्प्रपितामहम् ॥

इति । यमस्तु होमोऽपि पाक्षिक इसाह—पित्रचं जीविपतुर्नोक्तमग्रौ होमोऽपि पाक्षिकः ।
येभ्यो वाऽपि पिता तेभ्यो दद्याद्वैतानकर्मणि ।।
दद्यात्तेभ्यः परेभ्यस्तु जीवेचेत्त्रितयं यदि ।

इति । पित्रचं पिण्डदानं, वैतानकर्माण पिण्डपित्यज्ञ इसर्थः। आपस्तम्बस्तु पितारे जीवति न पिण्डदानं नित्यमित्याह—
'यदि जीवाति पिता न दद्यादा होम। त्यक्त्वा विरमेत्'
इति । अत्र यथास्वशाखं व्यवस्था । भविष्यत्पुराणेऽपि
श्राद्धे प्रत्यक्षार्चनं निपिद्धमित्युक्तं—

प्रसक्षमर्चनं श्राद्धे न युक्तं मनुरत्रवीत्। Smriti Cha.—Vol. V. पिण्डानिर्वापणं चापि महापातकसम्मितम् ॥ इति । मनुरत्र ज्ञानवान्, मनुना तु प्रत्यक्षार्चनस्योक्तत्वात् । इति स्मृतिचन्द्रिकायां जीवपितृश्राद्धाधिकारनिर्णयः.

अय श्राद्धकालाः

तत्र याज्ञवलक्यः---अमावास्याऽष्टका दृद्धिः कृष्णपक्षोऽयनद्रयम् । द्रव्यं ब्राह्मणसम्पत्तिः विपुवत्सूर्यसङ्कमः ॥ व्यतीपातो गजच्छाया ग्रहणं चन्द्रसूर्ययोः। श्राद्धं प्रति रुचिश्रैव श्राद्धकालाः प्रकीर्तिताः॥ इति । यस्यां तिथौ सूर्याचन्द्रमसोः सन्निकर्पः साऽमावा-स्या। तस्यां तिथौ श्राद्धमावस्यकम्। तथाच लौगाक्षिः— श्राद्धं कुर्याद्वइयं तु प्रमीतिपतृकस्स्वयम् । इन्दुक्षये मासि मासि वृद्धौ त्रत्यब्दमेव च ॥ इति । इन्दुक्षयोऽमावास्या । अष्टका मार्गशीर्पादिमासचतुष्ट-यापरपक्षाष्ट्रम्यः, 'हेमन्तशिशिरयोश्चतुर्णामपरपक्षाणामष्टमीष्वष्ट-काः' इति शौनकस्मरणात् । अत्रापि श्राद्धमावश्यकं— अमावास्याव्यतीपातपौर्णमास्यष्टकासु च । विद्यान् श्राद्धमकुर्वाणः प्रायाश्चित्तीयते तु सः ॥ इति पितामहस्मरणात् । दृद्धिः पुत्रादिः । अत्रापि श्राद्धमाव-इयकम्-

रुद्धौ न तार्पता यैर्वै देवता ग्रहमेधिभिः। तहानमासुरं सर्वमासुरो विधिरेव सः॥

इति वृद्धशातातपस्मरणात् । कृष्णपक्षोपरपक्षः । अत्रापि श्राद्धं नित्यम्, 'शाकेनाप्यपरपक्षं नातिक्रामेत्' इति कात्यायनस्म-रणात् । अत्र विशेषमाह विसष्ठः—'अपरपक्ष ऊर्ध्व चतुर्ध्याः पितृभ्यो दद्यात् ' इति । ऊर्ध्व चतुर्थ्याः पञ्चमीमारभ्येत्यर्थः । गौतमोऽपि-- अथ श्राद्धममावास्यायां पितृभ्यो दद्यात्पः अमीप्रभाते वाऽपरपक्षस्य यथाश्राद्धं सर्वस्मिन्वा ' इति । अपरपक्षस्य पञ्चमीमारभ्य पितृभ्यो दद्यात् सर्वस्मिन्वाऽ-परपक्षे प्रतिपदमारभ्येत्यर्थः । कासायनोऽपि-- अपरपक्षे श्राद्धं कुर्वीतोध्वं चतुथ्यी यदहस्सम्पद्येत' इति । चतुथ्यी ऊर्ध्व यस्मिन्नहनि द्रव्यादि सम्पद्येत तस्मिन्वा कुर्या-दित्यर्थः । अनेनैकस्मिन्नहानि श्राद्धं कुर्यादित्युक्तं भवति । उक्तं च गौतमेन—'सर्वस्निया द्रव्यदेशब्राह्मणसंनिधाने वा' इति। अत्र यथासामध्ये व्यवस्था । अत एव गौतमः—'कालः नियमक्काक्तितः 'इति । अत्र सामर्थ्यतः कालनियमो भव-तीत्यर्थः। यदैकस्मिन् अहनि तदा पृथगेव अमावास्याः श्राद्धं कार्यम् । 'अमावास्याऽष्टका दृद्धिः कृष्णपक्षः' इति पृथगुपादानात् 'अपरपक्षे यदहस्सम्पद्येत अमावास्यायां विशेषेण ' इति नियमस्मरणात्, तथा-

न निर्वपात यक्त्राइं प्रमीतिपतृको दिजः।

इन्दुक्षये मासि मासि प्रायाश्चित्तीयते तु सः ॥
इति व्याघ्रेणाकरणे प्रायश्चित्तियानाच । तथा 'यथा
कथित्रित्यानि कुर्यादिन्दुक्षयादिपु' इति हारीतेन नित्यः
त्वाभिधानात् । अतो यत्कैश्चिदुक्तं—'अमावास्याश्चाद्धमापरपित्तकश्चाद्धेन विकल्प्यते' इति, तदपास्तम् । अपरपक्षे
पुनरापस्तम्बोक्तो विशेषः । 'मासिमासि कार्यमपरपक्षस्थापराकः श्चेयांस्तथाऽपरपक्षस्य जघन्यान्यहानि' इति । जघन्यानि दशम्यादीनि । अत एव मनुः—

कृष्णपक्षे दशम्यादौ वर्जियत्वा चतुर्दशीम् । श्राद्धे प्रशम्तास्तिथयो यथैता न तथेतराः॥

इति । दशम्यादितिथिषु चतुर्दशीं वर्जियत्वेत्यर्थः । चतुर्दशी तु शस्त्रहनानामेव । यथाऽऽह याज्ञवल्क्यः—

> प्रतिपत्मभृति ख्याता वर्जीयत्वा चतुर्दशीम् । शस्त्रण तु हता ये वै तेभ्यस्तत्र प्रदीयते ॥

इति । शस्त्रग्रहणं विषादेरापि प्रदर्शनार्थम् । अत एव म-राीचिः—

विषशस्त्रश्वापदाहितिर्यग्त्राह्मणघातिनाम् । चतुर्देश्यां क्रिया कार्या अन्येषां तु विगर्हिता ॥ प्रचेता अपि—

> वृक्षारोहणलोहायैः विद्युज्जलविपादिभिः। निखदंष्ट्रिविपन्नानां तेषां शक्ता चतुर्दशी ॥

इति । अत्र विशेषमाह गर्गः—
चतुर्दश्यां तु यच्छ्राद्धं सपिण्डीकरणात्परम् ।

एकोदिष्टविधानेन तत्कार्यं शस्त्रघातिने ॥

इति । शस्त्रघातिने यदाऽऽपरपक्षिकश्राद्धं चतुर्दश्यां कियते तदैकोदिष्टविधानेन नान्यथेत्यर्थः । अत एव सुमन्तुः—

एकपिण्डीकृतानां तु पृथक्तवं नोपपद्यते । सपिण्डीकरणाद्ध्वं ऋते कृष्णचतुर्दशीम् ॥

इति । यतु मार्कण्डेयपुराणे—
प्रतिपद्धनलाभाय द्वितीया द्विपदमदा ।
परार्थिनां तृतीया तु चतुर्थी शत्रुनाशिनी ॥
पश्चम्यां श्रियमाप्त्रोति पष्टचां पूज्यो भवेन्नरः ।
गाणाधिपसं सप्तम्यामप्टम्यामुद्धिमुत्तमाम् ॥
श्रियो नवम्यामाप्त्रोति दशम्यां पूर्णकामताम् ।
वेदांस्तथाऽऽमुयात्सर्जानेकादश्यां कियापरः ॥
द्वादश्यां जयलाभं च पाप्तोति पितृपूजकः ।
प्रजामिष्टां पश्चन् मेध्यान् स्वातन्त्रचं बुद्धिमृत्तमाम् ॥
दीर्घमायुस्तथैश्वर्यं कुर्वाणस्तु त्रयोदशीम् ।
अवाप्त्रोति न सन्देहः श्राद्धं श्राद्धपरी नरः ॥
युवानः पितरो यस्य मृताश्शस्त्रेण वा हताः ।
तेन कार्यं चतुर्दश्यां तेषां सिद्धिमभीएसता ॥

श्राद्धं कुर्वन्नमावास्यां यत्रेन पुरुषव्धिः। सर्वान्कामानवाम्नोति स्वर्गे चानन्तमञ्जूते ॥

इति, तत् निसत्विनराकरणार्थं न, किंतु कालविशेपात्फल-विशेषो भवतीत्येवंपरम्, अत एवापस्तम्बः—'सर्वेष्वेवा-परपक्षस्याहस्सु कियमाणे पितृन् प्रीणाति कर्तुस्तु कालिन-यमात्फलविशेषः' इति । प्रकृतमुच्यते—अयनद्वयं मकरक-र्कटकसंकान्ती । अत्रापि श्राद्धं नित्यम् । अत एव विष्णु-पुराणे पराशरः—

> उपद्भवे चन्द्रमसो रवेश्च त्रिष्वष्टकास्वप्ययनद्वये च। पानीयमप्यत्र तिलैविमिश्रं दद्यात्पित्भ्यः प्रयतो मनुष्यः॥ श्राद्धं कृतं तेन समास्सहस्रं रहस्यमेतित्पतरो वदन्ति॥

अत्र पानीयमप्यत्रेति वचनादयनश्राद्धं नित्यमिति गम्यते । जातूकण्योपि---

ग्रहोपरागे विषुवे च जाते पित्रचे मघायामयनद्वये च।

निसं च शह्वे च तथैव पद्मे दत्तं भवेनिष्कसहस्रतुल्यम् ॥

इति । अत्र नित्यं दत्तं निष्कसहस्रतुल्यमित्यन्वयः । पित्रचे

नभस्यापरपक्षे या मघा तस्चामित्यर्थः । शङ्कादिस्वरूपमि तेनैवोक्तं—

शक्वं पाहुरमावास्यां क्षीणसोमां द्विजोत्तमाः । अष्टकासु भवेत्पद्मं तत्र दत्तं यथाऽक्षयम् ॥ इति। अथवा पद्मं शङ्कोक्तं--

यथा विष्टिर्न्यतीपातो भानुवारस्तथैव च । पद्मकं नाम तत्रोक्तमयनाच चतुर्गुणम् ॥

इति । यत्तु विष्णुनोक्तं—'आदिससङ्क्रमो विषुवद्वयं व्यती-पातो जन्मर्क्षमभ्युदयश्च,

एतांश्च श्राद्धकालान्वे काम्यानाह प्रजापतिः। श्राद्धमेतेषु यहत्तं तदानन्त्याय कल्पते॥

इति, तद्दिप न नित्यत्विनराकरणार्थम् । वचनद्वयेनाग्निहोत्रा-दिविन्नत्यत्वकाम्यत्वयोरिवरोधात् । द्रव्यं ब्राह्मणसम्पितिरिति, द्रव्यस्य श्राद्धाईस्य ब्राह्मणस्य वा वक्ष्यमाणस्य सम्पिति-र्छाभो यस्मिन् काले सः श्राद्धकाल इसर्थः । अत्रापि श्रा द्रमावश्यकम् । यथाऽऽह हारीतः—

तीर्थे द्रव्योपपत्तौ तु न कालमवधारयेत् । पात्रं च ब्राह्मणं प्राप्य सम्यक्छाद्धं विधीयते ॥ इति । तीर्थे गङ्गादि । विषुवत् मेषे तुलायां च सूर्यसङ्क्रमः । अत्र पुलस्त्योक्तो विशेषः—

अयनद्वितये श्राद्धं विपुविद्यतये तथा । युगादिषु च सर्वास्तु पिण्डिनिर्वापणादते ॥ इति । सूर्यसङ्कपः सूर्यस्य राशितो राश्यन्तरगमनम् । सूर्य-सङ्कम इत्यनेनैव सङ्कान्तिमात्रसिद्धौ अयने विषुवे चेति पृथग्वचनं फलभूयस्त्वार्थम् । अत एव शङ्कः— हस्तिच्छायासु यद्दत्तं यद्दत्तं राहुदर्शने । विपुवत्ययने चैव सर्वमानन्यमञ्जुते ॥

इति । व्यतीपातो योगिविशेषः वृद्धमनुनोक्तः— श्रवणाश्विधनिष्ठार्द्यानागदैवतमस्तकैः । यद्यमा रविवारेण व्यतीपातस्स उच्यते ॥

इति । यद्यमावास्या रिववारेण श्रवणादिना च युक्ता स व्यतीपात इसर्थः । नागदैवतमाश्लेपानक्षत्रम् । मस्तकं मृग-शिराः । तत्रापि श्राद्धं नित्यम् ।

> अमावास्यान्यतीपातपौर्णमास्यष्टकासु च । विद्वान् श्राद्धमकुर्वाणः प्रायाश्चित्तीयते तु सः ॥

इति पितामहस्मरणात् । गजच्छाया हस्तिच्छाया, तस्यां श्राद्धं दद्यात् । तथा काठकश्रुतिः—'एतद्धि देविपतृणामयनं यद्ध-स्तिच्छायायां श्राद्धं दद्यात्' इति । महाभारतेऽपि—

ं आजेन सर्वेहोहेन वर्षाम्च नियतत्रतः । हस्तिच्छायाम्च विधिवत्कर्णव्यजनवीजितम् ॥

इति । श्रादं दद्यादिति शेपः । कर्णव्यजनवीजितिमत्यनेनैत-द्धस्तिच्छायाविषयीमत्यवगम्यते । मनुरपि---

> अपि नस्स कुले भूयाद्यो नो दद्यात्त्रयोदशीम्। पायसं मधुसार्पभ्यी पाक्छाये कुझरस्य च ॥

इति । पाची छाया यस्य देशस्य स पाक्छायः, तस्मि नित्यर्थः । अथवा पारिभाषिकी गजच्छाया । सा च स्पट-त्यन्तरे दार्शता—

यदेन्दुः पितृदैवत्ये हंसश्चिव करे स्थितः ।
तिथिर्वैश्रवणी या च गजच्छायेति सा स्मृता ॥
इति । पितृदैवसे मखायाम् । हंसः सूर्यः । करो हस्तनक्षत्रम् ।
वैश्रवणी त्रयोदशी । पुराणेऽपि—

हंसे हस्तास्थिते या तु मखायुक्ता त्रयोदशी।
तिथिवैश्रवणी नाम सा छाया कुझरस्य तु॥
हंसे करस्थिते या तु अमावास्या कराान्विता।
सा छाया कुझरच्छाया इति वोधायनोऽत्रवीत्॥
वनस्पतिगते सोमे या छाया प्राङ्मुखी भवेत्,।
गजच्छाया तु सा पोक्ता तस्यां श्राद्धं प्रकल्पयेत्॥

इति । अमावास्यायां अपराह्ण इसर्थः— सैंहिकेयो यदा सूर्य ग्रसते पर्वसन्धिषु । गजच्छाया तु सा शोक्ता तस्यां श्राद्धं त्रकलपयेत् ॥

श्रीविष्णुधर्मोत्तरेऽपि— गयायां दर्शने राहोः खड्डमांसेन योगिनम् । Smriti Cha.—Vol. V भोजयेच कुलेऽस्माकं छायायां कुझरस्य च ॥ आकल्पिकी तु सा तृप्तिस्तेनास्माकं भविष्यति । दाता सर्वेषु लोकेषु कामचारी भविष्यति ॥ यदैतत्पञ्चकं न स्यादेकेनापि वयं सदा । तृप्ति प्राप्स्याम चानन्तां किंपुनस्सर्वसम्पदा ॥

इति । तथा भोकतुरिष दोषः स्मृत्यन्तरे दर्शितः—
कृष्णाजिनमतिग्राही विक्रयी वा भवेतु यः ।

गजच्छायाश्रितो भुक्त्वा न भूयः पुरूषो भवेत् ॥

ग्रहणं चन्द्रसूर्ययोरिति—ग्रहणमुपरागः । अत्रापि श्राद्धं नि

त्यम्। अत एव शातातपः---

सर्वस्वेनापि कर्तव्यं श्राद्धं वै राहुदर्शने । अकुर्वाणस्तु तच्छ्राद्धं पक्के गौरिव सीदित ॥

तथाऽत्र फलविशेषो विष्णुना दक्षितः— राहुदर्शनदत्तं हि श्राद्धमाचन्द्रतारकम् । गुणवत्सर्वकामीयं पितॄणामुपतिष्ठति ॥

इति । ऋष्यशृङ्गोऽपि---राहुग्रस्ते तु वै सूर्ये यस्तु श्राद्धं प्रकल्पयेत् । तेन वै सकला पृथ्वी दत्ता वित्रस्य वै करे ॥

इति । अत्र काल्लियममाह दृद्धवसिष्ठः— त्रिदशास्स्पर्शसमये तृष्यन्ति पितरस्तथा । मनुष्या मध्यकाले तु मोक्षकाले तु राक्षसाः ॥ इति । यतु मार्कण्डेयपुराणे—
विशिष्टव्राह्मणमाप्तौ सूर्येन्दुग्रहणेऽयने ।
विषुवे रिवसङ्कान्तौ व्यतीपाते च पुत्रके ॥
श्राद्धाहेद्रव्यसंत्राप्तौ तथा दुस्स्वप्तदर्शने ।
जन्मक्षेग्रहपीडासु श्राद्धं कुर्वीत चेच्छया ॥
इति, इच्छा कामः, तदापि श्राद्धं कुर्वीतेत्येवं परम्, न पुनः
काम्यमेवेति वक्तुम् । अत एव कूर्मपुराणे—
नैमित्तिकं तु कर्तव्यं ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः ।

इति । श्राद्धं प्रति रुचिरिति—रुचिरिच्छा श्राद्धं प्रति यदा तदैव तत्कार्यमित्यर्थः । चकारोऽन्येषामपि श्राद्धकालानां प्रदर्शनार्थः । अत एव यमः—

वान्धवानां च मरणे नरकी स्यात्ततोऽन्यथा ॥

काम्यानि चैव श्राद्धानि शस्यन्ते ग्रहणादिषु ।

आषाढ्यामिप कार्तिक्यां माध्यां त्रीन्पञ्च वा द्विजान् । तर्पयेत्पितृपूर्वे तु तस्याष्यक्षय्यमुच्यते ॥

देवलोपि-

तृतीया रोहिणीयुक्ता वैशाखस्य सिता तु या । मघाभिस्सिहिता कृष्णा नभस्ये तु त्रयोदशी ॥ तथा शतभिषश्युक्ता कार्तिके नवमी तथा । इन्दुक्षयगजच्छायावैधृतीपु युगादिषु ॥ एते कालास्समुदिष्टाः पितृणां प्रीतिवर्धनाः । इति । युगादयस्तु मत्स्यपुराणे दर्शिताः— वैशाखस्य तृतीया तु नवमी कार्तिकस्य तु । माघे पञ्चदशी चैव नभस्ये च त्रयोदशी॥ युगादयस्समृता होता दत्तस्याक्षयकारकाः॥

इति । विष्णुपुराणेऽपि-

वैशाखमासस्य सिता तृतीया नवम्यसौ कार्तिकश्क्षपक्षे।
नभस्यमासस्य च कृष्णपक्षे त्रयोदशी पञ्चदशी च माघे॥
पानीयमप्यत्र तिलैर्विमिश्रं दद्यात्पितृभ्यः प्रयतो मनुष्यः।
श्राद्धं कृतं तेन समास्सहस्रं रहस्यमेतित्पतरो वदन्ति॥

अत्र शुक्कपक्षे तृतीया, पञ्चद्शी कृष्णपक्षे इत्यन्वयः । अत एव नारदीयपुराणम्—

दे शुक्ते दे च कृष्ण तु युगाद्याः कवयो विदुः ।

इति । ब्रह्मपुराण तु माघस्य पौर्णमासी युगादिरित्युक्तं—

वैशाखशुक्रपक्षस्य तृतीयायां कतं युगम् ।

कार्तिके शुक्रपक्षे च त्रेता च नवमेऽहिन ॥

अथ भाद्रपदे कृष्णे त्रयोदश्यां तु द्वापरम् ।

माघे च पौर्णमास्यां तु घोरं किलयुगं तथा ॥

युगारम्भास्तु तिथयो युगाद्यास्तेन विश्रुताः ।

सूर्यस्य सिंहसंकान्त्यामन्तं कृतयुगस्य तु ॥

अथ दृश्चिकसंकान्त्यामन्तं त्रेतायुगस्य तु ।

श्रेया वृपभसंकान्त्यामन्तं व्रत्युगस्य तु ।

श्रेया वृपभसंकान्त्यामन्तं व्रत्युगस्य तु ।

तथाच कुम्भसंकान्त्यामन्तः कछियुगे स्मृतः । युगादिषु युगान्तेषु श्राद्धमक्षय्यमुच्यते ॥

इति । पुराणेऽपि —

वैशाखस्य तृतीया या नवमी कार्तिकस्य तु। पौर्णमासी तु माघस्य नभस्ये च त्रयोदशी। युगादयस्समृता होता दत्तस्याक्षयकारकाः। तथा मन्वन्तरादौ च देयं श्राद्धं विजानता।

इति । अत्र कल्पभेदेन व्यवस्थेति केचित् । अत्र पुल स्योक्तो विशेषः—

अयनद्रितये श्राद्धं विषुवद्वितये तथा । युगादिषु च सर्वेषु पिण्डनिर्वापणादते ॥ मन्वन्तरादयस्तु मत्स्यपुराणे दर्शिताः—

अश्वयुक्छुक्तनवमी कार्तिके द्वादशी सिता।
तृतीया चैत्रमासस्य तथा भाद्रपदस्य च।
फाल्गुनस्य त्वमावास्या पुष्यस्यैकादशी सिता।।
आपाढस्यापि दशमी माघमासस्य सप्तमी।
शावणस्याष्टमी कृष्णा तथाऽऽपाढी च पूर्णमा॥
कार्तिकी फाल्गुनी चैत्रे ज्येष्ठे पश्चदशी सिता।
मन्वन्तराद्यस्त्वेते दत्तस्याक्षय्यकारकाः॥

इति स्मृतिचिन्द्रिकायां श्राद्धकालाः

अथ अमावास्याद्वैधनिर्णयः.

अत्र गीतमः--

'अथ श्राद्धममावास्यायां पितृभ्यो दद्यात्' इति । अमावास्या रुष्णपक्षस्य पञ्चद्शी तिथिः । तस्यां श्राद्धं कार्यमिसर्थः । तत्र काल्यायनोक्तो विशेषः—

> पिण्डान्वहार्यकं श्राद्धं क्षीणे राजिन शस्यते । वासरस्य तृतीयेंऽशे नातिसन्ध्यासमीपतः ॥

इति । पिण्डपितृयज्ञाङ्गभूतातां पिण्डानामनु पश्चादाहियते कियत इति पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धममावास्यायां क्षीणे राज्जिन इन्दौ कर्तव्यमित्यर्थः । सोपीन्दुक्षयः कदा भवतीत्यपिक्षेते स एवाह—

अप्टमांशे चतुर्देश्याः क्षीणो भवति चन्द्रमाः । अमावास्याप्टमांशे च पुनः किल भवेदणुः ॥

इति । एवंच तिथिद्वैधे सिनीवाल्यामेव श्राद्धं कार्यमित्युक्तं भवति । उक्तं च व्यासेन—

> दृश्चन्द्रा सिनीवाली नष्टचन्द्रा कुहूमेता। सिनीवाली यदा पित्रचे कुहूँदैवे तु कर्मणि॥

हारीतोपि-

यस्यां सन्ध्यागतस्सोमो मृणालमिव दृश्यते । अपराह्ने क्षयस्तस्यां पिण्डानां करणं धुवम् ॥ इति । यस्यां तिथौ शर्वर्यां पूर्वस्यां दिशि सन्ध्यागतस्तोमः सूक्ष्म इव दृश्यते तस्यामपराह्ने चन्द्रश्लय इति तंत्रेव श्रा-दं कार्यमित्यर्थः । एतच कर्मकाळच्यापिन्यां सिनीवाल्यां द्र-एव्यं, अन्यथा दोषश्रवणात्, तथाच वोधायनः—

मध्याह्वात्परतो यत्र चतुर्दश्यनुवर्तते ।
सिनीवाली तु सा ज्ञेया पितृकार्ये तु निष्फला ॥
इति । उक्तलक्षणा सिनीवाली पितृकार्ये निष्फलेति ज्ञेयेत्यर्थः । बृहस्पतिरापि—

मध्याह्वाद्या त्वमावास्या परस्तात्संप्रवर्तते ।
भूतविद्धा तु सा क्षेया न सा पञ्चदक्षी भवेत् ॥
मध्याह्वात्परस्तात् कर्मकालमातिक्रम्येत्यर्थः । अनेनैवाभिप्रायेण
कार्ष्णाजिनिरपि—

भूतविद्धाममावास्यां मोहादज्ञानतोपि वा । श्राद्धकर्मणि ये कुर्युस्तेषामायुः प्रहीयते ॥ इति । अतः कर्मकालव्यापिन्येव सिनीवाली ग्राह्मेत्यर्थः । अत एव वृद्धमनुः—

यस्यामस्तं रिवर्याति पितरस्ताम्चपासते ।
तिथि तेभ्यो यतो दत्तो ह्यपराह्यस्वयंभुवा ॥
इति । यदा त्वेवंविधा सिनीवाली न लभ्यते तदा कर्मकालज्यापिनी कुहूरेव ग्राह्येत्याह हारीतः—

अपराह्नः पितॄणां तु याऽपराह्वानुयायिनी ।
सा ग्राह्या पितृकार्येषु न पूर्वाऽस्तानुयायिनी ॥
या कुहूरपराह्वानुयायिनी सैव ग्राह्या, न पुनरेवंविधा सिनी ।
वालीत्यर्थः । एवञ्च तिथिद्वेधे या कर्मकालव्यापिनी सैव
ग्राह्येत्युक्तं भवति । उक्तं च तेनैव—

भूतविद्धाऽष्यमावास्या प्रतिपिनमिश्रिताऽपि वा।
पित्रचे कर्मणि विद्धद्भिः ग्राह्या कुतुपकालिका ॥
भूतविद्धा चतुर्दशीविद्धा। स्मृत्यन्तरेऽपि—
मध्याह्मच्यापिनी या तु तिथिः पूर्वा पराऽपि वा।
तदहः कर्म कुर्वीत हासम्रद्धी न कारणम् ॥
इति। यदा तु तिथिद्धयेऽपि कर्मकालच्यापिनी न भवति तदा
भूतविद्धैव परिग्राह्यत्याह वोधायनः—

घटिकैकाऽप्यमावास्या प्रतिपत्सु न चेत्तथा।
भूताविद्धाऽपि कर्तव्या देवे पित्रये च कर्मणि॥
इति। प्रतिपत्सु घटिकैका कर्मकालसंविन्धनी यदि न स्यादिसर्थः। अत एव जावालिः—

प्रतिपत्स्वष्यमावास्या पूर्वोह्नव्यापिनी यदि । भूताविद्धाऽपि सा कार्या पित्रचे कर्मणि सर्वदा॥

इति । एवश्च यदुक्तं हारीतेन-पूर्वाक्षे चेदमावास्या अपराक्षे न चेतु सा ।
प्रतिपद्यपि कर्तव्यं श्राद्धं श्राद्धविदो विदुः ॥

इति, तत् यत्र पूर्वेद्यश्चन्द्रदर्शनासम्भवेन पिण्डापितृयज्ञोत्कर्षः, तत्र प्रतिपदि पिण्डापितृयज्ञविधानार्थं, अन्यथा पूर्वोक्तदच-नविरोधात्। यदापे तेनैवोक्तं—

> तुल्लामकरमीनेषु कन्यायां मिथुने तथा । भूतविद्धाऽप्यमावास्या पूज्या भवति यव्रतः ॥

इति, एतत् व्रतोपवासादिविषयमिति कैश्चिद्वचाख्यातम्। यदा तु तिथिद्वयेऽपि कर्मकाल्यापिनी तदा भचेतसोक्तं-

> सिनीवाली कुहूश्चैव श्रुत्युक्ते श्राद्धकर्मणि । स्यातां चेत्ते तु मध्याहे श्राद्धं दद्यात्कथं तदा ॥ तिथिक्षये सिनीवाली तिथिद्यद्धौ कुहूस्तथा । साम्येऽपि च कुहूईया वेदवेदाङ्गवेदिभिः ॥

साम्ये क्षयवृद्धचभावे । एवमविशेषेण सर्वेपामपि क्षये सिनी-वाल्यामेव श्राद्धपाप्तौ विशेपार्थमाह लौगाक्षिः—

> सिनीवाली दिजैः कार्या साम्निकैः पितृकर्मणि । स्त्रीभिक्त्यूद्रैः कुद्दः कार्या तथाचानाम्निकैर्द्धिजैः॥

इति । एवञ्च क्षये साग्निकैः सिनीवाल्यां श्राद्धं कार्यम् । वृद्धौ तु सर्वेरेव परेद्युः कार्यमित्यनुसन्धेयम् । नन्वेवमिप न क्षयमात्रे साग्निकैस्सिनीवाली ग्राह्या । यत्र क्षये सिनीवाल्यां पिण्डपितृयज्ञः तत्रैव । अन्यथा—

पितृयज्ञं तु निर्वर्त्य विषश्चन्द्रक्षयेऽग्निमान् । पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं कुर्यान्मासानुमासिकम् ॥ Smriti Cha.—Vol. V, इति मनुना सामिकैः कृते पिण्डपितृयज्ञे श्राद्धविधानाध-टनात्। अतो यत्र क्षये कुढां पिण्डपित्यज्ञस्तत्र साग्निकैः रिप सेव ग्राह्याति । मैवं, दिनद्वयेऽपि मध्याह्वच्यापित्वे क्षये सिनीवाल्यामेव चन्द्रदर्शनसम्भवेन कदाचिद्पि पिण्डपितु-यज्ञापाप्तेः 'यद्हश्चन्द्रमसं न पश्यन्ति तद्हः पिण्डपितृयज्ञं कुर्वीत ' इत्यापस्तम्वेन चन्द्रादर्शन एव पिण्डिपतृयज्ञविधा-नात्। चन्द्रादरीनं च यत्र चतुर्दशी मुह्तत्रयादवीगेव स-माप्यते तत्रैवेति ज्योतिक्शास्त्रे मसिद्धम्। अतो यत्र श्राद्ध-दिने चन्द्रादर्शने च पिण्डपितृयज्ञमाप्तिः तत्राग्निमान् कृत्वैव पितृयज्ञं श्राद्धं कुर्यादिति मनुना नियम्यते, न पुनस्सर्वत्र कृतपिण्डपित्यज्ञस्यैव अग्निमतः श्राद्धाधिकार इति पितृयज्ञ-शब्दस्य पिण्डपितृयज्ञपरत्वमङ्गीकृत्योक्तम् । परमार्थतस्तु-पितृ-यज्ञशब्दः तर्पणाख्यपितृयज्ञपर एव । तदुक्तं मत्स्यपुराणे-

पितृयज्ञं तु निर्वर्त्य तर्पणाख्यं तु योऽग्निमान् ।
पिण्डान्वाहार्यकं कुर्याच्छ्राद्धिमन्दुक्षये सदा ॥ इति ॥
इति स्मृतिचन्द्रिकायाममावास्याद्वैधनिर्णयः

अथान्यान्यप्यमावास्याविषयाणि कानिचिद्रचनानि लिख्यन्ते. तत्र व्यासः—

> अमा वै सोमवारेण रविवारेण सप्तमी। चतुर्थी भौमवारेण विपुवत्सदृशं फलम्॥

अमा अमावास्या । शङ्कोऽपि—
अमावास्या तु सोमेन सप्तमी भानुना सह ।
चतुर्थी भूमिपुत्रेण सोमपुत्रेण चाष्टमी ॥
चतस्रस्तिथयस्त्वेताः तुल्यास्स्युर्ग्रहणादिभिः ।
सर्वमक्षयमत्रोक्तं स्नानदानजपादिकम् ॥

भूमिपुत्रो मङ्गळः। सोमपुत्रो बुधः। श्रीविष्णुपुराणेऽपि— अमावास्या यदा मैत्रविद्याखास्वातियोगिनी। श्राद्धे पितृगणस्तृप्तिमवाम्रोत्यष्टवार्षिकीम्॥ मैत्रमनूराधा।

अमावास्या यदा पुष्ये रौद्र ऋक्षे पुनर्वसौ । हादशाब्दं तदा तृप्तिं प्रयान्ति पितरोऽर्चिताः ॥ रौद्रमार्द्रो ।

वासवाजैकपादक्षे पितॄणां तृप्तिमिच्छताम् । वारुणेनाप्यमावास्या देवानामपि दुर्छभा ॥ वासवं वस्रुदैवत्यं धनिष्ठानक्षत्रम् । अजैकपाद्दक्षं पूर्वभाद्र-नक्षत्रम् । वारुणं शतभिपङ्कक्षत्रम् ।

माघासिते पश्चदशी कदाचिदुपैति योगं यदि वारुणेन। ऋक्षेण कालस्स परः पितॄणां न ह्यलपुण्यैरुपलभ्यतेऽसौ॥ काले धनिष्ठा यदि नाम तस्मिन् भवेतु भूपाल तदा पितृभ्यः।

दत्तं जलान्नं प्रददाति तृप्तिं वर्षायुतं तत्कुलजैर्मनुष्यैः॥

नस्मिन् काले माघासितपश्चद्रयामित्यर्थः।

तत्रैव चेद्राद्रपदास्तु पूर्वाः काले तदा यत्क्रियते पितृभ्यः। श्राद्धं परां तृप्तिमुपेस तेन युगान् सहस्रं पितरस्त्वपन्ति ॥
तत्रैव तस्यामेव पश्चद्रयामिसर्थः॥

इति स्मृतिचिनद्रकायाममावास्याविपयाणि.

अथ प्रसङ्गात्पर्वापि निर्णीयते.

तत्र गोभिङः—'यः परमो वित्रकर्षस्सूर्याचन्द्रमसोस्सा पौर्ण-मासी, यः परमस्सन्निकर्पस्साऽमावास्या' इति । ते च द्विविधे तथाच पुराणम्—

राका चानुमितश्चेव पौर्णमासी द्विधा स्मृता । सिनीवाठी कुहुश्चेव अमावास्या द्विधेव तु ॥

इति । अत्रानुमितिस्सिनीवाली च चतुर्दशीमिश्रा, राका कु-ह्श्र प्रतिपिन्मिश्रे । तथाच श्रुतिः—'या पूर्वा पौर्णमासी साऽनुमितः, योत्तरा सा राका, या पूर्वाऽमावास्या सा सि-नीवाली, योत्तरा सा कुहूः' इति । अत्र व्यवस्थया कर्म-निर्णयमाह गोभिलः—'पक्षान्ता उपवस्तव्याः पक्षादयोऽभि-यष्ट्वयाः' इति । पक्षान्ताः पश्चद्दश्य उपवस्तव्यास्तास्व-न्वाधानादि कार्यम् । पक्षाद्यः प्रतिपदः, ता अभियष्ट्व्याः । तासु हस्तावनेजनाद्यभीज्या कार्येद्यर्थः । अत्र लौगाक्षिणोक्तो विशेषः— त्रीनंशानौपवस्तस्य यागस्य चतुरो विदुः ।
द्वावंशावुतस्रजेदन्त्यौ यागे च त्रतकर्मणि ॥
अन्त्यः पादः पञ्चद्श्या औपवस्तेऽन्वाधानादौ परिहर्तव्यः,
पक्षादेश्चान्त्यः पादः यागे परिहरणीय इत्यर्थः । कथं तर्हि
यागे चतुर इत्यपेक्षिते यज्ञपार्श्वः—

पञ्चदश्याः परः पादः पक्षादेः प्रथमास्त्रयः।
काल्रः पार्वणयागे स्यादन्यथा तु न विद्यते॥
दृद्धशातातपोपि —

पर्वणो यश्चतुर्थीऽशः आद्याः प्रतिपद्स्त्रयः ।
यागकालस्म विज्ञेयः प्रातरुक्तो मनीपिभिः ॥
इति । अनेन प्रतिपचतुर्थाशे न यष्ट्रव्यामित्युक्तं भवति ।
उक्तं च कासायनेन—

न यष्ट्चं चतुर्थीशे यागैः प्रतिपदः क्वचित् ।

रक्षांसि तद्विलुम्पन्ति श्रुतिरेषा सनातनी ॥

इति । यत्तु श्रुतौ 'सन्धौ यजेत' इति, तत्र सन्धेरितसूक्ष्मत्वात्तत्र यागानुपपत्तेः तत्सभीपकाललक्षणायां प्रस्तुतायामाविशेषात्सन्धिशब्दस्मिनिहितपर्वप्रतिपदात्मककालद्वयपर इत्यविरोधः । अत एव श्रुत्यन्तरं—'सन्धिमाभेतो यजेत' इति ।
पर्वप्रतिपदोस्सिन्धिमभित उभयतो यजेतेत्यर्थः । अतो यत्र
पर्वचतुर्थीशे यागस्तत्रादिप्रतिपद्येव यागसमाप्तिः, अन्यथा
'सन्धिमभितः' इति श्रुतिविरोधात । उक्तं च गर्गेण-—

प्रतिपद्यप्रविष्टायां यदा त्विष्टिस्समाप्यते ।
पुनः प्रणीय कुत्स्त्रेष्टिः कर्तव्या यागवित्तमैः ॥
इति । प्रतिपद्योगे तु सन्धेः पूर्वमग्रचन्वाधानादित्यविरोधः ।
सन्धिपरिज्ञाने तु स्मृत्यन्तरे विशेषो दर्शितः—

तिथेः परस्या घटिकास्तु यास्स्यः न्यूनास्तथा चाभ्यधिकास्तु तासाम् । अर्धे वियोज्यं च तथा प्रयोज्यं हासे च दृद्धौ प्रथमे दिने तत्॥

इति । परस्यास्तिथेः प्रतिपदो या घटिकाः पूर्वस्यास्तिथेस्स्यः न्यूना अधिका वा तासामर्थे पूर्वस्मिन् दिने ह्नासे वियोज्यं वृद्धौ तु संयोज्यमित्यर्थः । अनेन राकाकुह्वोरुत्तरेऽहिन च यत्पर्वप्रतिपदोः घटिकावृन्दं तदहर्भरितं तदेकीकृत्य हेथा । विभज्य सिन्धपरिज्ञानं कार्यमित्युक्तं भवति । एवश्च यस्मिन्न्नहिन पर्वसन्धिस्तास्मिन्नुत्तरेद्युर्वा प्रातः पर्वचतुर्थोशादिविहिन्तसान्धिसम्भवः तत्रैव यागो नान्यत्रेत्यनुसन्धेयम् । अत एव छोगाक्षिः—

पूर्वाह्ने वाऽथ मध्याह्ने यदि पर्व समाप्यते ।
उपोष्य तत्र पूर्वेद्यः तदहर्याग इष्यते ॥
अपराह्नेऽथवा रात्रौ यदि पर्व समाप्यते ।
उपोष्य तस्मित्नहानि श्वोभूते याग इप्यते ॥ इति ॥
तत्रैव विहितकालसम्भवादिति भावः । गृह्यकारिकाऽपि—

पश्चद्शी प्रतिपच समेते एकदिने महती यदि तास्मन्। पश्चदशी प्रकृतेरुपवासः पश्चदशीह तनुर्यदि यागः॥ इति । समेते सम्बद्धे इत्यर्थः । अनेनैवाभित्रायेणापस्तः म्बोऽपि—'यदहः पुरस्ताचन्द्रमाः पूर्ण उत्सर्पत्तां पौर्णमा-सीमुपवसेत् । श्वः पूरितेति वा । खर्विकां तृतीयां वाजसनेयिन-स्समामनान्ति । यदहर्न दृश्यते तदहरमावास्या । श्वी नद्रष्टार इति वा' इति । तत्र खर्विकासूत्रस्यार्थ उपरिष्टाद्भविष्यति । यदहः पुरस्ताचन्द्रमाः पूर्ण उत्सर्पेत् यदहर्न दश्यते इति च सूत्रद्वयस्यायमर्थः । सर्वथा तावद्राकाकुढोरेव चन्द्रमसः पूर्णत्वमदर्शनत्वं चेति ज्योतिक्शास्त्रे मसिद्धम् । तत्र यस्मि-न्नहानि पुरस्तात्पूर्वस्यां दिशि चन्द्रमाः पूर्ण उत्सर्पेत् उदया-न्न दृश्येत वा तत्र यद्यप्यपराहे रात्रौ वा पर्वसन्धिः तदा. पौर्णमासीममावास्यां वोपवसेदिति । यदा तु पूर्वीक्रे वा मध्य-न्दिने वा पर्वसन्धिस्तदा यस्याहश्चन्द्रमाः पूरिता पूर्णो भविता यस्यां वा नद्रष्टारो नेक्षितारो भवेयुः तामनुमति सिनीवार्ली वोपवसेदिति श्वःपूरिता श्वो नद्रष्टार इति वेति सूत्रद्वयस्याय-मर्थः। उक्तं च भाष्यार्थसङ्गहकारेण —

> अपराक्तेऽथवा रात्रौ यदि पर्व समाप्यते । उपोष्या तत्र राका स्यात् सा पूर्णोत्सार्पेलक्षणा ॥ पूर्वोक्के वाऽथ मध्याक्षे यदि पर्व समाप्यते । उपोष्याऽनुमातिस्तत्र सा श्वःपूरितलक्षणा ॥

अपराह्ने क्षपायां वा पर्वसिन्धभवेद्यदि । उपोष्या तु कुदूस्तत्र यदहर्नेतिलक्षणा ॥ पूर्वाह्ने वाऽथ मध्याह्ने पर्वसिन्धर्यदा भवेत् । तत्रोपोष्या सिनीवाली श्वो नद्रष्टारलक्षणा ॥

इति । तत्र पूर्वाह्णापराह्णशब्दाभ्यां द्वेधा विभक्तस्याहः पूर्वाः परभागौ प्रतिपाद्येते । मध्याह्यशब्देन तु तयोसन्धिरित्यनुस-न्धेयम् । नन्वत्र-पूर्वोद्घादिशब्दानां त्रेधा विभक्तस्याहः क्र-मेण भागत्रयपरत्वमस्तु । मैवं, तस्मिन् पक्षे मध्याहस्याव-र्तनादुपरिघटिकापश्चकपर्यन्तत्वात्तत्र सन्धौ तदहरेव यागः प्रसज्येत । न च प्रसज्यतामिति वाच्यं, तत्र प्रातः पर्वचतु-र्थाशादिविहितकालासम्भवेन 'पर्वणो यश्चतुर्थोंऽशः' इसादि-वचनविरोधात्। ननु—द्वेधा विभागेन यत्रावर्तनादुपरि घटि-कामात्रे पर्वसिन्धः तत्रोत्तरेद्युरेव याग इति तत्रापि कालासम्भवाद्यचनविरोधस्तुल्य एव। मैत्रम्, 'पर्वणो य श्चतुर्थींऽशः' इत्यादिकालस्य यागान्वयावगतेः भवितव्यं तावद्यागस्य कालान्वयेनेत्युपगन्तव्यम् । एवञ्च तत्रोत्तरेद्यु-र्यागे क्रियमाणे न यागस्य कालान्वय इति पूर्वेद्युरेव याग इसविरोधः । एवं सर्वत्र द्रष्टव्यम् । नन्वेवं तर्ह्यपराह्मस-न्धावुत्तरेद्युर्यागविधानं विरुध्येत । मैवं, यत्रापराह्ने पर्वस-न्धावुत्तरेद्युः प्रतिपचतुर्थाशे यागो न भवति, तथाविधापरा-इस्येवात्र ग्रहणामित्यविरोधः । युक्तं चैतत्, अन्यथा हेम-

न्तकालेऽतिस्वरूपत्वाद्हां तत्र किञ्चिद्नचतुर्दशघटिकामात्र आवर्तनं भवति । तथा तत्रैव तिथिवृद्धौ कदाचित् पोडश-नाडिकोपि चतुर्थीशो भवति । तत्रावर्तनादुपरि घटिकामात्र पर्वसन्धावुत्तरेद्धरेव यागः प्रसज्येत, न चैतद्युक्तं, तत्र वि-हितकालासम्भवान यष्टव्यमिति निवेधात् पूर्वेयुः कालस-म्भवाच । अत्रोक्तापराह्नशब्दस्य सङ्कोच एव स्यात् ज्या-यान्। किञ्च-ग्रीष्मकालेऽहामतिदीर्घत्वात्तत्र पादाधिकपोडशयः टिकात्मके काले आवर्तनं भवति । तथा तत्रैव तिथिहासे कदाचित्सार्धत्रयोदशनाडिकोपि पर्वचतुर्थीको भवति । तत्र यदा पादोनावर्तनेन पर्वसन्धिः तदा पूर्वीह एव पर्वसन्धि-रिति तदहरेव यागस्त्यात् । न चैतद्युक्तम्, तत्र पातः प-र्वचतुर्थां ज्ञादिविहितकालासम्भवात् । अस्मिन् पक्षे तूत्तरेद्युरेव यागः, तत्रैव विहितकालसम्भवात् । अतएवोक्तमापस्तम्वेना-पि 'खर्विकां तृतीयां वाजसनेयिनस्समामनन्ति' इति । ख-विकामिरकामिति यावत्। अल्पत्वं च दिनार्धत्वाभावात्। उक्तं च भाष्यार्थसङ्गहकारेण-

मध्यन्दिनात्स्यादहनीह यस्यिन् पाक्पर्वणस्सन्धिरियं तृतीया ।

सा खर्तिका वाजसनेयिमत्या तस्त्रामुपोध्याथ परेद्युरिष्टिः।। इति । अमावास्त्रायां तु स्रुतरामत्रोतरेद्युरेव यागः, उदया-त्रागेव तस्त्रास्त्रत्र प्रारम्भात् । नन्वेवं तर्हि पूर्वाह्मसन्धा तद्व-हरेव यागविधानं विरुध्येत । मैवम्, तस्त्रेतद्वयतिरिक्तविप-Smrit Cha.—Vol. V. यान्तरसम्भवेनाविरोधात् । ननु तर्हि 'पूर्वाह्ने वाऽथ मध्याह्ने हित्र लोगाक्षिवचनवलादेव विहितकालाभावेऽपि तत्रव या गोऽस्तु । मैवम्

> पञ्चदक्याः परः पादः पक्षादेः प्रथमास्त्रयः । कास्रः पार्वणयागे स्वादन्यथा तु न विद्यते ॥

इति वचनार्थोशोदितकाल्रन्यतिरेकेण कालान्तराभावस्मर-णात्। किञ्च—एवंसित 'पर्वणो यश्चतुर्थोशः' इत्यादिका-लिवधायकशास्त्राणां विषयासम्भवेन वैयथर्चमेव स्थात्। अतो यत्केश्चिदुक्तम्—'अपराह्मसन्धावुत्तरेद्युः प्रतिपच्चतुर्थोशेऽपि या-गो न दोषाय' इति, तदपास्तम् । एवञ्च यदुक्तं कात्या यनेन—

> युजनीयेऽहि सोमश्चेत् वारुण्यां दिशि दश्यते। तत्र व्याहतिभिईत्वा दण्डं दद्याद्विजातये॥

इति, यदापि समृखन्तरं—

त्रिमुहूर्ता द्वितीया चेत्प्रतिपद्यापरिक्विकी । अन्वाधानं चतुर्देश्यां परतस्सोमदर्शनात् ॥

इति, तत् पूर्वोह्मपर्वसिधिविषयमित्यवगन्तव्यम् । यदापे वच-नान्तरं—

> षोडशेऽहन्यभीष्टेष्टिर्मध्या पश्चदशेऽहिन । चतुर्दशे जघन्येष्टिः पापा सप्तदशेऽहिन ॥

इति, तेन सप्तदशेऽहनीिष्टं न कुर्याञ्चान्वादधीतेति तत्रान्वा-धानमेव निषिध्यते न यागः । तथात्वे तिथिवृद्धौ विशिष्टे रननुष्ठानमेव स्यात् । अतो यजनीयदिनाद।रभ्य सप्तदशेऽह-न्यौपवसथकर्म न कार्यमिखवगन्तव्यम् । अत एव वोधायनः—

> यत्रौपवसथं कर्म यजनीयात्त्रयोदशम् । भवेत्सप्तदशं वाऽपि तत्त्रयत्नेन वर्जयेत् ॥

इति । ननु दिनद्वयस्य क्षयद्यद्व्योस्सम्भवात्त्रयोदशेऽहिन ससदशेऽहिन वा कदाचिदौपवसथ्यं कर्म न प्राप्तमिति कथं निपेधः ! उच्यते—यद्यप्राप्तिः ति 'नान्ति । दिवि ' इतिविन्नत्यानुवाद इति सर्वमनथद्यम् । पौर्णमास्यां त्वापस्तम्बोको विशेषः — 'पौर्णमास्यामन्वाधानपरिस्तरणोपवासास्सद्यो
वा सद्यस्कालायां सर्वे क्रियते ' इति । अस्यार्थः — सद्यस्कालायां पौर्णमास्यामग्रचन्वाधानादीनि सद्यः समानेऽहिन कियन्ते पूर्वेद्युर्वा तत्र सर्वे ब्राह्मणतर्पणान्तं क्रियते । नेदानतादिकमित्युक्तं भाष्यार्थसङ्गहकारेण—

अन्वाहितिश्वास्तरणोपवासाः पूर्वेद्युरेते खलु पौर्णमास्याम्। आवर्तनात् प्राग्यदि पर्वसन्धिः सद्यस्तदा वा क्रि-यते समस्तम् ॥

हति । आवर्तनात्प्राक् सङ्गत्रादूर्ध्विभिति शेषः ।
सन्धिश्चेत्सङ्गवादूर्ध्वे प्राक्पर्यावर्तनाद्रवेः ।
सा पौर्णमासी विज्ञेषा सद्यस्कालविधौ तिथिः॥

इति कासायनस्मरणात् । केचित्तु—'पौर्णमास्याम्' इत्यादि 'सद्यो वा' इत्येनदन्तमेकं सूत्रं, अपरं तु 'सद्यस्कालायां सर्वे क्रियते ' इति वदान्ति । तत्र सर्वस्यां पौर्णमास्यामग्रचन्वाधानादि सद्यः पूर्वेद्यर्वा क्रियत इति पूर्वसूत्रस्यार्थः । द्वितीयस्य तु सद्य-स्काला विकृतिः तस्यां सर्वे बाह्मणतर्पणान्तं क्रियते नेडान्तादि कमिति । नैतयुक्तं, अपराहसन्धौ सद्यस्कालपक्षे 'सन्धिम भितो यजेत' इति श्रुतिविरोधात् एवं प्रकृतावुक्तम्। विकृतौ यद्यपि 'दर्शपूर्णमासाविष्टीनां प्रकृतिः' इत्येनन दर्शपूर्ण-मासिकाविध्यन्तातिदेशादत्रापि स एव पर्वचतुर्थीशादिल-क्षणः काल इति प्रतिभाति । तथाऽपि 'यदीष्ट्या यदि पश्चना यदि सोमेन यजेतामावास्यायां पौर्णमास्यां वा य-जेत ? इत्यापस्तम्वेन विकृतौ पुनःकालविधानात्पञ्चदश्या-मेव यागसमापात्तः, अतो यत्र सम्पूर्णेव पश्चदशी प्रतिपच तत्र पञ्चद्रयामेव विकृतिं समाप्यानन्तरं प्रकृतेरग्रचन्वाधा-नादि । खण्डतिथौ यदा पूर्वाहे पर्वसन्धः तदा पूर्वेद्यरुपदि ष्टकालासम्भवात्सम्भवेऽपि कर्मोपक्रमदशायामसम्भवन साङ्ग प्रधानाव्यापित्वात् 'साङ्गप्रधानं देशे काले कर्तरीति निर्दि-<mark>क्यते ' इयापस्तम्वेन साङ्गस्येव विहितकालसम्बन्धविधानात् ।</mark> उक्तं परेद्युरिप । प्रकृतेः पूर्वोक्तत्वात् 'अपूर्वमन्ते स्यात्' इत्याप-स्तम्वेनैव विकृतेः पूर्वे प्रकृतिविधानात् अनन्तरमेवातिदेशिक प्रतिपदाद्यभागत्रयेऽङ्गप्रधानपर्याप्तीर्वेकृत्यनुष्ठानमवगन्तव्यम्। यदा

त्वपराह्ने रात्रौ वा पर्वसिन्धः तदा तदहरेव यागः, तत्रै-वोपदिष्टकालसम्भवात्। एतत्सर्वमिसन्धायोक्तम्—

> आवर्तनात्माग्यदि पर्वसिन्धः कृत्वा तु तस्मिन् प्रकृतिं विकृत्याः । तदेव यागः परतो यदि स्यात् तस्मिन्विकृत्याः प्रकृतेश्व एव ॥

इति । एवं पशाविष द्रष्ट्व्यम् । अत एव तत्राष्युक्तम्— अविगिद्धो भविति नियतः पर्वसिन्धः पुरस्तात् कृत्वा तस्मिन्नहाने तु पशून् सद्य एव द्वचहं वा । आरभ्याथ प्रकृतिस्थ चेत्पर्वसिन्धः परस्तात् कृत्वा तस्मिन्प्रकृतिमथ तु स्यात्पशुस्सद्य एव ॥

इति । पूर्वोद्धसन्थावुत्तरेद्युर्विहितकालासम्भवात्सद्य एवत्युक्तम् । उपदेशस्तत्रापि द्वचहकालतामाह । तम्न यप्टव्यमित्यादिवचनावि- रुद्धमित्युपेक्षणीयमेव ॥

इति स्मृतिचन्द्रिकायां पर्वनिर्णयः.

अथ प्रसङ्गातिथिद्वैधनिर्णयः.

तत्र स्कन्दपुराणं-

प्रतिपत्प्रभृतयस्सर्वा उदयादोदयाद्रवेः। सम्पूर्णा इति विख्याता हरिवासरवर्जिताः॥ इति । अत्र सम्पूर्णासु निस्सिन्दिग्धमेव कर्मानुष्टानम् । यत्र
पुनः क्षयद्यद्धिभ्यां तिथिद्वैविध्यं तत्र निगमोक्तं—
युग्माग्नियुगभूतानां पण्युन्योर्वसुरन्ध्रयोः ।
स्द्रेण द्वादशी युक्ता चतुर्दश्या च पूर्णिमा ॥
प्रतिपदाऽप्यमावास्या तिथ्योर्युग्मं महाफलम् ।
एतद्वयक्तं महादोपं हन्ति पुण्यं पुराकृतम् ॥

इति । तत्र युग्मादिरन्ध्रान्त्यैः शब्दैः क्रमेण द्वितीयादिनव म्यन्तानां ग्रहणं, तिथ्योर्युग्मीमत्यभिधानात् । रुद्र एकादशी । द्वितीयादिप्रतिपदन्तासु क्रमेण द्व्योर्द्वयोस्तिथ्योः परस्परमेव युग्मं महाफल्लं, न पुनर्व्यस्तितिथ्यन्तरयुग्मीमत्यर्थः । अनेनो-क्तयुग्मतिथिसप्तके पूर्वा तिथिः उत्तरविद्धा ग्राह्या । उत्तरा तु पूर्वविद्धेत्युक्तं भवति । तृतीयादिवहशमीत्रयोदश्याविष पूर्वविद्धे । तथाच पैठीनसिः—

पश्चमी सप्तमी चैव दशमी च त्रयोदशी।
प्रतिपन्नवमी चैव कर्तव्या संमुखा तिथिः॥
इति । संमुखा पूर्वविद्धेसर्थः । 'संमुखा नाम सायाह्रव्यापिनी दश्यते यदा' इति स्कन्दपुराणे दशनात् । यतु
निगमवाक्ये तृतीयापौर्णमास्योः पूर्वविद्धत्वम्रक्तं, तत् वत
विशेषाभित्रायम् । अत एव ब्रह्मकैवर्ते—

रम्भाख्यां वर्जियित्वा तु तृतीयां द्विजसत्तम । अन्येषु सर्वकार्येषु गणयुक्ता प्रशस्यते ॥ भूताविद्धा न कर्तव्या अमा पूर्णा कदाचन।
वर्जियत्वा मुनिश्रेष्ठ सावित्रीव्रतमुत्तमम् ॥
इति । रम्भारूयां तृतीयां रम्भातृतीयारूयं व्रतामित्यर्थः।
गणयुक्ता चतुर्थीयुक्ता अमा अमावास्या एवश्च यदुक्तं नारदीयपुराणे—

दर्श च पूर्णमासं च पितुस्सांवत्सरं दिनम् ।
पूर्वविद्धमकुर्वाणो नरकं प्रतिपद्यते ॥
इति, तदपि सावित्रीव्रतविषयमिस्रनुसन्धेयम् । उपवासे तु परान्वितेव ग्राह्या । तथाच वृहस्पतिः—

एकादइयष्टमी पष्टी पौर्णमासी चतुर्दशी। अमावास्या तृतीया च ता उपोष्याः परान्विताः॥

इति । वृद्धवसिष्ठोऽपि-

द्वितीया पश्चमी वेधात् दशमी च त्रयोदशी। चतुर्दशी चोपवासे हन्युः पूर्वीतरे तिथी॥ उपवासे सप्तमी तु वेधाद्धन्त्युत्तरं दिनम्।

इति । द्वितीयाद्यास्तिथयो वेधात् उपवासे स्वपूर्वोत्तरे तिथी हन्युः, सप्तमी तु स्वोत्तरामेवेत्यर्थः । अनेन प्रतिपत्तृतीया च द्वितीयाविद्धे न ग्राह्ये इत्युक्तं भवति । एवं पश्चम्यादिष्विप द्रष्टव्यम् । एवश्च यिद्धगमवाक्ये चतुर्थ्या उत्तरविद्धत्वमुक्तं, तदुपवासव्यतिरिक्तविपयमिसवगन्तव्यम्, अस्मिन्वाक्ये पूर्वविद्धाया उपादेयत्वस्मरणात् । यदपि ब्रह्मकैवर्ते—

प्रतिपत्संमुखा कार्या द्वितीया द्विजसत्तम । इति प्रतिपद्विद्धाया उपादेयत्वमुक्तं, तद्प्युपवासव्यतिरिक्तः विषयम् । उपवासे परिवद्धाया एवोपादेयत्वस्मरणात् । त-थाच श्रीविष्णुपुराणे—

एकादश्यष्टमी पष्ठी द्वितीया च चतुर्दशी। अमावात्या तृतीया च उपोष्यास्स्युः परान्विताः॥ इति । अत्र चतुर्दश्यां परविद्धत्वं शुक्कपक्षाभिप्रायम्। अत एव निगमः—

> एकादश्यष्टमी पष्टी शुक्कपक्षे चतुर्दशी । पुण्याः परेण संयुक्ताः पराः पूर्वेण संयुताः ॥

इति । परा अनन्तरा इसर्थः ।

नागविद्धा तु या पष्ठी रुद्रविद्धो दिवाकरः।
कामविद्धो भवेद्विष्णुर्न ग्राह्यास्तेषु वासराः॥
नवम्येकादशी चैव दिशा विद्धा यदा भवेत्।
तदा वज्यी विशेषेण गङ्गाम्भः श्वटतौ यथा॥

इति पुराणस्मरणात् । नागः पश्चमी रुद्रोऽष्टमी दिवाकरस्सः प्रमी कामस्त्रयोदशी । विष्णुः द्वादशी । दिक् दशमी । एवमप्टम्यपि द्रष्टव्या । अत एव स्मृत्यन्तरं—

> कृष्णपक्षेऽष्टमी चैव कृष्णपक्षे चतुर्दशी । पूर्विवद्धा तु कर्तव्या परविद्धा न कस्यचित् ॥ शुक्कपक्षेऽष्टमी चैव शुक्कपक्षे चतुर्दशी ।

पूर्वविद्धा न कर्तव्या कर्तव्या परसंयुता ॥
उपवासादिकार्येषु होष धर्मस्सनातनः ।
इति । त्रयोदञ्याः परविद्धत्वं कृष्णपक्षाभिष्रायम् । अत एव
निगमः—

पष्टचष्टमी तथा दर्शः कृष्णपक्षे त्रयोदशी।
एताः परयुताः पूज्याः पराः पूर्वयुतास्तथा ॥
परा अनन्तरा इत्यर्थः। एवञ्च यदुक्तं मार्कण्डेयेन—
शुक्कपक्षे तिथिप्रीह्या यस्चामभ्युदितो रावेः।
कृष्णपक्षे तिथिप्रीह्या यस्चामस्तिमतो रिवः॥
इति, तत् शुक्ककृष्णपक्षच्यवस्थया व्यवस्थितचतुर्दश्यादिविषयः
मित्यवगनतव्यम्। यदाप देवलेनोक्तं—

यां तिथिं समनुप्राप्य उद्यं याति भास्करः।
सा तिथिस्सकला क्षेया स्नानदानजपादिषु॥
इति, तत् यासां तिथीनामुत्तरविद्धानामुपादेयत्वमुक्तं तिद्धपः
यम्। यदिष तेनैवोक्तं—

यां तिथिं समनुत्राप्य अस्तं याति दिवाकरः ।
सा तिथिम्सकला ज्ञेया दानाध्ययनकर्मस्रु ॥
इति, तदापि याम्तिथयः पूर्विकिद्धास्सत्यो ग्राह्याः तद्दिपयम् ।
सकला संपूर्णेसर्थः । एतच उद्यव्यापिन्यास्तिथेरल्पत्वेन
तिथ्यन्तरानुष्ठानेऽपि तस्यामेव तिथावनृष्ठितं भवतीति वक्तुम् ।
अनेनैवाभिनायेण भविष्यत्पुराणेऽपि—

त्रतोपवासनियमे घटिकैका यदा भवेत्। सा तिथिस्सकला ज्ञेया पित्रथे चापराह्निकी ॥

इति । अतोऽन्यत्र कर्मानुष्टाने तिथिवृद्धिह्वासाभ्यामुपयोग इति निर्णयः। उक्तं च विष्णुधर्मोत्तरे—

> सा तिथिस्तदहोरात्रं यस्यामस्तिमितो रिवः। तदा कमीणि कुर्वीत हासचुद्धी न कारणम्॥

इति । यदा तु नोत्तरेद्युः उदयव्यापिनी किंतु पूर्वेद्युः नि-पिद्धतिथिविद्धैव, तदा स्मृत्यन्तरोक्तं-—

> एकादशी तृतीया च पष्ठी चैव त्रयोदशी। पूर्वीवद्धा तु कर्तव्या यदि न स्यात्परेऽहनि॥

इति । एवञ्च यदुक्तं---

वर्धमानस्य पक्षस्य उदयात्पूज्यते तिथिः। यदा पक्षः क्षयं याति तदा स्यादापराह्निकी॥

इति, तत्र पक्षक्षये प्रायेण परेद्युरुद्यव्यापिन्या असंभवात्पू-र्वविद्धेय परिग्राह्येति पूर्ववचनेन समानार्थम् । अत्र विशेष-माह ऋश्यशृङ्गः—

अविद्धानि निषिद्धैश्च न लभ्यन्ते दिनानि तु ।

मुदूर्तेः पश्चभिर्विद्धा प्राह्मैवैकाद्शी तिथिः ॥

तद्धिविद्धान्यन्यानि दिनान्युपवसेन्नरः ।

इति । निषिद्धेर्दिनैरविद्धानि दिनानि यदि न लभ्यन्ते तदो-

क्तल्रभणानि ग्राह्याणीसर्थः। यदा चैवंविधार्शय तिथिः न ल-भ्यते तदार्शय तेनैवोक्तं—

अविद्धानामलाभे तु पयोद्धिघृतेन वा । सक्चदेवाल्पमदनीयादुपवासस्त्वसौ भवेत् ॥ इति । सा तिथिस्सकला ज्ञेयेत्यस्य क्वचिद्पवादमाह नारदीय पुराणे वसिष्ठः—

पारणे मरणे नॄणां तिथिस्तात्कालिकी स्मृता ।
पित्रचेऽस्तमयवेळायां स्पृष्टा पूर्णा निगद्यते ॥
इति । पारणे मरणे वा तात्कालिक्येव तिथिः न पुनस्सा
तिथिः सकला ज्ञेयेत्येतद्भवतीत्यर्थः । एवं मन्वाद्यादाविष द्रष्ट
च्यम् । अत एव स्कन्दपुराणं—

मन्वादो च युगादौ च ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः। व्यतीपाते च वैधृयां तत्कालव्यापिनी तिथिः। नक्तत्रते च संपाप्ते तत्कालव्यापिनीं तिथिः॥

इति । तस्य नक्तव्रतस्य यः कालः प्रदोगाख्यः तद्भ्यापिनी तिथिः प्राह्मेत्यर्थः । तथाच वसिष्ठः— प्रदोषच्यापिनी प्राह्मा तिथिनेक्तव्रते सद्। । एकादशीं विना सर्वीः शुक्के कृष्णे समास्स्मृताः ॥

इति । प्रदोपपरिमाणं तु स्कन्दपुराणे उक्तं—

उदयात्प्राक्तनी संध्या घटिकात्रयमुच्यते ।

सायंसंध्या त्रिघटिका अस्तादुपरि भास्ततः॥

त्रिमुहूर्त पदोपस्स्याद्रवावस्तिमते ततः ॥
इति । यदत्र संध्याद्वये मौनादि कार्यं, तदेतावि काले
कार्यमित्यभित्रायः । यदा तु दिनद्वयेऽपि प्रदोपव्यापिनी ति
थिर्न भवति, तदा तु स्कन्दपुराणोक्तं—

भदोपव्यापिनी न स्यादिवा नक्तं विधीयते । आत्मनो हिगुणां छायामतिकामति भास्करे ॥ तन्नक्तं नक्तमित्याहुः न नक्तं निश्चि भोजनम् । एवं ज्ञात्वा ततो विद्वान् सायाहे तु भुजिकियाम् ॥ कुर्यान्नक्तवती नक्तकलं शामोति निश्चितम् ॥

इति । नक्षत्रोपवासे तु विष्णुनोक्तं— उपोपितव्यं नक्षत्रं यस्मित्रस्तिभयाद्रविः । यत्र वा युज्यते राम निशीथक्शिक्षना सह ॥

इति । यत्र वा निशीथोऽर्धरात्रः शशिना नक्षत्रेणास्तम्यादुप-र्यारब्धेन संयुज्यते तद्रा नक्षत्रमुपोपितव्यमित्यर्थः । तथाच सुमन्तुः—

यत्रार्धरात्रादर्वाक्तु नक्षत्रं प्राप्यते तिथौ ।
तन्नक्षत्रव्रतं कुर्यादतीते पारणं भवेत् ॥
इति । प्राप्यते प्रार्भ्यत इत्यर्थः । अतीते तस्मिन्नक्षत्र इति
शेषः । एवं तिथिपयुक्तोपवासेऽपि द्रष्टव्यम् ।
तिथिनक्षत्रनियमे तिथिभान्ते च पारणम् ।
अतोऽन्यथा पारणातु व्रतभङ्गमवाप्नुयात् ॥

इति स्मरणात्। एतन्नक्षत्रपयुक्तोपवासाविषयम्। नक्षत्रयुक्तायां
तिथौ श्रीविष्णुपुराणे उक्तं—
याः काश्चित्तिथयः प्रोक्ताः पुण्या नक्षत्रयोगतः।
तास्वेव तद्रतं कुर्याच्छ्रवणद्वादशीं विना॥
इति। कथं तर्हि अवणद्वादश्यामित्यपेक्षिते मत्स्यपुराणं—
द्वादश्यां शुक्कपक्षस्य नक्षत्रं अवणं यदि।
उपोष्येकादशीं तत्र द्वादश्यां पूजयेद्धारेम्॥ इति॥
इति स्मतिचन्द्रिकायां तिथिवैधिनीर्णयः

अथ तिथित्रसङ्गादेकादश्यपि निर्णायते.
तत्रादौ एकादशीमहिमा। तत्र नारदीयपुराणे वसिष्ठः—
एकादशीसमुत्थेन विह्नना पातकेन्धनम्।
भस्मतां याति राजेन्द्र अपि जन्मशतोद्भवम्॥
नेदशं पावनं किञ्चित्रराणां भूप विद्यते।
यादशं पद्मनाभस्य दिनं पातकहानिदम्॥
तावत्पापानि देहेऽस्मिन् तिष्ठान्ति मनुजाधिप।
यावन्नोपवसेज्जन्तुः पद्मनाभदिनं शुमम्॥
अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च।
एकादश्युपवासस्य कलां नाईन्ति पोडशीम्॥
एकादश्युपवासस्य कलां नाईन्ति पोडशीम्॥

एकादश्युपवासेन तत्सर्व विळयं नयेत् ॥
एकादशीसमं किञ्चित्प्रापत्राणं न विद्यते ।
स्वर्गमोक्षप्रदा होषा राज्यपुत्रप्रसाधिनी ॥
स्वरूपमोक्षप्रदा होषा शरीरारोग्यदायिनी ।
न गङ्गा न गया भूप न काशी न च पुष्करम् ॥
न चापि कौरवक्षेत्रं न रेवा न च देविका ।
यम्रुना चन्द्रभागा च तृल्या न च हरेर्दिनात् ॥
अनायासेन राजेन्द्र प्राप्यते वैष्णवं पदम् ।
चिन्तामणिसमा होषा अथवाऽपि निधेस्समा ॥
सा कल्पपादपप्रख्या देवगोरूपमाऽथवा ।

नारदोऽपि —

एकामेकादशीं वाऽपि समुपोप्य जनार्दनम् । कामेनापि समभ्यच्ये संसारान्युक्तियाप्रयात्॥ प्रसङ्गादथवा दम्भाछोभाद्वा त्रिदशाधिप । एकादश्यामनश्चन् यः सर्वदुःखाद्विग्रुच्यते ॥ इति ॥ इति स्मृतिचन्द्रिकायमेकादशीमहिमा.

अयैकादशीनिर्णयः.

तत्र देवलः--

न शङ्केन पिवेत्तोयं नाश्रीयात्कूर्मसूकरौ । एकादञ्यां न भुज्जीत पक्षयोरुभयोरपि ॥

कात्यायनोपि-

यानिकानि च पापानि ब्रह्महत्यासमानि च ।
अन्नमाश्रिय तिष्ठन्ति सम्माप्ते हरिवासरे ॥
रटन्तीह पुराणानि भूयो भूयो वरानने ।
न भोक्तव्यं न भोक्तव्यं संप्राप्ते हरिवासरे ॥
इति । न भोक्तव्यं उपोपितव्यमित्यर्थः । अत एव नारदः—
नित्यं भक्तिसमायुक्तैर्नरीर्वेष्णुपरायणैः ।
पन्ने पन्ने तु कर्तव्यमेकादश्यामुपोषणम् ॥
इति । अत्रोपोपणं नित्यं कर्तव्यमित्यन्वयः । अनेनैकादशीव्रतस्य नित्यत्वमुक्तं भवति । अत एवाकरणे दोषः पुराणे दर्शितः—

पितायासं स भुक्केऽतं किल्विषं श्वानिविद्समम् ।
एकादश्यां सुरश्रेष्ठ यो भुक्के द्विजजन्मवान् ॥
एकादश्यां तु यो भुक्के शक्तिमान्निरुपद्रवः ।
सुरापानसमं पापं भवेत्तस्य न संशयः ॥
मद्यपानात्सुरश्रेष्ठ पातैव नरकं वजेत्।
एकादश्यन्नकामस्तु पितृभिस्सह मज्जाते॥

इति । अतः पक्षद्वयेऽप्येकाद्याम्यपवसेदिति भावः । एतच् पक्षद्वयोपवासविधानं वनस्थदिविषयम् । अत एव गोभिलः—

> एकाद्द्यां न भुञ्जीत पक्षयोरुभयोरिप । वनस्थयतिधर्मोऽयं शुङ्धामेव सदा गृही ॥

इति । एवं ब्रह्मचार्यादेरापि द्रष्टव्यम् । अत एव समृत्य-न्तरं—

एकादश्यां न भुझीत पक्षयोरुभयोरिष । ब्रह्मचारी च नारी च शुक्काभेव सदा गृही ॥ इति । गृही पुत्रवानिति शेषः, तस्य कृष्णैकादश्यामुपवा सनिषेधस्मरणात्—

> सङ्कान्यामुपवासं तु कृष्णैकादिश्ववासरे । चन्द्रसूर्यग्रहे चैव न कुर्यात्पुत्रवान् गृही ॥ एकादश्यां तु कृष्णायां सङ्कान्तौ च रवेस्तथा । पारणं चोपवासं च न कुर्यात्पुत्रवान् गृही ॥

स्मृत्यन्तेरऽपि---

आदित्यवारे सङ्कान्त्यामिसतैकादशीदिने । व्यतीपाते कृते श्राद्धे पुत्री नोपवसेद्रृही ॥ पुराणेऽपि—

सङ्कान्त्याम्रपवासेन पारणेन युधिष्ठिर ।

एकादश्यां च कृष्णायां ज्येष्ठः पुत्रो विनश्यित ।।

न चैवं सित गुक्कैकादश्यां सङ्कान्त्यादियोगे गृहिणः पुत्रवतो नोपवास इति शङ्कनीयम् । यत आह जैमिनिः—

आदित्येऽहिन सङ्कान्तौ ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः ।

पारणं चोपवासं च न कुर्यात् पुत्रवान् गृही ॥

तिन्निमित्तोपवासस्य निषेधोऽयमुदाहृतः ।
नानुपङ्गकृतो ब्राह्यो यतो नित्यमुपोपणम् ॥
इति । तिनिमित्तस्य आदित्यवारादिनिमित्तस्य प्रतिषेधः, न
पुनरेकादश्यामादित्यवाराद्यन्वयनिबन्धनोपवासनिषेधः, यत एः
कादश्यां नित्यमुपोपणिपत्यर्थः । केचित्—अस्यैकादशीप्रकरः
णपाठात्तच्छब्दस्य प्रकरणसिन्निहित्तैकादशीपरत्वादनुषङ्गकृत इत्यस्य कृच्छ्प्राप्तोपवासपरत्वाद्वृहिणः पुत्रवतः सङ्कान्त्यादियुक्तायामेकादश्यामुपवासनिषधपरमेतदिति वर्णयन्ति । तन्मनदं—वाक्यसिन्निधः प्रकरणसान्निधितश्शीद्यभावित्वात् । अन्यथा
एकादश्यां राहुदर्शनासम्भवेन तत्र कथं तच्छब्दोपपत्तिः ।
अथ राहुदर्शनमात्रपरत्वं तार्हं सकृदुचरितस्यार्थद्वयपरत्विनिति
वैरूप्यं स्यात्, अतः पूर्वोक्तैव व्याख्या ज्यायसी । अत एव
नारदः—

भानुवारसमोपेता तथा सङ्कान्तिसंयुता । एकादशी सदोपोप्या पुत्रपोत्रप्रवर्धिनी ॥ पुराणेऽपि—

> एकाद्द्यां यदा वत्स आदित्यस्य दिनं भवेत् । तत्रोपोष्या प्रयत्नेन पुत्रपौत्रविवर्धिनी ॥

अन्ये—गृहिणः पुत्रवतः श्रुक्तैकाद्यामुपवासः कृष्णकाद्यां नियमरहितमभोजनमात्रमिति वदन्ति, तत् स्वबुद्धिमात्रपरि-काल्पितमित्युपेक्षणीयम् । यत्तु नारद्यिपुराणे रुक्माङ्गदस्य पुत्र- पौत्रवतो हरिवासरमात्रोपवासनिषेधाय ब्रह्माणं प्रति यमः वचनं—

मनुष्याः पितृभिस्सार्धं तथैव च पितामहैः ।
तेपामपीह पितरः पितॄणां पितरस्तथा ॥
अथ मातामहा यान्ति तेपां ये जनकास्तथा ।
तेपामपि जनयितारो जितृणां तु पूर्वजाः ॥
प्रयान्ति वैष्णवं छोकमुपोष्य हरिवासरम् ।
एप दण्डः पटो होप तत्र पद्भचां नियोजितः ।
छोकपाछत्वमतुष्ठमार्जितं येन भूभुजा ।
तमेकं वद्तां श्रेष्ठ सम्त्राप्ते हरिवासरे ॥
यदि चाल्यसे धेर्यात्ततोऽहं तव किङ्करः ॥

इति, तत्रापि हरिवासरग्रहणं रुक्माङ्गदस्य विहितैकादशीप-रिमत्यवगन्तव्यम् । अतो गृहिणः पुत्रवतः शुक्कैकादश्यामुप-वासः इतरेपां तु उभयोरिति सिद्धम् । एवञ्च यदुक्तं वि-ष्णुधर्मोत्तरे—

> ब्रह्महा स भवेत् स्तेनः सुरापो गुरुतल्पगः । विवेचयति यो मोहादेकादश्योस्सितासिते ॥

इति, यदापि पुराणे— मातृहा पितृहा चैव भ्रातृहा गुरुहा तथा। एकादश्यां तु भुद्धानः पक्षयोरुभयोरापि॥

इति, तत् पुत्रवद्गृहिच्यतिरिक्तविषयिमत्यनुसन्धेयम् । एवमुक्तन

रीत्या व्यवस्थासम्भवेऽपि केचित् 'न कुर्यात्पुत्रवान् गृहीं ' इत्येवमादीनां काम्योपवासिवपयत्वं परिकल्प्य गृहिणः पुत्र वतोऽपि ऋष्णकादश्यामप्युपवासं वर्णयन्ति । यदत्र युक्तं तद्गाह्यम् । यत्पुनरापस्तम्वेनोक्तं—

> आहिताग्निरनड्वांश्च ब्रह्मचारी च ते त्रयः। अक्षन्त एव सिद्धचन्ति नैपां सिद्धिरनक्षताम्।।

इति, तत् एकादशीव्यतिरिक्तिविषयम् । अत एवाग्निपुराणं — यहस्थो ब्रह्मचारी च आहिताग्निस्तथैव च । एकादश्यां न भुझीत पक्षयोरुभयोरिष ॥

इति । यदापि पुराणे— श्राद्धे जन्मदिने चैव सङ्कान्त्यां राहुसूतके । उपवासं न कुर्वीत यदीच्छेच्छ्रेय आत्मनः ॥

इति श्राद्धे उपवासनिषेधपरं च वचनं, तद्प्येकाद्शीव्यति-रिक्तविषयम् । अत एव स्मृत्यन्तरं—

> उपवासो यदा नित्यः शाद्धं नैमित्तिकं भवेत्। उपवासं तदा कुर्यादाब्राय पितृसेवितम्॥

इति । उपवासलक्षणं व्यासेनोक्तं—

उपाद्यत्तस्य पापेभ्यो यस्तु वासो गुणैस्सह ।

उपवासस्स विज्ञेयो सर्वभोगविवर्जितः ॥

इति । पापेभ्य उपाद्यतस्य गुणैरेकभक्तादिनियमैस्सह यो

वासः ताम्बूलादिभोगरहित उपवास इत्यर्थः ! ते च गुणा नारदीयपुराणे दार्शिताः—

तस्यैवं कीडमानस्य मोहिन्या सह पार्थिव। रुक्माङ्गद्स्य श्रोत्राभ्यां पटहथ्वनिरागतः ॥ मत्तेभकुम्भसंस्थस्तु धर्माङ्गद्मते स्थितः । प्रातहीरिदिनं लोकास्तिष्ठध्वं चैकभोजनाः॥ अक्षारलवणास्सर्वे हविष्यान्ननिपेविणः। अवनीतल्पशयनाः त्रियासङ्गविवर्जिताः ॥ स्परध्वं देवमीशानं पुराणं पुरुषोत्तमम् । सकुद्धोजनयुक्ताश्च उपवासे भविष्यथ ॥ अप्टवर्पाधिको मत्यों ह्यशीतिन हि पूर्यते। यो भुक्के मामके राष्ट्रे विष्णोरहनि पापकृत् ॥ स मे वध्यश्च दण्ड्यश्च निर्वास्यो विषयाद्वहिः। इति । उपवासे कृते द्वादश्यामित्यर्थः । देवछोपि-दशम्यामेकभुक्तस्तु मांसमैथुनवर्जितः। एकादश्यामुपवसेत्पक्षयोरुभयोरापि ॥ ब्रह्मचर्य तथा शौचं सत्यमामिपवर्जनम् ।

एकादश्यामुपवसेत्पक्षयोरुभयोरापि ॥ व्रह्मचंथे तथा शौचं सत्यमामिपवर्जनम् । व्रतेष्वेतानि चत्वारि वरिष्ठानीति निश्चयः ॥ स्त्रीणां तु वेक्षणात् स्पर्शानाभिस्संकथनादापि । निष्यन्दते ब्रह्मचंथे न दारेष्ट्रतुसङ्गमात् ॥ असकुज्जलपानाच सकुत्ताम्बूलचर्वणात् । उपवासो विनइयेत दिवास्वापाच मैथुनात् ॥ व्यासोऽपि—

पुष्पालङ्कारवस्त्राणि गन्धधूपानुलेपनम् ।

उपवासे न दुष्येत दन्तधावनमञ्जनम् ॥

इति । एतत् पुण्यजनकोपवासे स्त्रीविषयमिति कैश्चिदुक्तम् ।
दन्तधावनमत्र पर्णादिना, न काष्टेन—

उपवासे तथा श्राद्धे न खादेहन्तधावनम्। दन्तानां काष्टर्सयोगः हन्ति सप्त कुलान्यपि॥

इति तेनैवोक्तत्वात् । विष्णुरापि—'पतितपापण्डसंभापणानृत स्तेयादिकं वर्जयेत्' इति । कूर्मपुराणेऽपि—

कांस्यं मांसं मसूरं च चणकं कोद्रमाषकान् । शाकं मधु परात्नं च त्यजेदुपवसन् स्त्रियम् ॥ इति । उपवसन् उपवत्स्यन्नित्यर्थः । अतो दशम्यामेते नि-यमाः । स्मृत्यन्तरेऽपि—

> असत्यभाषणं द्यूतं दिवास्वापं च मैथुनम् । एकादक्यां न कुर्वीत उपवासपरो नरः ॥

इति। ब्रह्माण्डपुराणेऽपि-

कांस्यं मांसं सुरां क्षोद्रं तैळं वितथभाषणम् । व्यवायं च प्रवासं च दिवास्वापमथाञ्जनम् ॥ तिल्रिपष्टं मसूरं च डादशैतानि वैष्णवः । द्वादश्यां वर्जयोत्रित्यं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ वृद्दस्पतिरिप-

> दिवानिद्रां परान्नं च पुनर्भोजनमैथुने । क्षौद्रं कांस्यामिपं तैलं द्वादक्यामप्ट वर्जयेत् ॥

अङ्गिरा अपि-

सायमाद्यन्तंयोरहोस्सायं प्रातश्च मध्यमे । उपवासफलप्रेप्सुर्जहाद्गक्तचतुष्ट्यम् ॥

इति । न चात्र फलश्रवणात् काम्योपवासविषयामिति राङ्कनी-यं, नित्येऽप्यपात्तदुरितक्षयादिफलसंवन्धात् । केचित्तु—नित्ये फलाभावाद्यान्येकभक्तादीनि तानि—

> य इच्छोद्रेष्णुसायुज्यं श्रियं सन्तितेमेव च । एकाद्रयां न भुङ्जीत पक्षयोरुभयोरापि ॥

इत्यादिविहितकाम्योपवासविषयाणीति वर्णयन्ति । यदत्र युक्तं तद्राह्मम् । अत्रोपवासग्रहणविधिमाह देवलः—

> गृहीत्वौदुम्वरं पात्रं वारिपूर्णमुदङ्मुखः । उपवासं तु गृह्णीयात् यद्दा सङ्करपयेद्वधः ॥

इति । औदुम्बरं ताम्रमयं पात्रं जलपूर्णं उदङ्मुखः आ-दाय उपवासं गृह्णीयात्, यद्वा सङ्कल्पयेत् सङ्कल्पमात्रं कुर्या-दित्यर्थः । अत्र पात्रग्रहणं प्रथमसङ्कल्पविषयं काम्योपवास-विषयं चेति कैश्चिदुक्तम् । सङ्कल्पमन्त्रोऽपि तेनैव दर्शितः- एकादक्यां निराहारो भूत्वाऽहमपरेऽहिन । भोक्ष्यामि पुण्डरीकाक्ष गतिर्भम भवाच्युत ॥

- इति । विष्णुस्तु मन्त्रान्तरमाह—

 एकादश्यां निराहारः स्थित्वाऽहमपरेऽहनि ।

 भोक्ष्यामि पुण्डरीकाक्ष श्ररणं मे भवाच्युत ॥
- इति । मन्त्रोचारणानन्तरं कास्रायनः— इत्युचार्यं ततो विद्वान् पुष्पाङ्गिस्रिमथार्पयेत् ।
- इति । एवपुपवाससमर्पणमपि द्रष्टव्यम् । तदाह नारदः—

 मन्त्रमुचार्य यत्नेन पुष्पाञ्जलिमथार्पयेत् ।

 अज्ञानितिमिरान्थस्य त्रतेनानेन केशव ॥

 पक्तीद सुमुखो नाथ ज्ञानदृष्टित्रदो भव ।

 एवं समर्पयेद्विद्वान्पारणं समनन्तरम् ॥
- इति । एतच स्नुतकादावापि कार्यम् । तदुक्तं विष्णुरहस्ये— परमापदमापन्नो हर्षे वा समुपस्थिते । स्नुतके मृतके वाऽपि न त्याज्यं द्वादशीव्रतम् ॥
- इति । अत्र वराहपुराणोक्तो विशेषः—

 स्तर्के तु नरस्ह्रात्वा प्रणम्य मनसा हरिम् ।

 एकाद्द्यां न भुञ्जीत त्रतमेतन्न छुप्यते ॥

 द्वाद्द्यां तु ततो भुक्त्वा स्त्रकान्ते जनार्दनम् ।

 पूजायित्वा विधानेन पूजयेच द्विजोत्तमान् ॥

मृतकेऽपि न भुक्षीत एकाद्र्यां सदा नरः। द्वाद्र्यां तु समक्षीयात्स्नात्वा विष्णुं प्रणम्य च ॥

इति । उपवासाशक्तौ तु विष्णुरहस्थोक्तं — असामध्र्ये शरीरस्य वते च समुपस्थिते । कारयेद्धर्मपत्नीं तु पुत्रं वा विनयान्वितम् ॥

कात्यायनोपि-

पितुमीतुभ्रोतुरथें आचार्याथें विशेषतः ।

उपवासं तु कुर्वाणः पुण्यं शतगुणं स्रभेत्॥

यमुद्दिश्य कृतो विद्वान् सोपि संपूर्णमामुयात् ।

नारी स्वपातिम्राद्दिश्य एकाद्श्याम्रुपोपिता ।

पुण्यं शतगुणं प्राहुः मुनयः पारदार्शनः ॥

उपवासफलं तस्याः पतिः प्रामोत्यसंशयः ॥

इति । अथवा समृत्यन्तरोक्तं— उपवासे त्वशक्तानामशीतेरूर्ध्वजीविनाम् । एकभुक्तादिका कार्थेत्याह वोधायने मुनिः ॥

अनेनैवाभिप्रायेण मार्कण्डेयोपि-

एकभुक्तेन नक्तेन तथैवायाचितेन च ।
उपवासेन दानेन न निर्द्वादिशको भवेत् ॥
नक्ते तु विशेषमाह व्यासः—
हविष्यभोजनं स्नानं सत्यमाहारस्राघवम् ।

अग्निकार्यमध्वश्ययां नक्तभोजी समाचरेत् ॥

इति । एवं कुर्वतः फलमाह नारदीयपुराणे वसिष्ठः—

हरिदिनमुपव।सैर्यः क्षपेत् प्राप्य * जन्तुः

न विश्वाति जठरं विण्मूत्रपूर्णं जनन्याः ।

वहुवृजिनसमेतः कामरागाभिभूतो

वजति पदमनन्तं लोकनाथस्य विष्णोः ॥

इति स्मृतिचन्द्रिकायामेकादशीनिर्णयः

अथैकादशीद्वैधनिर्णयः.

तत्र स्कन्दपुराणं—
प्रतिपत्मभृतयस्सर्वा उदयादोदयाद्रवेः ।
सम्पूर्णा इति विख्याता हरिवासरवर्जिताः ॥
इति । कीद्दशस्ताई संपूर्णा हरिवासर इसपेक्षिते गारुडपुराणं—

उदयात्प्राग्यदा वित्र मुहूर्तद्वयसंयुता । संपूर्णेकादशी नाम तत्रैवोपवसेद्गृही ॥ पुनः प्रभातसमये घटिकैका यदा भवेत् । अत्रोपवासो विहितश्चतुर्थाश्रमवासिनाम् ॥ विधवायाश्च तत्रैव परतो द्वादशी न चेत् । इति । अनेन यत्र त्रयोदश्यां द्वादशी नास्ति किन्त्वेका-दश्येव दिनद्वययुता तत्र या संपूर्णेकादशी तस्चामुपवासं गृही कुर्यादपरस्यां यत्यादय इत्युक्तं भवति । उक्तं च समृत्य न्तरे—

> संपूर्णेकादशी यत्र प्रभाते पुनरेव सा । लुप्यते द्वादशी तस्मिन्नुपवासः कथं भवेत् ॥ उपोष्ये द्वे तिथी तत्र विष्णुभीणनतत्परैः ।

इति । तस्मिन् त्रयोदशेऽहिन यदा द्वादशी नास्ति तदा पूर्वोक्ताधिकारिभेदेन द्वे तिथी उपोष्ये न त्वेकैवेत्यर्थः । अत एव कूर्मपुराणं—

> संपूर्णेकादशी यत्र प्रभाते पुनरेव सा । उत्तरां तु यतिः कुर्यात्पूर्वामुपवसेद्गृही ॥

इति । अस्मिन्नेव विषये यंदा त्रयोद्श्यामिष द्वादशी तदा द्वितीयैकादश्यामेवोपवासः । तथा च भृगुः—

संपूर्णिकादशी यत्र प्रभाते पुनरेव सा । तत्रोपोष्या द्वितीया तु परतो द्वादशी यादि ॥

इति । उपोष्या सर्वेरिति शेषः । अत एव नारदः— संपूर्णेकादशी यत्र प्रभाते पुनरेव सा । सर्वेरेवोत्तरा कार्या परता द्वादशी यदि ॥

इति । अस्मिन्नेव विषये यदा द्वादश्यामेकादशी नास्ति तदा द्वादश्यामेवोपवासः । तथाच स्मृत्यन्तरं— एकादशी भवेत्पूर्णा परतो द्वादशी यदि ।
एकादशीं परित्यज्य द्वादशीं समुपोषयेत् ॥
इति । एवञ्च यत्र दशमीशेषस्योदयात्माचीनमुहूर्तद्वयाननुप्रवेशः तत्रोपवासः कार्य इत्युक्तं भवति । अनुप्रवेशे तु गाहडपुराणोक्तं—

उद्यात्माक्तिम्यिकाव्यापिन्येकाद्शी यदा ।
संविद्धैकादशी नाम वर्ज्या धर्मार्थकाङ्क्षिमः ॥
पुत्रराज्यसमृद्धचर्थं द्वाद्श्यां समुपोपयेत् ।
तत्र क्रतुश्रतं पुण्यं त्रयोदश्यां तु पारणम् ॥
आदित्योदयवेलायामारब्धा पष्टिनाडिका ।
सङ्कीर्णेकादशी नाम त्याज्या धर्मफलेप्सुभिः ॥
पुत्रपौत्रत्रदृद्धचर्थं द्वादश्यामुपवासयेत् ।
तत्र क्रतुशतं पुण्यं त्रयोदश्यां तु पारणे ॥

इति । एवश्च यंत्रैकादशी द्वादश्यां नास्ति, द्वादशी न च त्रयोदः श्यां, दशमीशेषस्योदयात्माचीनमुदूर्तद्वयानुत्रवेशः तत्रैकादशीं परित्यज्य द्वादश्यामुपोष्य त्रयोदश्यां पारणिमत्युक्तं भवति । अनेनैवाभिप्रायेण कण्वोपि—

अरुणोदयवेळायां दशमी यदि सङ्गता । तत्रोपोष्या द्वादशी स्यात्त्रयोदश्यां तु पारणम् ॥ अरुणोदयवेळायां दशमी यदि संयुता । रविचकार्थमात्राऽपि द्वादशीमुपवासयेत् ॥ तत्र क्रतुशतं पुण्यं त्रयोदश्यां तु पारणम् ॥ अरुणोदयवेळायां विद्धा काचिदुपोषिता । तस्याः पुत्रशतं नष्टं तस्मात्तां परिवर्जयेत् ॥ भविष्यत्पुराणेडपि—

अरुणोदयवेळायां दशमी यदि विद्यते । पापमूलं सदा ज्ञेयमेकादक्युपवासिनाम् ॥ नारदोपि—

अरुणोदयवेळायां दशमी यदि दृश्यते । न तत्रैकादशी कार्योव्धर्मकामार्थनाशिनी ॥ गोभिलोपि—

अरुणोदयवेळायां दशमी यदि सङ्गता।
संयुक्तैकादशीपुण्यं मोहिन्यै दत्तवान्विभुः॥
उदयादुपारिविद्धा दशम्यैकादशी यदा।
दानवेभ्यः श्रीणनार्थं दत्तवान् पाकशासनः॥
तस्मात्सर्वभयत्नेन सङ्कीर्णेकादशीं त्यजेत्।
द्वादश्यामुपवासोत्र त्रयोदश्यां तु पारणम्॥
अरुणोदयाभित्रायेण नारदीयपुराणे मोहिनीवाक्यं—
अग्नेर्विहारकाले तु वध्वा उत्थापने तथा।
गवां दोहनकालेऽपि पिससंनादने तथा॥
निर्ममे सर्ववेदानां मार्जनीग्रहणे तथा।
द्वारोद्धाटनवेळायां स्नानकाल उपस्थिते॥

त्रितनां दीक्षितानां च वादित्रनिनदे तथा।
तथा प्रान्तो दशम्या यस्त्वेकादश्या समन्वितः॥
प्रदीयतां निवासार्थं कालो विवुधसत्तमाः।
तन्मोहिन्या वचः श्रुत्वा सुरास्सर्वे महीपते॥
संमन्त्रच सुचिरं कालं दिगम्बरपुरोगमाः।
यमस्य दर्शनार्थाय वैकुण्ठध्वंसनाय च॥
पाषिण्डनां विद्यद्वर्थं पापसञ्जननाय च।
ऊचुस्ते मोहिनीं देवाः लोकसंमोहनाय वै॥
दत्तं मोहिनी ते स्थानं प्रत्यूषसमये हि तत्।
दुष्टं हरिदिनोपेतं दशम्याः प्रान्तमेव हि॥

इति । अरुणोदयविद्धां परित्यजेदिति भावः । अरुणोद-योपि पुराणे दर्शितः—

> चतस्रो घटिकाः पातररुणोदय उच्यते । यतीनां स्नानकालस्तु गङ्गाम्बुसदशः स्मृतः ॥

इति । यतयोऽत्र नियताः । तेषां स्नानकाल इति । अनेन उदयात्प्राचीनं घटिकाचतुष्टयमरुणोदय इत्युक्तं भवति । अ-रुणोदयाभिष्रायेण नारदोपि—

दशम्याऽनुगता यत्र तिथिरेकादशी भवेत् । तत्रापत्यविनाशश्च परेत्य नरकं व्रजेत् ॥ विष्णुरहस्येऽपि—

दशमीशेषसंयुक्तामुपोष्यैकादशीं किल ।

संवत्सरकृतेनेह नरो धर्मेण मुच्यते ॥
दशमीशेषसंयुक्ता गान्धार्या समुपोषिता ।
तस्याः पुत्रशतं नष्टं तस्मात्तां परिवर्जयेत् ॥
ब्रह्मकैवर्ते —

दशमीशेषसंयुक्तां यः करोति विमूढधीः ।
एकादशीफलं तस्य न स्याद्वादशवार्षिकम् ॥
इति । एवश्च यानि विद्धोपवासनिषेधपराणि तानि सर्वा
ण्यरुणोदयवेधाभिमायाणीति मन्तव्यम् । अत एव भविष्यपुराणं—

अरुणोदयं यदा शुद्धं दशमीवेधवार्जतम् ।
सर्वदोषविनिर्मुक्तमुपोष्यं ताद्दिनं स्मृतम् ॥
इति । यदा तु शुद्धमरूणोदयं वेधराहित्येन जानाति तदा
सर्वदोषरिहतं तिहनमुपोष्यिमित्यर्थः । एवश्च यत्कैश्चिदुक्तं
'यानि विद्धोपवासिनिषेधपराणि तान्युदयादूर्ध्वविषयाणि'
इति, तदपास्तम् । अतो यत्र दशमीविद्धैकादशी द्वादश्यां
नास्ति तत्र द्वादश्यामुपोष्य त्रयोदश्यां पारणं कार्यमिति
सिद्धम् । यत्तु हारीतेनोक्तं—

त्रयोदश्यां यदा न स्याद्वादशी घटिकाद्वयम् । दशम्यैकादशी विद्धा सैवोपोष्या सदा तिथिः ॥ यदापि ऋष्यशृङ्गेण— पारणे न हि लभ्येत द्वादशी कलयाशपि चेत् । तदानीं दशमीविद्धा उपोष्यैकादशी तिथिः ॥
इति, यदापि विष्णुरहस्ये—
दशमीशेषसंयुक्ता उपोष्यैकादशी तथा ।
यदा न स्यात्त्रयोदश्यां मुहूर्त द्वादशी तिथिः ॥

इति, एतत्सर्वमेकादशीदिनक्षयिवपयम् । अत एव नारदः— दशमीशेषसंयुक्ता नोपोप्यैकादशी तिथिः। एकादश्यां रात्रिशेषे द्वादशी चेन्न दश्यते।।

इति । यदैकादशीदिवसे क्षयो न भवति तदा दशमीविद्धा नोपोष्येसर्थः । अनेनैकादशीदिनक्षये दशमीविद्धोपोष्येसेतदः र्थादुक्तं भवति । उक्तं च तेनैव—

यदि देवात्त संसिध्येदेकादश्यां तिथित्रयम्। तत्र ऋतुशतं पुण्यं द्वादश्यां पारणं भवेत्॥ कूर्मपुराणे—

द्विस्पृगेकादशी यत्र तत्र सिन्निहितो हिरः।
तामेवोपवसेत्काममकामो विष्णुतत्परः॥
दशमीं द्वादशीं च या स्पृशाति सा द्विस्पृक् । पुराणेऽपि—
दिनक्षयमृते देवि नोपोष्या दशमीयुता।
सैवोपोष्या सदा पुण्या परतश्चेत्त्रयोदशी॥

इति । यदैकादशीदिनक्षयः त्रयोदश्यां च न द्वादशी तदैव दशमीविद्धोपोष्या नान्यथेत्यर्थः । अनेन यस्मिन् दिनक्षये त्रयोदश्यामपि द्वादशी तस्मिन्नेवोपवसेदित्यर्थादुक्तं भवाते। अत एव व्यासः—

एकादशी यदा लुप्ता परतो द्वादशी भवेत् । उपोष्या द्वादशी तत्र यदीच्छेत्परमां गतिम्॥ लुप्ता क्षयं गता। परतः त्रयोदश्यामित्यर्थः। यत्तु गोभि-लेनोक्तं—

> एकादक्यां यदा ब्रह्मन् दिनक्षयितिथिर्भवेत् । तदा ह्येकादकीं त्यक्त्वा द्वादक्यामुपवासयेत् ॥ तत्र ऋतुक्षतं पुण्यं त्रयोदक्यां तु पारणम् ।

इति, यदापि पितामहेन—

एकादश्यां यदा वत्स दिनक्षयितिथिभवेत् ।

अत्रोपोष्या द्वादशी स्यात्त्रयोदश्यां तु पारणम् ॥

इति, तत् पुत्रवद्गृहिविषयं, तस्यैव दिनक्षयोपवासानिषेधात् ।
तथाच मत्स्यपुराणं—

दिनक्षयेऽर्कसङ्कान्त्यां ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः । उपवासं न कुर्वीत पुत्रपौत्रसमन्वितः ॥

व्यासोपि—

एकादशीषु नष्टासु रविसङ्कमणेषु च। पारणं चोपवासं च न कुर्योत्पुत्रवान् गृही ॥

इति । पितामहोपि— एकादशीदिनक्षय उपवासं करोति यः।

तस्य पुत्रा विनश्यन्ति मघायां पिण्डदो यथा ॥ इति । एवश्च यानि विद्धोपवासनिपेधपराणि तानि सर्वा-ण्येकादशीदिनक्षयव्यातिरिक्तविषयाणीति मन्तव्यम् । उक्तं च पुराणे—

दिनक्षयमृते देवि नोपोष्या दशमीयुता। इति । अनेनैवाभिप्रायेण कूर्मपुराणेऽपि-कलार्धेनापि विद्धा स्याइशम्यैकादशी यदा। तदा होकादशीं त्यक्त्वा द्वादशीं समुपोपयेत् ॥ द्वादश्यामुपवासोत्र त्रयोदक्यां तु पारणम् । व्यासोपि-

> दशमीमिश्रिता पूर्वी द्वादशी यदि लुप्यते। एकादक्यां महात्राज्ञ उपवासः कथं भवेत् ॥ शुद्धेव द्वादशी राजन्नुपोध्या मोसकाङ्किभिः। पारणं तु त्रयोदश्यां पूजियत्वा जनार्दनम् ॥

स्कन्दपुराणेऽपि-

शुद्धं हरिदिनं न स्थात् द्वादशीं ग्राहयेततः । द्वादक्यामुपवासोत्र त्रयोदक्यां तु पारणम् ॥ एवं कुर्वन्नरो भक्ता विष्णुसायुज्यमाष्ट्रयात् । अन्यथा कुरुते यस्तु स याति नरकं ध्रुवम् ॥

इति । एवं वेधसन्देहेऽपि द्रष्टव्यम् । अत एव कूर्भपुराणं-वहुवाक्यविरोधेन सन्देहो जायते यदा। SMRITI CHA.-Vol. V.

द्वादशी तु तदा ग्राह्या त्रयोदश्यां तु पारणम् ॥
इति । एवश्च यत्र दशमीविद्धेकादशी द्वादश्यां नास्ति द्वादशी च त्रयोदश्यां, तत्र द्वादश्यामुपोष्य त्रयोदश्यां पारणं
कार्यमित्युक्तं भवति । अस्मिन्नेव विषये यदा द्वादश्यामप्येकादशी तदा द्वितीयैकादश्यामेवोषवासः । तथाच नारदः—
द्वादश्येकादशी यत्र संगता त्रिदशाधिष ।

द्वादश्यैकादशी यत्र संगता त्रिदशाधिप । तामुपोष्य ततः कुर्यात्त्रयोदश्यां तु पारणम् ॥

इति । वोधायनोपि-

कलाऽप्येकादशी यत्र परतो द्वादशी न चेत्। तत्र क्रतुशतं पुण्यं त्रयोदश्यां तु पारणम्।

पुराणेऽपि-

द्वादशीमिश्रिता ग्राह्या सर्वत्रैकादशी तिथिः।
द्वादशी च त्रयोदश्यां विद्यते यदि वा न वा ॥
इति । अस्मिन्विषये यदा त्रयोदश्यामिष द्वादशी तदा द्वितीयैकादश्यामेवोपवासः। तथाच नारदीयपुराणं—
द्वादश्येकादशी यत्र द्वादशी परतोषि वा ।
द्वादशीपारणं कुर्योत्क्रतुकोटिफलं भवेत् ॥
पुराणेऽपि—

एकादशीकलायुक्ता येन द्वादश्युपोपिता ।

किं तस्य वहुभिये श्रेरश्यमेधादिभिर्नृप ॥

एकादशी द्वादशी च तत्र संनिहितो हरिः।

उपोष्य रजनीमेकां ब्रह्महत्यां व्यपोहीत॥ इति । अस्मिन्नेव विषये द्वादश्यामेकादशी नास्ति तदा द्वादश्यामेवोषवासः । तथाच नारदीयपुराणं— उपोष्या द्वादशी शुद्धा द्वादश्यामेव पारयेत् । निर्गता चेत्त्रयोदश्यां कला वा द्विकलाऽपि वा॥

इति । द्वादशीदिनक्षये कूर्मपुराणे—

एकादशी द्वादशी च रात्रिशेषे त्रयोदशी ।

त्रिभिर्मिश्रा तिथिः कार्या सर्वपापहरा स्मृता ॥

उपवासः कृतस्तस्यां महापातकनाशनम् ।

एकादशी द्वादशी च रात्रिशेषे त्रयोदशी ॥

तत्र कृतुशतं पुण्यं त्रयोदश्यां तु पारणम् ।

स्कन्दपुराणेऽपि-

द्वादशीसंगता यत्र भवत्येकादशी तिथिः। दिनक्षयेऽपि सा पुण्या निरस्या न कथश्चन *॥

इति । यतु वृद्धशातातपेनोक्तं— दशम्येकादशी विद्धा द्वादशी च क्षयं गता । क्षीणा सा द्वादशी ज्ञेया नक्तं तत्र विधीयते ॥

यदिप विष्णुधर्मोत्तरे—

एकादशी यदा विद्धा द्वादशी च क्षयं गता। श्रीणा सा द्वादशी क़ेया नक्तं तत्र विधीयते॥

^{*} न दशम्या कथञ्चन ॥ इति पाठानैतरम् ।

इति, तत् पुत्रवहृहिविषयं, तस्यैव दिनक्षयोपवासनिषे<mark>धात्।</mark> तथाच मत्स्यपुराणं—

एकादशी द्वादशी च विशेषेण त्रयोदशी।
उपवासं न कुर्वीत पुत्रपीत्रसमन्वितः॥
नन्वनेनोपवासो निषिध्यते न नक्तविधानम्। मैतं, निषिद्धस्थीपवासस्य वायुपुराणे नक्तविधानात्।

उपवासनिपेधे तु भक्ष्यं किश्चित्प्रकरुपयेत्। न दुष्यत्युपवासेन उपवासफलं लभेत्॥

इति । भक्ष्यप्रकल्पनमिष तंत्रैवानन्तरमुक्तं—

नक्तं हविष्यान्नमनोदनंवा यवास्तिलाः क्षीरमथाम्बुवाज्यम्

यत्पञ्चगव्यं यदि वाऽपि वायुः प्रशस्तमत्रोत्तरमुक्तरं च॥

इति । एवश्च यदुक्तं व्यासेन-

एकादशी द्वादशी च रात्रिशेषे त्रयोदशी। द्वादश द्वादशीईन्ति त्रयोदश्यां तु पारणम्॥

इति, तत् पुत्रवद्गृहिविषयिमित्यनुसन्धेयम् । ननु च यानि त्रयोदशीपारणपराणि तेष्त्रेव 'तत्र ऋतुशतं पुण्यम्' इसा-दिफलक्षवणात्, तानि काम्योपवासाभिष्रायाणि, विद्धोपवा-सविधिपराणि तु नित्योपवासविषयाणीति व्यवस्था किं न स्थात्। मैवं,

> यादि दैवातु संसिद्धचेदेकादश्यां तिथित्रयम् । तत्र क्रतुशतं पुंण्यं द्वादशीपारणे कृते ॥

द्वादश्येकादशी यत्र द्वादशी परतोपि च। द्वादशीपारणं कुर्यात्क्रतुकोटिफलं भवेत्॥

इति द्वादशीपारणेऽपि फलश्रवणाविशेषात्। किंच — सर्वत्रैकादशी कार्या द्वादशीमिश्रिता नरैः। प्रातर्भवतु वा मा वा यतो नित्यं हि पारणम्॥ पारणं तु त्रयोदश्यां निष्कामानां विमुक्तिदम्।

इसादिपु त्रयोदशीपारणस्यापि नित्यत्वश्रवणाच । अतो नेयं फलश्रुतिः, अपित्वर्थवाद इति मन्तव्यम् । केचित्तु—

> शुद्धैव द्वादशी राजत्रुपोष्या मोक्षकाङ्क्षिभिः। पारणं तु त्रयोदश्यां पूजियत्वा जनार्दनम्॥

इति वचनाद्यतीनामेव मोक्षकाङ्कित्वात्तिहिपयाण्येव शुद्धद्वाद-रुयुपवासविधिपराणि । विद्धोपवासविधिपराणि तु गृहस्थवि-पयाण्येवेति व्यवस्थापयन्ति । तन्मन्दं, स्वर्गादिफलस्य भाङ्गि-त्वेन सर्वेषामिप मोक्षकाङ्कित्वाविशेषात् । किञ्च—

> उपोष्या सर्वदा शुद्धा द्वादशी तु द्विजोत्तमैः । क्षत्रैर्वेश्येस्तथा शूद्रैः किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि ॥

इति शुद्धद्वादश्युपवासे यतिव्यतिरिक्तानामप्यधिकारदर्शनात्। तथा—

> एकादशी दिशा विद्धा परतो न निवर्तते। यृहिर्भिर्यतिभिश्चेव सैवोपोष्या सदा तिथिः॥

इति मत्स्यपुराणे यतीनामपि विद्योपवासविधानाच । यदः, न्यैरुक्तं—

संपूर्णेकादशी यत्र प्रभात पुनरेव सा ।
उत्तरां तु यतिः कुर्यात्पूर्वामुपवसेद्वृही ॥
इत्यत्र यतीनां त्रयोदश्यां पारणदर्शनात्तिद्वपयाण्येव त्रयोदशीपारणपराणि, विद्धोपवासिविधिपराणि तु गृहस्थविपयाः
ण्येवेति, तदापि पूर्वोक्तवचनद्वयेनैवापास्तिमित्युपेक्षणीयम् । अपरे
तु विद्धोपवासिविधिपराण्यरुणोदयवेधविपयाणि, द्वादश्युपवासः
विधिपराणि तूदयादूर्ध्वविषयाणीति मन्यन्ते, तदिप त्रयोदशीपारणविधिवरुद्धामित्युपेक्षणीयम् । ननु च कथं त्रयोदश्यां
पारणं श्यावता कूर्मपुराणे—

एकादश्यामुपोष्यैव द्वादक्यां पारणं स्मृतम् । त्रयोदक्यां न तत्कुर्याद्वादशद्वादशीक्षयात् ॥

इति त्रयोदशीपारणिनपेधात् । श्रीविष्णुरहस्येऽपि— पारणं तु न कर्तव्यमुपोष्यैकादशीमिह । त्रयोदश्यां नरैर्नित्यं धर्मद्यद्विमभीष्स्राभिः॥

इति । समृत्यन्तरेऽपि--

दशम्यनुगता हन्ति द्वादशद्वादशीफलम् । धर्मापत्यधनायूंपि त्रयोदश्यां तु पारणम् ॥ इति । डच्यते—सस्रमेवं, तथाऽपि यत्र त्रयोदश्यां द्वादशी- संभवः तत्र तामतिक्रम्य त्रयोदश्यां पारणं न कार्यमित्येवं-परं, न पुनः शुद्धत्रयोदश्याम् । अत एव कूर्मपुराणं— यदा भवति चाल्पा तु द्वादशी पारणे दिने । उपःकाले द्वयं कुर्यात्मातमीध्याद्विकं तथा ॥ नारदीयपुराणेऽपि—

> अल्पायामथ विभेन्द्र द्वाद्श्यामरुणोद्ये । स्नानार्चनिक्तयाः कुर्याद्दानहोमादिसंयुताः ॥ त्रयोद्श्यां तु शुद्धायां पारणं पृथिवीफलम् । शतयज्ञाधिकं वाऽपि नरः त्राम्नोत्यसंशयः ॥ एतस्मात्कारणाद्विमाः मत्यूषे स्नानमाचरेत् । पितृत्रपणसंयुक्तमल्पां दृष्ट्वेव द्वादशीम् ॥ महाहानिकरी ह्येपा द्वादशी लिखता नृणाम् । करोति धर्महरणमस्नातेव सरस्वती ॥

न च---

यां तिथि समनुप्राप्य उदयं याति भास्करः । सा तिथिस्सकला ज्ञेया स्नानदानजपादिषु ॥ इति देवलवचनाद्वाद्वयितक्रमेऽपि न दोष इति शङ्कनीयम् । यत आह नारदीयपुराणे विसष्ठः—

पारणे मरणे नॄणां तिथिस्तात्कालिकी स्मृता । इति । यस्मिन् काले पारणं मरणं वा तत्र तात्कालिक्येव तिथिः न पुनः सा तिथिस्सकला ज्ञेयेत्येतद्भवतीत्यर्थः । यत्र पुनस्त्रयोदश्यां कलामात्रेव द्वादशी तत्र पुराणोक्तं—
त्रयोदश्यां यदा राजन् द्वादश्यास्तु कला भवेत् ।
सा तिथिस्सकला चोति वसिष्ठः प्राह धर्मवित् ॥
इति । एवश्र यानि त्रयोदशीपारणिनपेधपराणि तानि त्र
योदश्यां द्वादशीसम्भवविषयाणीति सिद्धम् । यानि पुनः—
कला काष्ठा मुहूर्ते वा यदि चेदपरेऽहनि ।
द्वादश द्वादशीहिन्त त्रयोदश्यां तु पारणम् ॥
इति, त्रयोदश्यां द्वादशीसम्भवमनूद्य पारणिनपेधपराणि,
तानि

विद्धाऽप्येकादशी प्राह्या परतो द्वादशी न चेत्।
द्वादश द्वादशीर्हन्ति त्रयोदश्यां तु पारणम् ॥
इत्यादिभिस्समानार्थानीयनवद्यम् । एवश्च यत्कैश्चिदुक्तं त्रयोदश्यां द्वादशीसम्भवेऽपि त्रयोदशीपारणं न दोपायेति, तदपास्तम् ॥

इति स्मृतिचिनद्रकायां एकादशीद्वैधनिर्णयः

एवं प्रसक्तमनुप्रसक्तं च परिसमाप्याधुना प्रकृता पराह्णानिर्णयः क्रियते.

तत्र शातातपः— द्रीश्राद्धं तु यत्रोक्तं पार्वणं तत्प्रकीर्तितम् । अपराह्ने पितृणां च तत्र दानं प्रशस्यते ॥ अपराह्नोपि पञ्चथाविभक्तस्याहश्चतुर्थो भाग इत्याह व्यासः—

स्रुहूर्तत्रितयं प्रातः तावानेव च सङ्गवः।
मध्याह्वस्त्रिमुहूर्तस्स्यादपराह्योपि तादशः॥
सायाह्वस्त्रिमुहूर्तस्तु सर्वकर्मवहिष्कृतः।

इति । वाजसनेयश्रुतिरिप—'आदित्यो वै सर्वा ऋतवस्स यदैवोदेत्यथ वसन्तो यदा सङ्गवोऽथ ग्रीष्मो यदा मध्यित्वोऽथ शरद्यदाऽपराह्मसदा वर्षा यदाऽस्तमेत्यथ हेमन्तः'

इति । श्रुत्यन्तरे तु त्रेधा विभक्तस्याह्मस्तृतीयभागेऽपराह्मशब्दः
पयुक्तः—'पूर्वोह्मो वै देवानां मध्यंदिनं मनुष्याणामपराह्मः
पितृणाम्' इति । मनुस्तु द्वेधा विभक्तस्याह्मो द्वितीयभागेऽपराह्मशब्दमाह—

यथा चैवापरः पक्षः पूर्वपक्षाद्विशिष्यते । तथा श्राद्धस्य पूर्वाह्णादपराह्णो विशिष्यते ॥ स्कन्दपुराणेऽपि---

आवर्तनाचु पूर्वाह्णो ह्यपराह्णस्ततः परः । इति । आवर्तनावाधिः पूर्वाह्ण इत्यर्थः । एवमनेकधाऽपराह्ण-शब्दप्रयोगेऽपि मनूक्त एवापराह्णशब्दार्थः स्वीक्रियते । शुक्कपक्षस्य पूर्वाह्णे आद्धं कुर्यात् द्विजोत्तमः ।

शुक्रपक्षस्य पूर्वाहे आदं कुर्यात् द्विजोत्तमः । कृष्णपक्षापराहे तु रौहिणं तु न छङ्घयेत्॥

इति मार्कण्डेयेन द्वेधा विभक्तस्याद्वो द्वितीयभागे श्राद्धाव Smriti Cha.—Vol. V. 11 धानात्, तथा रौहिणं तु न लङ्घयेदिति चतुर्थभागादर्वागेव समाप्तिविधानाच । रौहिणो नवमो मुहूर्तः । किञ्च—

भूतिविद्धा त्वयावास्या प्रतिपिन्मिश्रिताऽपि वा ।
पित्रचे कृमिणि विद्वद्भिः प्राह्या कृतपकालिकी ॥
इति हारीतः श्राद्धाङ्गत्वेन कृतपकालं विधत्ते, तदपि न
स्वात् । ननु नानेन कृतपकालस्य श्राद्धाङ्गत्वमवगम्यते ।
मेवं, कृतपकालिकीग्रहणाविधेः दृष्टार्थत्वायाङ्गत्वस्यैवोचितत्वात् । उक्तं च पुराणे—

कुं यत्र गोपितगोंभिः कात्स्वर्चेन तपित क्षणे।
स कालः कुतपो नाम शाद्धं तत्र प्रदीयते॥
इति । कुः पृथ्वी । गोपितः सूर्यः। अत्र यत्केश्चिदुक्तं 'एः
कोदिष्टं तु मध्याह्ने ' इति वचनात्कुतपकालविधानमेकोदिष्टविपयमेवेति, तदनेन दर्शश्राद्धेऽपि कुतपकालविधानेनापास्तम्।
न चैवं सित कुतपापराह्णाविध्योर्विकलपस्त्यादिति शङ्कनीयं,
कुतपोत्तरार्थस्यापराह्णान्तभीवात्। कुतपो हि नाम पश्चदशमुहूर्तात्मकस्याह्नोऽष्टमो मुहूर्तः। तथाच मत्स्यपुराणं—

अहो मुहूर्ता विख्याता दश पञ्च च सर्वदा । तत्राष्ट्रमो मुहूर्ती यः स कालः कुतपस्स्मृतः ॥ इति । वायुपुराणेऽपि—

> मुहूर्तात्सप्तमादूर्ध्वं मुहूर्ताञ्चवमाद्धः। स कालः कुतपो नाम पितृणां दत्तमक्षयम्॥

इति । एवश्च यदपराह्ने विहितं तदपराह्णान्तर्गतकुतपे कार्यं विधीयत इत्यविरोधः । एतदपि पारम्भाभिषायम् । तदाह मत्स्यः—

मध्याहे सर्वदा यस्मान्मन्दीभवाति भास्करः ।
तस्मादनन्तफलदस्तत्रारम्भो विशिष्यते ॥
गौतमोपि—

प्रारभ्य कृतेपे श्राद्धं कुर्यादारोहिणं बुधः । विधिज्ञो विधिमास्थाय रौहिणं तु न लङ्घयेत् ॥ इति । एतच कृतपादिश्राद्धविधानमनियकविपयं, साग्नेः कृ तिपण्डापितृयज्ञस्यैव मनुना श्राद्धाविधानात्।

पितृयज्ञं तु निर्वर्त्यं विष्ठश्चन्द्रक्षये ऽग्निमान् ।

पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं कुर्यान्मासानुमासिकम् ॥

इति पिण्डपितृयज्ञस्याप्यपराह्णकालत्वेन श्राद्धस्य कुतपादि

त्वासम्भवादिति भावः । न च

पितृयज्ञं तु निर्वर्त्यं तर्पणाख्यं तु योऽग्निमान् ।
पिण्डान्वाहायकं श्राद्धं कुर्यादिन्दुक्षये सदा ॥
इति मत्स्यपुराणवचनात्पितृयज्ञज्ञब्दः तर्पणाख्यपितृयज्ञपर इति
साग्नेरपि कृतपाद्येव श्राद्धामिति शङ्कनीयं,

पक्षान्तं कर्म निर्वर्त्य वैश्वदेवं च साप्तिकः।
पिण्डयज्ञं ततः कुर्यात्ततोऽन्वाहार्यकं बुधः॥
इति स्टौगाक्षिणा साप्तेः पिण्डपितृयज्ञानन्तरमेव श्राद्धविधाः

नात् । अतस्तर्पणशब्दोपि कथिश्चित्पिण्डिपितृयज्ञपर इत्यवगनतव्यम् । एवश्च यत्र श्राद्धिते चन्द्रदर्शनेन पिण्डिपितृय

ज्ञाप्तिः तत्राग्निमान् कृत्वैव पिण्डिपितृयज्ञं श्राद्धं कुर्यात् ।
अन्यथा तु साग्नेरिप कुतपाद्येव श्राद्धिमसनुसन्धेयम् । ननु
कुतपादिरौहिणान्तत्वाच्छ्राद्धकालस्य तस्य च कर्मद्रयापर्याप्तत्वात्कथमित्रमच्छ्राद्धस्थापि पिण्डिपितृयज्ञानन्तर्यम् । मैवं, मतस्य
पुराणे रौहिणादुपर्यपि कालविधानात्—

ऊर्ध्व मुहूर्त कुतपाद्यन्मुहूर्तचतुष्ट्यम् । मुहूर्तपञ्चकं ह्येतत्स्वधाभवनमिष्यते ॥

इति कुतपादिमुहूर्तपञ्चकं श्राद्धस्याङ्गमित्यर्थः । यतु यमेनोक्तं-चतुर्थे महरे पाप्ते यद्दशाद्धं कुरुते नरः।

आसुरं तद्भवेच्छ्राद्धं दाता च नरकं त्रजेत् ॥

इति, तत् चतुर्धमहरे प्राप्ते सित योऽन्तिमे मुहूर्तत्रये श्राछं करोति तस्य दोष इसेवंपरं, न पुनः प्रहरिनपेधपरं पूर्वोक्त मत्स्चपुराणवचनविरोधात् । उक्तं च तत्रैव—

> सायाहस्त्रिमुहूर्तस्त्राच्छ्राद्धं तत्र न कारयेत्। राक्षसी नाम सा वेळा गर्हिता सर्वकर्मसु॥

इति । यदापि कात्यायनोक्तं— पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं क्षीणे राजनि शस्यते । वासरस्य तृतीयेंऽशे नातिसन्ध्यासमीपतः ॥

इति, तदापि कूर्मपुराणवचनविरोधात् 'वासरस्य तृतीयेंऽशे

नातिसन्ध्यासमीपतः ' इति दिनान्तिमे मुहूर्तत्रये न कार्यमित्येवं परं, न पुनार्वेशेषेण तृतीयांशे विधिपरामिति । यदापे व्या-घपादवचनं —

> विधिज्ञदश्रद्धयोपेतः सम्यक्पात्रनियोजकः । ' रात्रेरन्यत्र कुर्वाणः श्रेयः प्राप्तोससंशयम् ॥

इति, तदप्युक्तयुक्तयेव नाहर्मात्रविधिपरामिति सर्वमनवद्यम् । रात्रिनिषेधस्य क्वचिदपवादमाह विष्णुः—

सन्ध्यारात्रचोर्न कर्तव्यं श्राद्धं खळु विचक्षणैः । तयोरिप च कर्तव्यं यदि स्याद्राहुदर्शनम् ॥

इति । अत्र शातातपः— कालातीतं तु यत् कुर्याच्छ्रद्धं होमं जपं तथा । व्यर्थीभवति तत्सर्वे अस्ते तु विषं यथा ॥

इाते स्मृतिचिन्द्रकायमपराह्णनिर्णयः

अथान्यान्यपि श्राद्धकालविषयाणि कानिचिद्वचनानि [•] लिख्यन्ते

तत्र विष्णुधर्मोत्तरे मार्कण्डेयः—

उत्तरादयनाद्राजन् श्रेष्ठं स्वाद्दक्षिणायनम् ।

याम्यायनाचतुर्मासं तत्र स्रुप्ते तु केशवे ॥

प्रोष्ठपद्यपरः पक्षः तत्रापि च विशेषतः ।

दिसपुराणेडपि-

पश्चम्यूर्ध्वं तु तत्रापि दश्चम्यूर्ध्वं ततोपि च ॥

मघायुक्ताऽपि तत्रापि शस्ता राजन् त्रथोदशी ।

इति । श्राद्धकालेपूदगयनादक्षिणायनं श्रेष्ठं याम्यायनादक्षि
णायनादित्यर्थः । तत्र दक्षिणायने केशवे स्रुप्ते संति मासचतुष्ट्यं श्रेष्ठं, याम्यायनेऽप्यापाढीं पौर्णमासीमारभ्य मासच
तुष्ट्यं श्रेष्ठमिति यावत् । तत्रापि पोष्ठपदमासस्थापरपक्षो विशेपतः श्रेष्ठः । तत्रापि पच्चम्या उद्ध्वं दर्शन्तानि दिनानि
श्रेष्ठानि । तत्रापि दशम्या उद्ध्वं पश्चदिनानि श्रेष्ठानि ।

तेष्वपि मखानक्षत्रयुक्ता त्रयोदशी अतिवशक्तित्यर्थः । आः

आपादीमविधं कृत्वा यस्त्यात्पक्षस्तु पञ्चमः।
श्राद्धं तत्र तु कुर्वीत कन्यां गच्छतु वा न वा॥
पञ्चमे पक्षे सूर्यः कन्याराशिं गच्छतु वा न वेत्यर्थः। अत्र
न वेति पक्षः कन्यागतत्वाभावेऽपि तत्र श्राद्धं कुर्वीतेति विधातुं नोक्तं, किन्तु पञ्चमः पक्षः कन्यागतसूर्यरहितोपि श्रेष्ठः
किं पुनस्तत्सहित इति दर्शियतुमिति मन्तव्यम्। अत एव
शाट्यायानिः—

नभस्यस्यापरे पते तिथिपाढशकस्तु यः । कन्यागतान्वितश्चेत्स्यात्स कालः श्राद्धकर्मणि ॥ इति । तिथिपोडशक इति कदाचित्पश्चद्धेः पोडशादिनात्म-कोपि नभस्यस्यापरः पक्षः श्राद्धकर्मणि कालो न तु तत्र पश्चदशिदनात्मक एवेति दर्शियतुमुक्तम् । यद्रा अमावास्या-या अनन्तरभूता या प्रतिपत्तिथिः तस्या अपि सङ्ग्रहणार्थं तिथिपोडशक इत्युक्तं, प्रतिपदोपि क्षीणचन्द्रत्वेनापरपक्षतु-ल्यत्वात् । न चैवं वाच्यं, नभस्यस्यापरे पक्षे कन्यागते सूर्ये सित तिहिनात्मभृति तिथिपोडशकं श्राद्धकालस्स्यादि-सनेन प्रतिपाद्यत इति । यत आह वृद्धमनुः—

मध्ये वा यदि वाऽष्यन्ते यत्र कन्यां रिवर्त्रजेत्।
स पक्षस्सकलः पूज्यः श्राद्धं तत्र विधीयते॥
इति। यत्र यस्मिन् पञ्चमे पक्षे यत्रकुत्रचित्कन्यागते सवितिर सित सकलस्स पक्षः श्राद्धे प्रशस्ततरकालः। तेन
तत्र प्रतिदिनमेकस्मिन्वा दिने शक्त्यनुसारेण श्राद्धं कर्तव्यमित्यवगन्तव्यम्। तथा चादित्यपुराणं—

पक्षान्तरेऽपि कन्यास्थ रवौ श्राद्धं प्रशस्यते । कन्यागते पश्चमे तु विशेषेणैव कारयेत् ॥ पक्षान्तरेऽपि पञ्चमपक्षात् पक्षान्तरेऽपीत्यर्थः । पञ्चमपक्षस्य प्र-शस्ततरत्वं 'विशेषेणैव कारयेत्' इत्यनेनोक्तम् । अनेनैवाभि-प्रायेण जातूकर्ण्यः—

आकाङ्क्षिन्ति स्म पितरः पश्चमं पक्षगाश्चिताः । तस्मात्तत्रैव दातव्यं दत्तमन्यत्र निष्फल्लम् ॥ मशस्तकाले दत्तमत्यन्ताधिकफल्लसाधकमित्यर्थः । किं पुनः प्रशस्ततरकाले दत्तस्य फल्लमित्यपेक्षिते कार्पाजिनिः— पुत्रानायुक्तथाऽऽरोग्यमैश्वर्यमतुलं तथा । पाप्नोति पञ्चमे दत्वा श्राद्धं कामांश्च पुष्कलान् ॥ पुराणेऽपि—

कन्यागते सिवतिरे यान्यहानि तु पोडश ।

ऋतुभिस्तानि तुल्यानि पितॄणां दत्तमक्षयम् ॥

इति । तदेतच्छाट्यायनिवचनेन समानार्थतया व्याख्येयम् ।

ऋशस्ततरकालातिक्रमे दोषोपि काष्णीजिनिना दर्शितः—

प्रेतास्तं चैव हिंसन्ति पश्चमं यो व्यतिक्रमेत् ।

तस्मान्नातिक्रमेद्विद्वान्पश्चमे पैतृकं विधिम् ॥

यदा तु पश्चमे पक्षे कथिश्चदेतच्छ्राद्धं न कृतं तदा त्वाह

समन्तुः—

कन्याराशै महाराज यात्रात्तिष्ठेद्विभावसुः।
तस्मात्कालाद्भवेदेयं वृश्चिके यावदागतः॥
येयं दीपान्विता राजन् ख्याता पञ्चद्शी भुति।
तस्यां दद्यान्न चेदत्तं पितृणां वै महालये॥
वि. महालये महालयाख्ये पञ्चमे पश्चे पितृणां

इति । महालये महालयाख्ये पश्चमे पक्षे पितृणां पितृभ्यो न दत्तं चेतदा कन्याराशो यादि भावस्तुस्तिष्ठेत्तावदन्यस्मिन्यक्षेऽपि दद्यात् । तस्मात्कालात्कन्यागतसूर्यान्वितकालात्पश्चात्तुलाशाश्चिगतसूर्यान्वितेऽपि श्राद्धं देयं भवेत् । तत्रापि काले यदि कथिन्न दत्तं तदा दीपावळ्याख्यायां पश्च-द्रयां द्यादित्यर्थः । पुराणेऽपि—

कन्यागते सवितिरे पितरो यान्ति वै सुतान्। शून्या पेतपुरी सर्वा यावहृश्चिकदर्शनम् ॥ ततो दृश्चिकसम्प्राप्तौ निराज्ञाः पितरो गताः। पुनस्त्वभवनं यान्ति शापं दत्वा सुदारुणम्॥ सूर्ये कन्यागते कुर्याच्छ्राद्धं यो न गृहाश्चमी। धनं पुत्राः कुतस्तस्य पितृनिदश्चासपीडनात्॥

आदित्यपुराणेऽपि-

प्रावृष्यृतौ यमः प्रेतान् पितृंश्चाय यमालयात्।
विसर्जियत्वा मानुष्ये कृत्वा ज्ञून्यं स्वकं पुरम् ॥
क्षुधाऽऽतीः कीर्तयन्तश्च दुष्ठतं च स्वयंकृतम् ॥
काङ्कृन्तः पुत्रपौत्रेभ्यः पायसं मधुसंयुतम् ॥
तस्मात्तांस्तत्र विधिना तर्पयेत्पायसेन तु ।
मध्वाज्यतिल्लिभेश्रेण तथा शीतेन चाम्भसा ॥
ग्रासमात्रं परगृहाद्शं यः प्राप्तयात्तरः ।
भिक्षामात्रेण यः प्राणान् संधारयति वा स्वयम् ॥
यो वा संवर्धयेदेहं प्रत्यहं स्वात्मविक्रयात् ।
श्राद्धं तेनापि कर्तव्यं तैस्तुद्विव्यस्सुसिञ्चतैः ॥

इति । यमालयात्प्रेतान् पितॄंश्च विसर्जियत्वा स्वकं पुरं शून्यं कृत्वा मनुष्यलोके प्राष्टीप भाद्रपदमासकृष्णपक्षप्रभृति याव-हृश्चिकदर्शनं वासयित ताविद्त्यध्याहृतेन सम्बन्धः । सुधाऽऽ-Smritt Cha.—Vol. V र्ताः पेताः पितरस्तिष्टन्तीत्यध्याहृतेन सम्बन्धः । विधिना त पेयेत्पुत्र इति शेपः । चतुर्विशतिमतेऽपि---

आचार्यगुरुशिष्येभ्यः साखिज्ञातिभ्य एव च ।
तत्पत्नीभ्यश्च सर्वाभ्यस्तयैव च जलाञ्जलीन् ॥
पिण्डदानं च तेभ्यस्तु द्याद्धाद्रपदे नरः ।
तीर्थेषु चैव सर्वेषु माघमासे तथैव च ॥
एकस्मिन् त्राह्मणे सर्वानाचार्यादीन् प्रपूजयेत् ।
दश द्वादश पिण्डांश्च द्यादकरणं न तु ॥
नियामको विधिर्नूनं पक्षे वै पश्चमे स्टतः ।
तिस्मन् दत्तं हविर्नूनं पितृणामक्षयं भवेत् ॥

इति । एकस्मिन् ब्राह्मण इत्यसमर्थविषयम् । समर्थस्तु स्वसाम-थ्यानुसारेण प्रत्येकमेकैकस्मिन् ब्राह्मणे आचार्यादीन् सर्वान् एकस्मिन् दिने प्रपूजयेत् । एकैकमाचार्यादिकं एकैकस्मिन्वा दिने प्रपूजयेत् । तत्र यदा प्रथमः पक्षः स्वीकियते तदा एकपाकेन समानतन्त्रमाश्रिस प्रपूजयेत् । तथा च भृगुणा—

> एककाले गतासूनां वहूनामथवा द्वयोः । तन्त्रेण श्रपणं क्तत्वा कुर्याच्छ्राद्धं पृथक्पृथक् ॥ पूर्वकस्य मृतस्यादौ द्वितीयस्य ततः पुनः। तृतीयस्य ततः कुर्यात्.....॥

इत्युक्त्वोक्तं—सन्निपातेष्वयं क्रमः ॥ इति । सन्निपातेषु सम-समये नानाश्राद्धेषु कर्तव्यतयाऽऽपतितेषु अयं क्रमः तन्त्रेण श्रपणं कृत्वा ज्येष्ठानुक्रमेण श्राद्धानुष्ठाने क्रमोऽनुसन्धेय इ-त्यर्थः। अत्र यदुक्तं स्मृत्यर्थसारे 'एकः पाको वेश्वदेवं तन्त्रं पिण्डं वाईश्चिकम्' इति, तत्र वेश्वदेवं तन्त्रमिति चिन्त्यं आचार्यगुरुशिष्यसाखिज्ञात्यादीनामेको दिष्ठविधानेनैव श्राद्धं का र्यमिति स्मृतिवचनैरुक्तत्वात्। तत्र वेश्वदेवासम्भवात् 'नवः मिश्रपुराणानीति त्रिविधान्येको दिष्ठानि' इत्युक्तत्वेन सर्वेको दिष्ठेषु देवं नास्तीति स्मृत्यर्थसार एवोक्तत्वाच । स्मृतिव-चनानि त्वद्रे दर्शिथण्यामः। यमोष्यसमर्थं त्रत्याह—

हंसे वर्षासु कन्यास्थे शाकेनापि गृहे वसन्। पश्चम्योरन्तरे दद्यादुभयोरपि पक्षयोः॥

वर्षासु प्रावृषि हंसे सूर्ये कन्याराशिस्थे पञ्चमपत्तस्य पञ्च-मीप्रभृत्यनन्तरपक्षस्य पञ्चमीपर्यन्तदिवसेष्वन्यतमे दिवसे यथा-सम्भवं गृही पितृभ्यो दद्यादित्यर्थः । पञ्चम्योरन्तरे चतु-दंशीव्यतिरिक्त इति शेषः । तदाह मरीचिः—

विषशस्त्रश्वापदाहितिर्यग्त्राह्मणघातिनाम् ।
चतुर्दश्यां क्रिया कार्या अन्येषां तु विगिहिता ॥
विषादित्राह्मणान्तैः कृतः घातः एषां ते विषशस्त्रश्वापदाः
हितिर्यग्त्राह्मणघातिनः । क्रिया श्राद्धित्रया एकोहिष्टविधानेनेति शेषः । तथाच सुमन्तः—

समत्वमागतस्थापि पितुश्शस्त्रहतस्य तु । एकोदिष्टं स्रुतैः कार्यं चतुर्दश्यां महालये ॥ समत्वमेकत्वमागतस्यापि कृतसापिण्डीकरणस्यापीत्यर्थः । शस्त्रहतस्य पितुः महालये चतुर्दश्यामेकोहिष्टश्राद्धे कृतेऽपि दिनानतरे पार्वणश्राद्धं कार्यम्, एकोहिष्टश्राद्धेन पितामहादितः
सचिसिद्धः । नन्वेवं मृताहेऽप्येकोहिष्टश्राद्धे कृते पार्वणश्राद्धमपि पितामहादितृप्तिसिद्धचर्यं कर्तव्यं स्यात् । मैवम्, पितम्ताहे पितामहादेस्तर्पणीयत्वास्मरणेन तत्तृप्तचर्यं श्राद्धस्याः
ननुष्टेयत्वात् । महालयमकरणे—

काङ्क्षिति पुत्रपौत्रेभ्यः पायसं मधुसंयुतम् । तस्मात्तांस्तत्र विधिना तर्पयेत्पायसेन तु ॥ मध्वाज्यतिल्लिभेशेण॥

इति पितामहादेरिप तर्पणियत्वस्मरणात् तत्तृप्तये दिनान्तरे पार्वणश्राद्धं कार्यमेव । यस्य तु पितामहोपि शस्त्रादिना हतः तस्य महालये पितामहश्राद्धमि चतुर्दश्यामेकोदिष्टरूपं कार्यम् । तथाच समृत्यन्तरं—'एकस्मिन् द्वयोवैंकोदिष्टिविधिः' इति । एकस्मिन् पितरि शस्त्रादिना हते द्वयोवी पितृपिन्तामहयोः चतुर्दश्यामेकोदिष्टिविधिना प्रसेकं श्राद्धं कार्यमिन्त्यर्थः । द्वयोरेकोदिष्टिविधानन प्रसेकं श्राद्धं कते प्रिपतामन्त्र्यथः । द्वयोरेकोदिष्टिविधानन प्रसेकं श्राद्धं कते प्रिपतामन्त्र्यथः । द्वयोरेकोदिष्टिविधानन प्रसेकं श्राद्धं कते प्रिपतामन्त्र्यथः । द्वयोरेकोदिष्टिविधानन प्रसेकं श्राद्धं कते प्रिपतामन्त्र्यथानां । त्रिपु पितृपितामहप्रितामहेषु शन्त्रादिनिहतेषु नैकोदिष्टिविधिरिति गम्यते । तेषु त्रिषु शस्त्रादिनिहतेषु नैकोदिष्टिविधिरिति गम्यते । तेषु त्रिषु शस्त्रान्तिष्यं चतुर्दश्यां पार्वणविधिरेव । युक्तं चैतत्, सिपण्डी-

कृतानां शस्त्रादिहतानां त्रयाणामि चतुर्दशीरूपविहितकाल सम्भवेऽपि विहितकालसम्भविनवन्धनैकोदिष्टविधेरनवतारात्। अनेनैवाभिमायेणापरार्केणाप्युक्तं—'तत्र चैकस्य शस्त्रहतत्वे एकोदिष्टविधानं न तु त्रयाणां तथात्वे तत्र तु पार्वणमेव' इति । त्रयाणां तथात्वे शस्त्रहतत्वे नैकोदिष्टविधानं, किन्तु पार्वणमेवेति तस्यार्थः। देवस्वामिना तु त्रिष्वापे शस्त्रहतेषु पृथगेकोदिष्टत्रयमेव कार्यं, आहत्य वचनाभावान्न पार्वणिमेत्युक्तम्। यद्तत्र युक्तं तद्गाह्यम्। यत्पुनः शाकटायनेनोक्तं—

जलाग्निभ्यां विषन्नानां संन्यासे वा ग्रहे पथि । श्राद्धं कुर्वीत तेषां वै वर्जियत्वा चतुर्दशीम् ॥ इति, तत् प्रायश्चित्तार्थं विहितजलाग्नचादिकृतमरणयुक्तविषः यम् । ये हि पापमृत्यवः तेषामेव जलाग्नचादिविषन्नानां च-तुर्दशी ग्राह्या,

वृक्षारोहणलोहाचैर्वियुज्ज्वालाविषादिभिः।
निखदंष्ट्रिविपन्नानां तेषां शस्ता चतुर्दशी॥
इति प्रचेतसो वचनेन विद्युज्ज्वालादिसमिभव्याहारेण पापमृत्मूनां चतुर्दशी शस्तत्यवगमात्। एतेषामिष मृताहादौ यच्छाद्धं तत्पाविणविधानेनैव कार्य,—

चतुर्दश्यां तु यच्छ्राद्धं सिपण्डीकरणात्परम् । एकोदिष्टिविधानेन तत्कार्यं शस्त्रघातिनः ॥ इति गार्ग्यस्मरणात् । शस्त्रघातिने यदाऽऽपरपक्षिकश्राद्धं च- तुर्देश्यां कियते, तत्रैवैकोहिष्टिविधानेन नान्यदेत्यर्थः । न च शस्त्रादिहतानां कथि चत्रुर्दश्यितक्रमे विहितकालातिक्रमे श्रा-द्रस्थाकरणमेवेति वाच्यं, प्रशस्ततरकालालाभेऽपि महालय-श्राद्धस्यानुष्ठानमावश्यकामिति पाग्दिश्चितत्वात् । ततश्च शस्त्रहता-नामिष प्रशस्ततरपञ्चमपक्षचतुर्दश्यितक्रमे पार्वणविधानेनैव दि-नान्तरेऽपि कार्यम् ।

सङ्क्रान्तावुपरागे च वर्षोत्सव क्ष्महालये । निर्वपेदत्र पिण्डांस्त्रीन्.... ॥ इति प्रजापतिस्मरणात् । सङ्कान्सादावपि अपुत्रस्यैकोद्दिष्टमेव । यथाऽऽह गर्गः—

अपुत्रा ये मृताः केचित् स्त्रियो वा पुरुषास्तथा। तेपामपि च देयं स्वादेकोहिष्टं न पार्वणम् ॥ इति । स्त्रियो भगिन्यादयः । पुरुषाः भ्रात्रादयः । तथाच सुमन्तुः—

सिपण्डीकरणादूर्ध्व यत्र यत्र प्रदीयते।
भात्रे भगिन्यै पुत्राय स्वामिने मातुलाय च ॥
मित्राय गुरवे श्राद्धमेकोदिष्टं न पार्वणम्।
इति । यत्र यत्र सङ्कान्त्युपरागवर्षीत्सवश्रमहालयगयादौ
भात्रादिभ्यः प्रदीयते तदैकोदिष्टविधानेन कर्तव्यमित्यर्थः।
कात्यायनोपि—

^{*} पर्वोत्सव.

सम्बन्धिवान्धवादीनामेकोदिष्टं तु सर्वदा ॥

इति । यतु जातूकर्ण्येन सपिण्डीकरणं प्रकृत्योक्तं—
अत ऊर्ध्वं न कर्तव्यमेकोदिष्टं कदाचन ।
सपिण्डीकरणान्तं च तत्प्रोक्तमिति मुद्गलः ॥
पेतत्वं चैव निस्तीर्णः प्राप्तः पितृगणं तु सः ।
च्यवते पितृलोकातु पृथिविपण्डेन योजितः ॥
सपिण्डीकरणादूध्वं पृथिवत्वं नोपपद्यते ।
पृथवत्वे तु कृते पश्चात् पुनः कार्या सपिण्डता ॥

इति, यच कार्ष्णाजिनिना—
अत ऊर्ध्व न कर्तव्यमेकोदिष्टं कदाचन।
सिपण्डीकरणान्तं च मेतस्यैतदमङ्गलम्॥

यच यमेन—

यस्सिपण्डीकृतं प्रेतं पृथिक्पण्डेन योजयेत् ।

विधिष्ठस्तेन भवति पितृहा चोपजायते ॥

एकमुद्दिश्य यद्दानं प्रेतकर्म तदुच्यते ।

पितृभ्यो दीयते श्राद्धमाहुस्तत्र द्विजोत्तमाः ॥

इति, यच पुराणे— प्रदानं यत्र यत्रैषां सपिण्डीकरणात्परम् । तत्र पार्वणवच्छाद्धमेकोद्दिष्टं त्यजेद्वधः ॥

इति, तदेतत्सर्वे प्रातिपद्येनैकोदिष्टविध्यभावे द्रष्टच्यम् । ननु-मघायुक्ता तु तत्रापि शस्ता राजन् त्रयोदशी । इति पूर्वोक्तमार्कण्डेयवचनेन मघानक्षत्रयुक्तत्रयोदश्यां यत्पा-शस्त्यमुक्तं तदयुक्तमिव प्रतिभाति ।

> कृष्णपक्षे त्रयोद्दयां यच्छाद्धं कुरुते नरः। पश्चत्वं तस्य जानीयाज्जचेष्ठपुत्रस्य निश्चितम्॥ मघासु कुर्वतः श्राद्धं ज्येष्ठपुत्रो विनश्यति।

इत्यादिवचनैः कृष्णपक्षत्रयोद्यां मद्यानक्षत्रे च श्राद्धानुष्ठाने दोषस्मरणात् । सत्यं, किन्तु प्रागुक्तपाशस्यं मातामहवर्गः सहितिपतृवर्गश्राद्धविषयम्, 'कृष्णपक्षत्रयोद्यम्' इत्यादि दोषाभिधायकवचनं तु केवलिपतृवर्गश्राद्धाविषयमिति विषय-भेदान्मघानक्षत्रयुक्तत्रयोद्याः प्राशस्त्यं युक्तमेव । अत एव समृत्यन्तरम्—

> इच्छेत्वयोदशीश्रादं पुत्रवान्यस्मुतायुपोः । एकस्यैव तु नो दद्यात्पार्वणं तु समाचरेत् ॥

इति । यः पुत्रवान् सुतायुपोरभिद्यद्धिभिच्छेत्स एकस्य वर्गस्य त्रयोदशीत्राद्धं नो दद्यात् । वर्गद्वयस्य पार्वणं समाचरेदि-त्यर्थः । अयमेवार्थः काष्णीजिनिना स्पष्टीकृतः—

श्राद्धं नैवैकवर्गस्य त्रयोद्द्यामुपक्रमेत् । न तृप्तास्तत्र ये यस्य प्रजा हिंसन्ति तस्य ते ॥ इति । तेन वर्गद्वयस्य श्राद्धं कार्यमित्यभिप्रायः । तस्य फल्ले माह शक्कः— भोष्ठपद्यामतीतायां मघायुक्तां त्रयोदशीम् । प्राप्य श्राद्धं तु कर्तव्यं मधुना पायसेन च ॥ प्रजामिष्टां यशस्खर्गमारोग्यं च धनं तथा । नॄणां श्राद्धे सदा पीताः प्रयच्छन्ति पितामहाः ॥ मार्कण्डेयपुराणेऽपि—

प्रजामिष्टं पश्र्नमेध्यांत्स्वातन्त्रयं बुद्धिमृत्तमाम् । दीर्घमायुस्तथैश्वर्यं कुर्वाणस्तु त्रयोदशीम् ॥ इति । मघात्रयोदशीश्राद्धं कुर्वाणः भजादिकं प्रामोतीत्यर्थः । महाभारतमपि—

ज्ञानिनां तु भवेच्छ्रेष्ठः कुर्वन् श्राद्धं त्रयोदशीम् ।
नावश्यं तु युवानोऽस्य प्रमीयन्ते नरा ग्रहे ॥
अत्र मधात्रयोदशीश्राद्धकर्तुः ग्रहे युवानो नरा अवश्यं निश्चितं न प्रमीयन्त इत्यर्थः । अस्मिन् श्राद्धे पिण्डप्रदानं
पुत्रविद्धः पुत्ररहितैश्च न कार्यम्, मधात्रयोदश्याः युगादित्वात् ।
तथाच पुल्रस्त्यः—

अयनद्वितये श्राद्धं विषुवद्वितये यथा ।
युगादिषु च सर्वेषु पिण्डनिर्वापणादते ।।
कर्तव्यीमित शेषः । पुत्रवद्गृहिणा तु पिण्डानिर्वापणं सुतरां
न कर्तव्यं मद्यानक्षत्रान्वितत्वात् ।

सङ्कान्त्यामुपवासेन पारणेन च भारत। मघायां पिण्डदानेन ज्येष्ठपुत्रो विनश्यति॥ SMRITI CHA.—Vol. V. इति पुराणे दोपश्रवणात् । तस्मात्पिण्डमात्रवर्जे वर्गद्वयस्य श्राद्धं मघात्रयोदक्यां पुत्रवद्गृहिणा पुत्रराहितेन वा कर्तव्यम् । न च वाच्यम्—

> श्राद्धं नैवैकवर्गस्य त्रयोद्द्यामुपक्रमेत् । न तृप्तास्तत्र ये यस्य प्रजा हिंसन्ति तस्य ते ॥

इति वचनान्मातामहवर्गस्य पृथगुदेशेन श्राद्धवन्मातृवर्गस्यापि मघात्रयोद्द्यां प्रथगुदेशेन श्राद्धमावद्यकमिति । पृथगुदेशा भावेऽपि मातृवर्गस्य तृशिसम्भवात् । तथाच स्मृतिः—

> न मातृषु पृथक् श्राद्धं मुनिभिर्यत्र कीर्तितम् । पितुः पिण्डोदके साध्वी भुङ्के याऽनपचारिणी ॥

इति । वृहस्पतिरपि—

स्वेन भर्त्रा समं शाद्धं माता भुक्के सदैवतम् । पितामही सदा स्वेन स्वेनैव प्रितामही ॥

इति । सदैवतं श्राद्धं पार्वणश्राद्धिमत्यर्थः । एतत्पसा सह स्त्रीणां सिपण्डीकरणविषयम् । श्वशुरेण सह सिपण्डीकरण-विषये तु तेन सह पार्वणश्राद्धं भुक्के । तथाच शातातपः—

> एकमूर्तित्वमायाति सपिण्डीकरणे कृते । पत्नी पतिपितृणां तृ तस्मादंशेषु भागिनी ॥

इति । पत्युः पित्रा सह सपिण्डीकरणे पत्युः पित्रंशभागिनीति विवेकः । स्मृयन्तरेऽपि— सिपिण्डीकरणाद्धं यत्पित्भ्यः पदीयते । सर्वत्रांशहरा माता इति धर्मेषु निश्चयः॥

सर्वत्रेति वचनान्महालयाख्ये भाद्रपदापरपक्षे गयाख्ये च दे-श्राविशेषे क्रियमाणे पार्वणेऽसन्तर्भातिजनकेऽपि पातुरंशहारि-त्वमस्तीति महालयगयादाविष पुत्रेण मातुः पृथगुद्देशेन श्राद्धं न कार्यमिति गम्यते। अत एव चतुर्विशतिमते—

क्षयाहं वर्जियित्वैकं स्त्रीणां नास्ति पृथिक्त्र्या । इत्युक्तम् । यत्पुनस्तत्रैवोक्तं—

केचिदिच्छन्ति नारीणां पृथक्छ्राद्धं महर्षयः।
इति, तत् यत्र नारीणां पितामह्मादिभिस्सह सपिण्डीकरणं कृतं तद्विषयम्, तत्र पितृपिण्डेप्वंश्वभागित्वाभावात्। एवश्व सांवत्सिरिकश्राद्धादन्यत्र पार्वणश्राद्धेऽपि पित्राग्रुदेशेन क्रियमाणे पद्मादिभिस्सह सपिण्डीकृतानां पृथगुदेशेन श्राद्धं न कर्तव्यम्। पितामह्मादिभिस्सार्धे सपिण्डीकृतानां पृथगुदेशेन श्राद्धं न कर्तव्यम्। पितामह्मादिभिस्सार्धे सपिण्डीकृतानां पृथगुदेशेन श्राद्धं कर्तव्यमिति स्थितम्। कथं तर्दि वृद्धिश्राद्धेऽन्वष्टक्ये च पत्यादिभिस्सह सपिण्डीकृतानामपि मात्रादीनां पृथक्छ्राद्धाननुष्ठानं, अंशहारिणीनां पृथक्छ्राद्धाभावात्। उच्यते,—

अन्वष्टकासु वृद्धौ च प्रतिसंवत्सरे तथा । अत्र मातुः पृथक्श्राद्धमन्यत्र पतिना सह ॥ इति समृत्यन्तरवचनवलात् ,

अन्वपृके तथा मातृश्राद्धे चैव सतेऽहानी ।

एकोहिष्टं तथा मुक्ता त्रिषु नान्यत्पृथग्भवेत् ॥ इति शङ्खवचनवळाच अन्वष्टकादौ पृथगनुष्टानम् । मातृश्राद्धं नान्दिशिद्धम् । एवश्च यत्र श्राद्धं स्त्रीणां पसादिभागहारित्वं न संभवति, सम्भवसपि वचनात्पृथक्छ्राद्धविधानं तिद्धेषयं —

केचिदिच्छिन्ति नारीणां पृथक्छ्राढं महर्षयः । इति चतुर्विशतिवचनिमिति सन्तव्यम् । अपरे त्वेवं मन्यन्ते— एकमृर्तित्वमायाति सिपण्डीकरणे कृते । पत्नी पनिपितृणां तु तस्मादंशेषु भागिनी ॥

इति वचनेन सिपण्डीकरणानन्तरकालं पत्यादिदेवत्ये श्राद्धे मातृणां सहभावेन देवतात्वं भवतियोतन्मात्रं विधीयते। न तु येन सह सिपण्डीकरणं कृतं तद्देवत्ये श्राद्धे सहभावेन देवतात्विमिति, श्रिस्मिन् वचने तथाविधविशेषानवगमात्। अतश्र पितामह्यादिभिस्सह सिपण्डीकृताया अपि मातुने पृथ-क्लाद्धम्। एतच्च मातुरपृथक्लाद्धमनित्यं—

केचिदिच्छन्ति नारीणां पृथक्च्छ्राद्धं महर्षयः । इति चतुर्विशतिमते पृथक्छ्राद्धपक्षस्याप्यभिधानात् । एवञ्चा-न्वष्टकादित्रये मातॄणां श्राद्धं पृथगेव, गयामहालयादिदेशः कालवैशिष्टचानृप्तचाधिक्यापादकश्राद्धे तु पृथक्सह वा स्वभः र्वभिरिति विकल्पो न सर्वत्रामावास्यादिष्वपीति । यदत्र युक्तं तद्गाह्मम् ॥

कन्यागते सवितरि महालयाख्ये पञ्चमापरपक्षे श्रादं

कर्तव्यिमत्युक्तम् । यदा तु कन्यागतत्वाभावः तदा श्रादं न कार्यम् । यदाह ज्योतिःपराश्चरः—

> अर्के नभस्यकन्यास्ये श्राद्धपक्षः प्रकीर्तितः । सिनीवालीमतिकम्य यदा कन्यां त्रजेद्राविः ॥ तदा कालस्य दृद्धत्वादतितैव पितृक्रिया ।

कालस्य वृद्धत्वात् वृद्धियुक्तत्वात् अतीतैव पञ्चमपक्षमितकाः न्तैव पितृक्रियाः, तत्र महालयश्राद्धनिषेधात् । तथाच भृगः—

> एकराशिस्थिते सूर्ये यदा दर्शहयं भवेत् । हन्यकन्यित्रयाहन्ता तदा ज्ञेयोऽधिमासकः ॥ वृद्धिश्राद्धं तदा सोममग्रचाधेयं महालयम् । राजाभिषेकं काम्यं च न कुर्याद्वानुलिङ्चतः ॥

इति । महालयं महालयश्रान्दम् । ज्योतिःपितामहोपि—
पृष्या तु दिवसैर्मासः कथितो वादरायणैः ।
पूर्वार्थं तु परित्यज्य कर्तव्या उत्तरे क्रिया ॥

पष्टिदिनात्मकमासस्य पूर्वार्धे परित्यज्य उत्तरार्धे श्राद्धिकया यथाकालमनुष्टेयेत्यर्थः । ज्योतिःपराक्षरोपि—

यातुधानिषयो मासः कन्यार्के जायते यदा ।
पित्रयं दैवं तथा कर्म उत्तरे मासि युज्यते ॥
यदा कन्यागतेऽर्के यातुधानिषयो मासो जायते असङ्कान्तिको
भाद्रपदो मासो जायते इत्यर्थः । 'नैऋतयातुधानानामसङ्कानितकोऽधिमासः' इति ब्रह्मसिद्धान्ते । नैऋतदिग्वार्तिराक्षस-

सम्बन्धितया असङ्कान्तिकमासस्याभिधानादेवं व्याख्यातम् । उत्तरे मासि युज्यते इत्यस्यायमर्थः —

पष्टचा तु दिवसैर्मासः कथितो वाद्रायणैः।
इति मतानुसारेण भाद्रपदमासस्य द्वैगुण्ये सति त्रिंशदिनस्य
पक्षस्थानीयत्वादुत्तरो मास उत्तरं त्रिंशदिनं पिटिदिनात्मकभाद्रपदमासस्यापरपक्षो भवति । कन्यासङ्कान्तियुक्तश्चेति महालये कर्तव्यं पित्र्यादिकर्म तत्रैव युज्यत इति, तत्रापि
शुक्रपक्षात्कृष्णपक्षः प्रशस्ततर् इति शास्त्रान्तरतोऽवगन्तव्यम्।
यतु तेनैवोक्तं—

मासः कन्यागते भानौ असङ्गान्तो यदा भवेत् । पित्र्यं देयं तथा कर्ष तुल्लास्थे कर्तुरक्षयम् ॥ इति, तत् पूर्वोक्तकाले कथिचच्छ्राद्धस्याकरणे द्रष्टव्यं, पूर्वोक्त-कालापेक्षया जघन्यकालत्वात् ॥

इति स्मृतिचिन्द्रिकायां श्राद्धकालविषयाणिः

अथान्यान्यप्यिमासविषयाणि कानिचिद्रचनानि लिख्यन्ते.

तत्र पैठीनसिः —

श्रीतस्मार्ताः क्रियास्सर्वा द्वादशे मासि कीर्तिताः । त्रयोदशे तु सर्वास्ता निष्फला इति संज्ञिताः ॥ तस्मान्त्रयोदशे मासि कुर्यात्ता न कथश्चन ॥ इति । ताः श्रौतस्मातिकिया इत्यर्थः । त्रयोद्शे मासि अधि-मासीत्यर्थः । अत एव गभिक्तः

न कुर्याद्धिके मासि तस्मिन् कर्म कदाचन।

इति अधिकमासस्य कालमलत्वेन कर्यानईत्वादित्यभिपायः।

तथाच गृह्यपरिशिष्टे—

मलं वदिनत कालस्य मासं कालविदोऽधिकम् । इति । अधिकं मासं कालस्य मलं वदन्तीयन्तयः । एवंविधो मासः कदा भवतित्यपेक्षिते ब्रह्मसिद्धान्त उक्तं—

चैत्रादर्वाङ्गाधिमासः परतस्त्वधिको भवेत् । इति । चैत्रादर्वाङ् कन्यासङ्कान्तिमारभ्येत्यर्थः । अत एव ज्योतिस्सिद्धान्त उक्तं—

धटकन्यागते सूर्ये वृश्चिके वाऽथ धन्विन ।

मकरे वाऽथ कुम्भे वा नाधिमासो विधीयते ॥

कन्यातुलावृश्चिकधनुर्मकरकुम्भगते सूर्ये अधिमासो न संपद्यते,

किन्त्वविश्वष्टराशिगते सूर्ये कदाचित्कालवृद्धौ सम्पद्यत इति

शेपः । तथाच वासिष्टिसिद्धान्त उक्तम्—

द्वातिंशद्विर्गतिर्मासैर्दिनैष्पोडशभिस्तथा । घटिकानां चतुष्केण पतत्यधिकमासकः ॥ अतीताधिकमासादारभ्य द्वातिंशन्मासादुपरिषोडशदिनेषु घटि-काचतुष्टयाधिकेषु गतेष्विधमासो भवतीत्यर्थः । यत्तुं काठक-गृह्येऽभिहितम्— यस्मिन्मासे न सङ्कान्तिः सङ्कान्तिद्वयमेव वा ।

मलमासस्स विज्ञेयो मासे त्रिंशत्तमे भवेत् ॥

इति, तित्विशन्मासादर्वोङ्ग संभवतीत्येवं परम् । यत्तु ब्रह्मसिद्धानेतेऽभिहितम्—

मासद्वयेऽब्दमध्ये तु सङ्कान्तिर्न यदा भवेत् । प्राकृतस्तत्र पूर्वः स्वादिधमासस्तथोत्तरः ॥

इति , अत्र तिंशन्मासाद्र्ष्यं यस्सङ्कान्तिरहितो मासः सोऽधिमासः । ततोर्वाग्योऽसंकान्तो मासः स प्राकृतः नाधिमास
इसेतावन्मात्रं विवक्षितं न पुनः पौर्वापर्यामिति मन्तव्यम् ।
यदा त्वेकस्मित् संवत्सरे असंकान्तमासद्वयं संक्रान्तिद्वययुतो
मासः तत्रापि तिंशन्मासाद्र्ध्वं योऽसङ्कान्तो मासः सोऽधिमासः । शेपौ तु संसर्पोहस्पतिसंज्ञकाविति वोष्टव्यम् । तथाच
बाईस्पत्थे ज्योतिश्रन्थेऽभिहितम्—

यस्मिन्मासे न सङ्कान्तिः सङ्कान्तिद्वयमेव वा। संसर्पोहस्पती मासाविधमासश्च निन्दिताः॥

इति । यस्मिन्मासे चैत्रादर्वाङ्ग संक्रान्तिः संक्रान्तिद्वयमेव वा भवति तौ संसर्पाहस्पतिसंज्ञको मासौ, चैत्रात्परतो योऽसं-क्रान्तो मासः सोऽधिमाससंज्ञकः । एते च त्रयो मासा निन्दिता इत्यर्थः । एतेष्त्रधिमासोऽतिनिन्दितः, कालमलरूप-त्वात्तस्य । तदिप तंत्रैवोक्तं— 'अधिमासोऽतिदुष्टस्स्यात्' इति, अत एवास्य मिलिम्लुचसंज्ञा लघुहारीतेन दार्शता— इन्द्राप्ती यत्र हूयेते मासादिः सम्प्रकीर्तितः । अप्रीषोमौ स्मृतौ मध्ये समाप्तौ पितृसोमपौ ॥ तमतिक्रम्य चान्यस्मिन् मासे गच्छेत्कदाचन । आद्यो मिलिम्लुचो ज्ञेयो द्वितीयः प्राकृतस्स्मृतः ॥

इति । इन्द्राप्ती यत्र हूयेते इत्यनेन वचोभङ्गचा रुष्णप्रतिपत्नि-दिष्टा । अग्रीषोमौ स्पृतौ मध्य इत्यनेन शुक्लप्रतिपिन्निर्दिष्टा । समाप्तौ पितृसोमपावित्यनेनामायास्या । एतेन चान्द्रो मास उपलक्षितः । पूर्वाधिमासादारभ्य त्रिंशन्मासात्परतो यो भवति-तमतिक्रम्यान्यस्मिन्मासे यदा सूर्यो राज्यन्तरं गच्छति तदा पूर्वोसङ्कान्तो मासो मलिम्लुचो ज्ञेयः । उत्तरः ससङ्कान्तिमासः पाक्रतो ज्ञेय इसर्थः । पराशरोपि—

> रिवणा लिङ्कितो मासश्चान्द्रश्वाची मिलम्लुचः। तत्र यद्विहितं कर्म उत्तरे मासि कारयेत्॥

स्मृत्यन्तरेऽपि-

एवं पष्टिदिनो मासः तदर्ध तु मिल्रम्लुचः ।
 त्यक्ता तदुत्तरे कुर्यात्पितृदैवादिकाः कियाः ॥

मिल्रम्लुचमप्यर्धे कासांचित्पितृदेविकियाणामनुष्ठाने न त्याज्य-मिल्राह वृहस्पतिः —

नित्यैनीमत्तके कुर्यात्त्रयतम्स मालिम्लुचे । Smriti Cha.— Vol. V. इति । यस्य नित्यस्याकरणे कालात्ययनिमित्तं प्रायश्चितमा म्नायते, तद्यथा- 'अग्नये पथिकृते पुरोडाशमष्टाकपालं नि-वेपेचो दर्शपूर्णमासयाजी सन्नमावास्यां वा पौर्णमासीं वाड-तिपादयेत्' इति । तथाभूतस्य निसच्च ग्रहणं, न तु नि समात्रस्य । तेन द्र्भपूर्णमासामिहोत्रपञ्चमहायज्ञादेरनुष्ठानं मिलिम्लुचे कर्तव्यं, स्वकालातिकमे प्रायश्चित्ताम्नानात् । ए-वश्च नित्याऽपि सोमयागिकया मिलम्लुचे मासि न कार्या, मिलम्लुचयासातिक्रमेऽपि वसन्तादिकालस्य सोमयागाङ्गभूत-स्थानातिकान्तत्वेनात्र प्रायश्चित्तपाप्तेरसम्भवात् । एवं यस्य नैमित्तिकस्य गृहदाहेष्ट्यादेनिमित्तानन्तरकाले कर्तव्यस्य मा-सान्तरे विहितकालालाभः तथाभूतावश्यकित्याविषय एव म-लिम्लुचे मासि कुर्यादिति विधानम् । जातेष्टचादेनैंमितिक-स्यापि शिशुसंरक्षणार्थं निमित्तानन्तरकालमपहाय कालान्तरे कर्तव्यस्य यथा दशरात्रादिस्तककालमध्येऽनुष्ठानमन्याय्यं, तथा मिलम्लुचकालमध्येऽपीति तस्य न मिलिम्लुचेऽनुष्ठानम् । एवञ्च निसत्वं नैमित्तिकत्वं चाविवक्षितम्। यस्यातिक्रमे प्रायाश्चि-त्तपाप्तिः यस्य च मासान्तरे विहितकालालाभेनावश्यकं म-लिम्लुचेऽनुष्ठानं तत्सर्वं मलिम्लुचे कुर्यादिति बाईस्पसवच-नतात्पर्यार्थः पत्येतव्यः। तथाच स्मृयन्तरे--

अनन्यगति यन्नित्यं कुर्यान्नीमित्तिकं तथा।

इति । गृह्यपरिशिष्टेऽपि--

मलं वदन्ति कालस्य मासं कालविदोऽधिकम् । नेहेतात्र त्वशेषेज्यामन्यत्रावश्यकाद्विधेः ॥

इति । अनेनावक्यको विधिरधिकमासेऽनुष्ठेय इसर्थादुक्तं भव-ति । उक्तं च साक्षादिप तत्रैव--

> अवषट्कारहोमाश्च पर्व चाग्रयणं तथा । मल्रमासे तु कर्तव्यं.....॥

इति । अवषट्कारहोमाः अग्निहोत्रौपासनवैश्वदेवाद्यः । पर्व दर्शपूर्णमासौ, पार्वणस्त्थालीपाकश्च । आग्नयणमाग्नयणेष्टिः । यद्यप्याग्नयणं 'वर्णासु क्यामाकैर्यजेत' इति मासद्वयात्मकव-पीष्टयतौँ विहितं तत् अमलिम्लुचमासेऽपि तत्कालसम्भवा-दनन्यगतिकं न भवति । तथाऽपि दुर्भिक्षे नवश्यामाकव्यतिरि-क्तधान्यासम्भवे जीवनार्थं नवक्यामाकान्नभोजनमकृताग्रयणेना-कर्तव्यामित्याग्रयणानुष्ठानं जीवनार्थमावक्यकामिति युक्तमुक्तमा-ग्रयणं तथेति । यदा तु दुर्भिक्षामावादनावक्यकं तदाऽधि-मासे नवक्यामाकाग्रयणं न कर्तव्यम् । अनेनैवाभिन्नायेण पै-ठीनसिना—

सङ्घान्तिरहिते मासि कुर्यादाग्रयणं न वा । इति विकल्प उक्तः । अन्यान्यापि कानिचित् मिलिम्लुचे कार्याणीत्युक्तानि यमेन— गर्भ वार्श्विषके मृत्ये श्राद्धकर्षणि मासिके।
सिपण्डीकरणे नित्ये नाधिमासं विवर्जयेत्॥
तीर्थस्नानं जपो होमो यवत्रीहितिलादिभिः।
जातकर्मान्सकर्माणि नवश्राद्धं तथैव च॥
मखात्रयोदशीश्राद्धं श्राद्धान्यिप च पोडशः।
चन्द्रसूर्यग्रहे स्नानं श्राद्धं दानं जपादिकम्॥
कार्याणि मलमासेऽपि नित्यं नैमित्तिकं तथा।
इति। गर्भे गर्भनिमित्तके गर्भमात्रमयुक्तचा विहिते पुंसवन-सीपन्तादिक इति यावत्। वार्थिषके—

अशीतिभागो द्याद्धिसस्यात् मासि मासि सवन्धके ।
इत्यादिवचनोक्तद्यद्विग्रहणे । भृत्ये संवत्सरादिपर्यन्तकालकृते
भृत्ये । मासिके श्राद्धकर्मणि, अमावास्याश्राद्धकर्मणीत्यर्थः ।
अन्ये तु मन्यन्ते—अमावास्याश्राद्धं त्रयोदशेऽपि मासि ऋश्य
शृङ्गवचनेन निपिद्धम्, तेन मासिकशब्दो नामावस्याश्रद्धमाह, किंतु मथमसंवत्सरिविहितमासिकश्राद्धमाहेति । ऋश्यशृङ्गवचनं चैवं पटन्ति—

संवत्सरातिरेको वै मासो यस्स्यात्त्रयोदशः। तस्मात्त्रयोदशे श्राढं न कुर्यादिन्दुसंक्षये॥ इति । अपरे तु—

तस्मान्योदशं श्राद्धं न कुर्यान्नोपतिष्ठते। इति पठन्ति । अयमेव पाठो युक्तः । इन्दुसंक्षय हति पाठे पि- ण्डपितृयज्ञवत्तद्नन्तरमवश्यानुष्ठेयस्यामावास्याश्राद्धस्य प्रतिषेधा-नर्हस्य प्रतिषेधभसङ्गात्,

> जातकर्मणि यच्छ्राद्धं दक्षिश्राद्धं तथैव च । प्रतिसंवत्सरं यच पूर्वमासे प्रकीार्ततम् ॥

इति वचनिवरोधप्रसङ्गाच । तस्मात् 'श्राद्धकर्मणि मासिके' इत्यनेन अमावास्याश्राद्धमुक्तमिति व्याख्यानमेव युक्तम् । ऋस्यगृङ्गवचनार्थ उपिष्टाद्भविष्यति । नित्ये नित्यदाने । हो-मोऽत्रौपासनहोमः, 'यवत्रीहितिलादिभिः' इति तत्र होतव्य-द्रव्यानुवादात् । अन्त्यकर्माणि दहनोदकपिण्डदानास्थिसञ्चय-नादीाने । शेषं व्यक्तम् । जातकर्मग्रहणं जातश्राद्धादेरुपल-क्षणार्थम् । अत एव स्मृत्यन्तरम्—

> श्राद्धजातकनामानि ये च संस्कारसत्रताः। मिल्रम्लुचेऽपि कर्तन्या इष्टीः काम्याश्च वर्जयेत ।

संस्काराः अन्नपाशननिष्क्रमणादयः। सत्रता जनार्दनशयना-दारभ्य यावदुत्थानं धारणपारणादिकं करिष्यामीत्येवं स-क्कलपसहिताः। काम्या इति ग्रहणं काम्यपशुवन्धादिकमों-पलक्षणार्थम्, सर्वेषामपि काम्यानामनावश्यकत्वेन वर्जनीय-त्वात्। अत एव हारीतः—

> अधिमासे न कर्तव्यं श्राद्धमभ्युद्यं तथा। तथैव काम्यं यत्कर्म.....॥

इति । यत्काम्यं कर्म इष्टचादिकं तत्सर्वमिधमासे न कर्तव्य-

मित्यर्थः । आभ्युद्यिकं श्राद्धं चूडाकरणात्पाक्तनसंस्कारेषु विहिताभ्युद्यिकश्राद्धव्यतिरिक्तं द्रष्टव्यं, जातकमीदौ विशेष्णाभ्युद्यिकश्राद्धविधानस्य पूर्वमेव प्रदर्शितत्वात् । अन्यास्यपि च वर्ज्यान्याह द्रद्धमनुः—

अग्नचाधेयं प्रतिष्ठां च् यज्ञदानव्रतानि च । वेदव्रतवृषोत्सर्गचूडाकरणमेखलाः ॥ माङ्गल्यमभिषेकं च मलमासे विवर्जयेत् । बाले वा यदि वा वृद्धे शुक्रे चास्तमुपागते ॥ मलमास इवैतानि वर्जयेदेवदर्शनम् ।

इति । 'अग्रचायेयं प्रतिष्ठां च यज्ञदानत्रतानि च' इत्यत्र अनावश्यकत्वे सतीति विशेषो द्रष्ट्वः । तेन मलमासेऽपि प्रायाश्चित्तभूतमग्रचायेयमग्रचनुगत्यनन्तरं कर्तव्यं न प्रतिषिध्यते । एवं प्रायाश्चित्तभूतसंसर्गेष्टचादियज्ञो न प्रतिषिध्यते । एवं प्रायाश्चित्तभूतसंसर्गेष्टचादियज्ञो न प्रतिषिध्यते । यद्यत्प्रायश्चित्ते देयमिति प्रायश्चित्तदानं च 'ब्राह्मणं तु वसत्ये नापरुन्ध्यात्' इत्यादिव्रतं च । वृषोत्सर्गस्य नैकादशाहिकस्य प्रतिषेधः, पोडशश्चाद्यादिवत्तस्यापि त्रेतोषकारकत्वात् । शुक्रास्तमयादाव- प्यनावश्यकत्वे सत्येव अग्रचाधयादि प्रतिषिध्यते । भलमास इत्येवाभिधानात् । 'वर्जयद्देवदर्शनम्' इति प्रतिषधः प्रथमदर्शनविषय एवेसाहुः । हारीतोषि—

.... वत्सरात्प्रथमादते ।

सिपण्डीकरणादूर्ध्वं यितकश्चिच्छ्राद्धकं भवेत् ॥ इष्टं वाऽप्यथ वा पूर्त तन्न कुर्यान्मिलम्लुचे ।

इति । सिपण्डीकरणाद्ध्वे यत्त्रथमसंवत्सरे प्रतिमासं पुनः क्रियमाणं त्रैपुरुषिकं मासिकं श्राद्धं तन्मिलम्लुचेऽपि मासे कार्यीमिति वक्तुं 'वंत्सरात्त्रथमाद्यते ' इत्युक्तम् । अस्मिन्नेव विषये वसिष्ठोपि—'संवत्सरमध्येऽधिमासो भवेत् मासिकार्थं दिनमेकं द्यद्धं नथेत्' इति । स्मृत्यन्तरेऽपि—

संवत्सरे विद्यद्वेऽपि मितमासं च मासिकम् । इति । सपिण्डीकरणात्मात् कियमाणमासिकविषये तु गभस्ति-नोक्तम्—

एकोहिष्टं तु यच्छ्नादं तन्निमित्तिकमुच्यते ।
तत्कार्यं पूर्वमासे च कालाधिक्येऽपि धर्मतः ॥
इति । चशब्दादुत्तरमासेऽपि कार्यमिति गम्यते । तदेतत् सपिण्डीकरणात्प्राक्तनमासिकविषयं, एकोहिष्ट्रक्षपमासिकविषयत्वात् । यतु ऋश्यशृङ्गेणोक्तम्—

संवत्सरातिरेको यो मासश्चेव त्रयोदशः । असुराणां तु मासोसौ तस्माद्देवविगर्हितः ॥ तस्मात्त्रयोदशं श्राद्धं न कुर्यान्नोपतिष्ठते । इति, तत् सपिण्डीकरणात्प्राक्तनमासिकेपु सपिण्डीकरणा त्प्राक्कथिञ्चदकृतेषु वचनवस्रात्सपिण्डीकरणादूर्ध्वमनुष्ठातव्येष्वे- कोहिष्टेषु प्रतिमासं क्रियामाणेषु त्रयोदशे मासि प्राप्तमासि कथ्राद्धाविषयम् । विगिर्हिते मासि प्रतिप्रसवमन्तरेण क्रिय माणं यतो नोपतिष्ठते अतस्त्रयोदशं श्राद्धं न कुर्यादित्यर्थः । अस्य वचनस्योक्ता विषयव्यवस्था देवस्वामिना दार्शता— 'यस्य तारतम्याच्छीघ्रतरमुपस्थिते पिण्डोपतृयज्ञादौ देशका छानुरोधतो द्रव्यब्राह्मणाभावात् पोडशश्राद्धान्यकृत्वा संवन्सरादर्शक् सपिण्डीकरणं कृतं, तस्य कृतेऽपि सपिण्डीकरणं—

मासिकं चोद्कुम्भं च देयं तस्यापि वत्सरम्।
इति वाक्यात् यदा त्रयोदशं श्राद्धं प्राप्तमासिकाख्यं मे
तश्राद्धं तदनेन ऋदयगृङ्गवाक्येन निषिध्यते' इति ग्रन्थेन।
एवंच त्रयोदशमासशालिनि संवत्सरे प्रमीतस्य मासिकानि
श्राद्धानि त्रयोदश भवन्ति। यदा तृ द्रव्यत्राह्मणाद्यलाभेन
सिषण्डीकरणादृध्वभेव मासिकश्राद्धानि क्रियन्ते तदा तानि
द्वादश भवन्तीति मन्तव्यम्। एवश्च यत्कैश्चिदुक्तं—संवत्सरिवमोकान्तमानुमासिकानि कुर्वन्मलमासे नैव कुर्यादुत्तरे कुर्यादेव। संवत्सरान्ते सिषण्डीकरणं संवत्सरिवमोकं च
यथाकालं मासिकानि कुर्वन्निष् मलमासे नैव कुर्यादुत्तरे
कुर्यादेवेति, तत्

'मासिकार्यं दिनमेकं दृद्धिं नयेत्' संवत्सरे विदृद्धेऽपि प्रतिमासं च मासिकम् । पूर्वमासे च कर्तव्यं कालाधिक्येऽपि धर्मतः ॥ इति वचनद्वयाद्श्वनिवन्धनिमत्युपेक्षणीयम् । मासिकश्राद्धाः भिप्रायेण दृद्धविसष्ठेनाष्युक्तं—

> श्राद्धीयाहिन संप्राप्ते अधिमासो भवेद्यदि । श्राद्धद्वयं प्रकुर्वीत एवं कुर्वन्न मुह्यति ॥

इति । श्राद्धद्वयं प्रकुर्वीत अधिमासे तदुत्तरमासे च मासि-कश्राद्धं प्रकुर्वीतेत्यर्थः । यतु ज्योतिःपराशरेणोक्तं—-

> उपाकर्म तथोत्सर्गः पसवाहोत्सवाष्टकाः । मासवृद्धौ पराः कार्याः वर्जियत्वा तु पैतृकम् ॥

इति, पराः कार्याः उत्तरे मासि कार्या इत्यर्थः । तत्र प्रसवाहोत्सवशब्देन जातेष्टिरेव गृह्यते । न पुनराभ्युद्यिकं श्राद्धं जातकर्म च, तयोरापे ग्रहणे—

श्राद्धजातकनामानि ये च संस्कारसत्रताः ।

मिलम्लुचेऽपि कर्तव्या इष्टीः काम्याश्च वर्जयेत् ॥

इति स्मृतिविरोधापतेः । पैतृकशब्देन सांवत्सरिकरूपं गृह्यते

न तु सामान्यम् ।

प्रतिसंवत्सरश्राद्धे नाधिमासं विवर्जयेत् । मल्लमासेऽपि कर्तव्यं श्राद्धं यत्प्रतिवत्सरम् ॥ प्रतिसंवत्सरं यच पूर्वमासे प्रकीर्तितम् ।

इत्यादिवचनेपु तस्यैव स्पष्टमभिधानात् । सर्वाण्येतानि वच-नानि मल्लमासमृतस्य पुनर्मलमासमाप्तौ द्रष्टव्यानि, Smrit Cha.—Vol. V. मासपक्षतिथिसपृष्टे यो यस्मिनिम्नयतेऽहिन । पस्रब्दं तु तथाभूतं क्षयाहं तस्य तं विदुः ॥

इति स्मरणात् । एवश्च मलमासमृतस्य मलमाससम्भवे सित मलमासस्प्ष्ट एव मृताहः तथाभूतो न त शुद्धमासस्प्ष्ट इति मलमासगतक्षयाह एवाब्दिकश्राद्धं कर्तव्यम् । न त शुद्धमासगतक्षयाहे, अतथाभूतत्वात् । मलमासासमभवे त गुणलोपन्यायात् मलमासास्पृष्टेऽपि क्षयाहे मृताहश्राद्धं कर्तव्यमेवेत्यवगन्तव्यम् । यत्तु सत्यव्रतेनोक्तं—

वर्षे वर्षे तु यच्छ्राद्धं मातापित्रोर्मृतेऽहिन । मलमासे न कर्तव्यं व्याघ्रस्य वचनं यथा ॥

इति, तत् अधिकमासादन्यत्र मृतस्य मृताहश्राद्धविषयम् । शुद्धे मासि मृतस्य शुद्धमासस्पृष्ट एव मृताहः तथाभूतो न तु मल्लमासस्पृष्टः, मल्लमासगतक्षयाहस्याविहितकाल्लस्वात् । अत एव पैठीनसिः—

> मलमासे मृतानां तु श्राद्धं यत्प्रतिवत्सरम्। मलमासे तु कर्तव्यं नान्येपां तु कथश्चन॥

इति । अन्येषां मलमासादन्यत्र मृतानामित्यर्थः । मलमासेऽ-पि कर्तव्यं तत्रैव विहितकालसद्भवादित्यभिषायः । भृगुरपि-

> मल्रमासमृतानां तु श्राद्धं यत्प्रतिवत्सरम् । मल्रमासेऽपि तत्कार्यं नान्येषां तु कथञ्चन ॥

यतु वृद्धवासिष्ठेनोक्तं-

श्राद्धीयाहिन संप्राप्ते अधिमासी भवेद्यदि । श्राद्धद्वयं प्रकुर्वीत एवं कुर्वन्न मुह्याति ॥

इति, न तत् सांवत्सिरिकश्राद्धविषयं, सांवत्सिरिकश्राद्धे उत्तरे मासि मलमासस्पृष्टक्षयाहासम्भवात् । तेन मासिकश्राद्धविष यमेतद्वचनम् । एवञ्च मासिकश्राद्धं मलमासे उत्तरमासे च कार्यम् । सांवत्सिरिकं त्वन्यत्रमासे, तत्र मलमासमृताना माद्यमासे तदन्यमासमृतानामुत्तरे मासीत्यनुसन्धेयम् । 'ना-न्येषां तु कथञ्चन' इति योऽयं मित्रपेधः स तु प्रथमाञ्दि-कच्यतिरिक्तविषयः, प्रथमाञ्दिकस्य मलमासे वचनवलेन कर्त-च्यत्वात् । तथाच हारीतः—

असङ्कान्तेतु कर्तव्यमाब्दिकं प्रथमं द्विजैः।

इति । समृत्यन्तरेऽपि-

आब्दिकं प्रथमं यत् स्वात्तत्कुर्वीत मिलम्लुचे । इति.

त्रयोदशे च संप्राप्ते कुर्वीत पुनराब्दिकम्।।

पुनराब्दिकं प्रथमाब्दिकं त्रयोदशे उत्तरे मासि संप्राप्ते कु-वीतेत्यर्थः । लघुहारीतोऽपि—

प्रत्यब्दं हादशे मासि कार्या पिण्डिकिया द्विजैः।

क्विचित्त्रयोदशेऽपि स्वादाद्यं भ्रुक्त्वा तु वत्सरम् ॥

पिण्डिकिया मृताहश्राद्धिकया हादशे मासि परिपूर्णे सित

त्रयोदशे मासीति यातत् । क्वचिद्धिमासयुक्तसंवत्सरे त्र-योदशे मासि परिपूर्णे सति चतुर्दशे मास इति यावत् । आद्यमाब्दिकं त्वधिमासवत्यपि संवत्सरे द्वादशे मासि परि-पूर्णे सति कार्यम्, त्रयोदशे मासि कार्यमित्यर्थः । यत्तु शातात्रेनोक्तं—

एकसंज्ञो यदा मासौ स्यातां संवत्सरे कचित्। तत्राद्ये पितृकार्याणि देवकार्याणि चोत्तरे॥ इति, यच पेठीनसिना—

> द्वौ मासोवकनामानौ स्थातां संवत्सरे यादि । पूर्वे तु पितृकार्याणि देवकार्याणि चापरे ॥

इति, तत् येपां पितृकार्याणां मिल्म्लुचे विधिः, येपां च देवकार्याणामुत्तरे मासि विधिः, तथाविधपितृदेवकार्यपर पित्यवगन्तव्यम् । यद्यप्यसङ्कान्तिः सङ्कान्तिद्वययुतो वा संस-पंसंज्ञोंऽहस्पातिसंज्ञश्च मासः कदाचिचैत्रादर्वाग्भवति, तथाऽ-पि तत्र न पूर्वोक्तविधिनिपेधवचनानि विधायकानि निपेध-कानि वा, तेपां वचनानामधिमासविषयत्वात् । न च संस-पंहिस्पातिसंज्ञकाविधमासंौ

चैत्रादर्वाङ्गाधिमासः परतस्त्वधिको भवेत् । दृष्टा हि सर्वेशास्त्रेषु तस्मिन्मूर्तिस्त्रयोदशी ॥ इति वचनेन चैत्रात्परत एवाधिमासस्मरणात् । तास्मिन् चैत्रादुत्तरत्रेव त्रयोदशी मूर्तिरिधमासमूर्तिः सर्वगणितशास्त्रपु यतो दृष्टेत्यर्थः । एवञ्च संसर्पीहस्पतिसंज्ञकौ न कर्मानर्हकाः लौ किंतु प्रशस्तावेवेति मन्तन्यम् ॥

इति स्मृतिचन्द्रिकायां अधिमासविषयाणि

अथान्यान्यपि मृताहविषयाणि कानिचिद्रचनानि लिख्यन्ते.

तत्र गर्गः-

विवाहादौ स्मृतस्सौरो यज्ञादौ सावनस्स्मृतः।
आब्दिके पितृकार्येऽपि चान्द्रमासः प्रशस्यते॥
यज्ञादौ माससंवत्सरसाध्ययज्ञवतप्रायश्चित्ताक्रियादिष्वित्यर्थः।
तत्र माससाध्ययज्ञाः 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत, मासं वैश्व
देवेन' इस्रेवमादिवाक्यैः विहिताः। माससाध्यव्रतानि मासोपवासादीनि। माससाध्यप्रायश्चित्तीक्रयास्तु—

गोष्ठे वसन् ब्रह्मचारी मासमेकं पयोत्रतः। गायत्रीजपनिरतो मुच्यते स प्रतिब्रहात्॥

इत्यादिवाक्यविहिताः। संवत्सरसाध्या यज्ञाः गवामयनाद्या-स्सत्रयागाः। संवत्सरसाध्यत्रतानि तु 'नाश्रीयात्' इत्या-दिश्रुतिविहितानि। संवत्सरसाध्याः प्रायश्चित्ताक्रियाः द्वाद-श्रवार्षिकाद्या द्रष्टच्याः। आब्दिके सांवत्सरिकश्राद्धे। पि- तृकार्ये पाण्मासिकश्राद्धादौ । अपिशब्दान्माससंवत्सरसाध्ये यज्ञव्यतिरिक्ते सर्वस्मिन् देवकार्ये चान्द्रो मासः प्रशस्यत इत्युक्तम् । उक्तं च पितामहेन—

दैवे कर्मणि पित्रचे च मासश्चान्द्रमसः स्मृतः। इति । कः पुनेभेदश्चान्द्रसावनसौराणामित्यपेक्षिते ब्रह्मसिद्धान्त उक्तं—

दर्शाद्दर्शश्चान्द्रस्त्रिंशद्दिवसस्तु सावनो मासः । रविसङ्कान्तिकचिद्धस्सौरो मासो निगद्यते तज्ज्ञैः॥ अस्यार्थः स्मृयन्तरे स्पष्टीकृतः—

चान्द्रः शुक्कादिदर्शान्तः सावनस्त्रिशता दिनैः। एकराशौ रविर्यावत्कालं मासस्स भास्करः॥

शुक्कप्रतिपदादिदशन्तिश्चान्द्रो मास इत्येतहाक्षणापथे द्रष्टव्यम्। उत्तरापथे तु रुष्णप्रतिपदादिपौर्णमास्यन्तः चान्द्रो मास इति वेदितव्यः, तत्र पौर्णमास्यन्ते चान्द्रमासव्यवहारात्। अत एव द्विविधचान्द्रमाससङ्गहार्थ-

यिसन्मासे दिने यस्मिन्विपत्तिरुपजायते ।
पर्वान्तस्स तु विज्ञेयो मासो नैमित्तिकं प्रति ॥
इति गार्ग्येण पर्वान्त इति सामान्येनोक्तम् । नैमित्तिकं
प्रतिसांवत्सिरिकश्राद्धं प्रतीत्यर्थः । दिने तु विज्ञेषः स्मृत्यनतरे दार्शितः—

मासपक्षतिथिसपृष्टे यो यस्मिन् म्रियतेऽइनि ।

पत्यब्दं तु तथाभूतं क्षयाहं तस्य तं विदुः ॥ इति । तिथिशब्देन चान्द्र एवाहोरात्र उच्यते । न तु सौ-रस्सावनो वाऽहोरात्रः, 'तदाद्यास्तिथयो द्वयोः' इत्यमरासि-हेन चान्द्राहोरात्रेष्वेव तिथिशब्दानुशासनात्। तदाद्याः प्र-तिपदाद्याः तिथिशब्दाभिधेया इत्यर्थः । कः पुनः सावनसौ-रचान्द्राहोरात्राणां भेद इत्यपेक्षिते ब्रह्मसिद्धान्ते उक्तं—

सावनं स्वादहोरात्रमुद्यादोद्याद्रवेः।

सौरिक्षंशस्तु राक्ष्यंशः तिथिस्सयोगमैन्दवम् ॥ मेषादिराशेः त्रिंशमंशं यावता कालेन रविर्भुक्के तावान् कालस्तौरः अहोरात्रः। प्रतिपदादितिथिपरिमितः कालश्चान्द्रः अहोरात्र इत्यर्थः । स च सावनाहोरात्रवत् सूर्योदयादारभ्य पुनस्सूर्योदयपर्यन्तो यदा भवाते तदा सम्पूर्ण इति नि-गद्येत ।

> प्रतिपत्प्रभृतयस्सर्वा उदयादोदयाद्रवेः। सम्पूर्णो इति विख्याताः।।

इति स्मरणात्। यदा त्वेवम्भूतो न भवति तदा खण्डति-थिरिति ब्यतिरेकाद्गम्यते । प्रत्यब्दं मरणमासपक्षतिथिसपृष्ट-कालाभावेऽपि तत्सदशकाल एवाव्दिकश्राद्धकाल इति वक्तं,

पत्यब्दं तु तथाभूतं क्षयाहं तस्य तं विदुः। इत्युक्तम् । तथाभूतं मरणमासपक्षतिथिस्पृष्टकालसदशमित्यर्थः -यदा पुनर्दिनद्वयं तथाभूतं पूर्वदिने तु कर्मकाले तिथियोगः, उत्तरादिने तु कर्मकाले तिथियोगाभावः तदा पूर्वमहः श्राद्ध-काल इत्याह सुमन्तुः—

> द्वियहच्यापिनी चेत्स्वान्मृताहस्य तु या तिथिः। पूर्वस्यां निर्वपेतिपण्डिमित्याङ्गिरसभापितम् ॥

पूर्वस्थां पूर्वदिनव्यापिन्यामित्यर्थः । अनेन पूर्वदिने चतुर्थः महरोत्तरार्धव्यतिरिक्तापराक्षे तिथियुक्तममय एव सांवत्सिरिक्शाद्धं कार्यमित्युक्तं भवति । यदा तु पूर्वदिने चतुर्थमहर्गेत्तरार्धव्यतिरिक्तेऽपराक्षे चरममुहूर्ते तिथियोगः तदा उत्तरः दिने कुतपादारभ्य मुहूर्तपञ्चके मृततिथियुक्तेऽपि पूर्वदिने तिथियोगसमये श्राद्धमुपक्रम्य रात्रेः प्रागेव समापनीः यं, स्वकालोपक्रान्ते कर्मणि कालान्तरेऽप्यविलम्बेन तत्समा पनस्य विधिनाऽऽक्षिप्तत्वात् । एवश्च यद्वचान्नपादचनं—

विधिज्ञः श्रद्धयोपेतः सम्यक्पात्रनियोजकः । रात्रेरन्यत्र कुर्वाणः श्रेयः प्राम्नोत्यनुत्तमम् ॥

इति, तत् स्वकालोपकान्तश्राद्धाविषयमिसवगन्तव्यम् । तदेतत्स-विमिमसन्धायापरार्केणाप्युक्तम्— 'सांवत्सिरकादिश्राद्धं तिथि-युक्तेऽपराह्मकाले यत्रकुत्रचित्कार्यम् । सा चेत्सायाह्मात्रव्या-पिनी स्थात् तदा सायाह्म एव व्याघ्रपादवचनवलेन श्राद्धं कार्यम् । न पुनरुद्यव्यापिन्यामपराह्मपर्यन्तायाम् ' इति । यदा तु पूर्वदिने कर्मकालासंस्पर्धिन्यप्यस्तगामिनी तिथिः उत्तरिदेने कर्मकालसंस्पर्धिन्यनस्तगामिनी तदाऽपि पूर्वमेवाहः श्राद्ध- कालः 'श्राद्धादावस्तगामिनी' इति स्मरणात् । अस्तगामि नी तिथिः सांवत्सिरिकश्राद्धादौ ग्राह्यत्यर्थः । न च पूर्ववद त्रापि तिथियुक्तसमये श्राद्धमुपक्रम्य रात्रेः प्राक्समापनं युक्तं, चतुर्थप्रहरोत्तरार्थस्य श्राद्धकालत्वाभावात् । तथाचोक्तं मत्स्यपुराणे—

उध्वं मुहूर्तात्कुतपायन्मुहूर्तचतुष्टयम् ।

मुहूर्तपञ्चकं ह्येतत् स्वधाभवनमिष्यते ॥

इति । कात्यायनेनाप्युक्तं—

वासरस्य तृतीयेंऽशे नातिसन्ध्यासमीपतः ।

इति । न चात्र चतुर्थपहरोत्तरार्थव्यतिरिक्तापराह्नकाले तिथियोगासम्भवेन तिथियुक्तापराह्नकालाभावादननुष्ठानमेव श्राद्धस्थेति वाच्यम् । यदाह नारदीयपुराणे वसिष्ठः—

पारणे मरणे नॄणां तिथिस्तात्काळिकी स्मृता । पित्र्येऽस्तमयवेळायां स्पृष्टा पूर्णा निगद्यते ॥

इति । अस्तमयवेळायां स्पृष्टा मृतातिथिस्तात्तिथौ कर्तव्ये पित्र्ये आब्दिकादिश्राद्धे पूर्णो निगद्यत इत्यर्थः । अस्तमयवेळायां स्पृष्टेत्यनेनास्तमयसमये कळामात्रसद्भावेऽपि मृततिथेः पूर्णत्व- मृत्तिविधः पूर्णत्व- मृत्तिविधः पूर्णत्व- मृत्तिविधः पूर्णत्व-

दिनान्ते पञ्चनाड्यस्तु पुण्याः त्रोक्ता मनीपिभिः। उदये च तथा पित्रये देवे चैव च कर्भणि।।

इति, पित्र्ये कर्मणि कालत्वेन चोदिततिथिसम्बन्धिन्यो दि-Smriti Cha.—Vol. V. नान्ते वर्तमानाः पञ्च नाड्यः पुण्याः ततः प्राक्तननाहाँनां तिथियोगजन्यपुण्यापादिकाः न त ततो न्यूनाः । देवे कर्मणि काछत्वेन चोदितातिथिसम्बन्धिन्य उद्ये सति वर्तमानाः पञ्च नाड्यः पुण्याः तत उपरितननाडीनामपि तिथियोगजन्यपु-ण्यापादिकाः न ततोन्यूना इति तस्यार्थः। तदेतत्—

प्रतिपद्धनलाभाय द्वितीया द्विपदपदा ।

इत्यादिना—

श्राद्धं कुर्वन्नमावास्यां यत्नेन पुरुपश्शुचिः। सर्वान्कामानवामोति....॥

इत्यन्तेन काम्यश्राद्धकालतया विहितक्षणपक्षप्रतिपदादिति-थिद्वैधविपयं, न तु श्राद्धान्तरकालतया विहिततिथिद्वैधविपयं,

पित्र्यं श्राद्धं कृष्णपक्षं दिनेऽस्तमययोगिनि । इति प्रस्तुत्य तत्रेव विशेषपरत्वाभिधानादस्य वचनस्य । तेन पूर्वोक्तर्वासप्टवचनेन सह न कश्चिद्विरोधः । भविष्यत्पुराणेऽपि-

त्रतोपवासनियमे घटिकैका यदा भवेत्। सा तिथिस्सकला ज्ञेया पित्र्ये चैवापराह्निकी॥

इति । संध्यासमीपस्थापराह्मके घटिकैका यदा भवेत् सार्वे तिथिः पित्र्यर्थे सकला द्वेयेत्वर्थः। एवंचैवंविधविषये—

मारभ्य कुतपे श्राद्धं कुर्यादारौहिणं बुधः। इति वचनार्थ एव कार्यः, तदितिक्रमे कारणाभावात्। ए-कोदिष्टरूपमृताहश्राद्धे तु नवमुहूर्तादुपरितनमुहूर्ते मृतदिनासम्भ वेऽपि मध्याह्मच्यापित्वात् 'सा तिथिस्सकला क्रेया' इति
न्यायेन न कुतपे प्रारभ्य श्राद्धं रौहिणे समापनीयम्।'एकोहिष्टं तु मध्याह्ने' इति स्मरणात्। यदा तु पूर्वदिने अस्तमयात्पूर्वक्षणे तिथियोगः उत्तरदिने त्वस्तमयादुपरि त्रिमुहूर्तयुक्ता तदा उत्तरमाह श्राद्धकालं सुमन्तुः—

उदिते दैवतं भानौ पित्र्यं चास्तमिते रवौ । द्विमुहूर्ता त्रिरहो या सा तिथिईव्यकव्ययोः ।।

अस्यार्थः — उदिते भानौ सस्रहस्सम्विन्ध्यनी दैवकर्माङ्गभूता तिथियो द्विमुहूर्ता भवति सा संपूर्णतिथिवत्कृतस्त्रस्याहो हव्य-दानकालतामापादयति । तेन तिस्मिन्नहिन दैवतं कर्म कुर्यान् । पितृकर्माङ्गभूता तिथिरस्तमिते रवौ सित या त्रिमुहूर्तमन् नुवर्तते सा कव्यदानकालतां स्वसम्बद्धस्याह आपादयति । तेन तत्सम्बद्धेऽहि पैतृकं पितृसम्बन्धि सांवत्सिरकादि श्राद्धं कुर्यादिति । तेनोत्तरदिनेऽस्तमयादुपरि त्रिमुहूर्तानुदृत्त्यभावे अ स्तगामिनी पूर्वतिथिरेव ग्राह्येत्युक्तं भवति । एवञ्च यदुक्तं नारदीयपुराणे—

दर्श च पूर्णमासं च पितुस्सांवत्सरं दिनम् । पूर्वविद्धमकुर्वाणो नरकं प्रतिपद्यते ॥

इति, तत् उत्तरिने अस्तमयादुपिर मुहूर्तत्रयानुवृत्त्यभावे द्रष्ट-व्यम् । यदा तु पूर्वेद्यरस्तगामिनी तिथिने भवति उत्तरेद्यु-रप्यस्तमिते रवौ त्रिमुहूर्तव्यापिनी न भवति किं त्वस्तगा- मिनी भवति तदाऽपि सैव ग्राह्या 'श्राद्धादावस्तगामिनी' इति स्मरणात्। यदा तु दिनद्वयेऽप्यस्तगामिनी तिथिने भवाति तत उत्तरे चुरेवास्तगामित्वरूपगुणाभावेऽपि गुणलोपन्यायेन सांवत्सरिकश्राद्धं कर्तव्यं, तिथिपुक्तापराह्मकालसम्भवात्। अकरणे विहितातिक्रमेण प्रत्यवायापत्तेश्च॥

इति स्मृतिचिन्द्रकायां मृताहविषयाणिः

अथ मासपक्षितिथिसपृष्टमताहापरिज्ञानविषयाणिः तत्र वृहस्पतिः—

न ज्ञायते मृताहश्चेत् प्रमीते पोषिते सित ।

मासश्चेत्प्रतिविज्ञातः तद्दर्शस्त्रान्मृतेऽहिन ॥

यदा मासो न विज्ञातो विज्ञातं दिनमेव तु ।

तदा मार्गश्चिरे-मासि माघे वा ताद्दिनं भवेत् ॥

दिनमासौ न विज्ञातौ मरणस्य यदा पुनः ।

प्रस्थानदिनमासौ तु ग्राह्यौ पूर्वोक्तया दिशा ॥

इति । दिनशब्देन मृतितिथिरेवाधिगन्तव्या । मोषिते पित्रा-दावप्रगलभस्यजनसमीपे प्रमीते सति कालविशेषज्ञानाद्यभावेन मृताहो यदि न विज्ञायेत मासमात्रमेव तु ज्ञातं तदा मृताहे यत्कार्यं तत्सर्वे मृतमासस्यामावास्यायां कर्तव्यिमिति प्रथम-श्लोकस्यार्थः । 'तद्दश्रस्यान्मृतेऽहनि' इसत्र दर्शग्रहणं तन्मा- ससम्वान्धिन्या एकाद्या अपि प्रदर्शनार्थम् । अत एव मरीचिः—

> श्राद्धविघ्ने समुत्पन्ने अविज्ञाते मृतेऽहीन । एकाद्रक्यां तु कर्तव्यं कृष्णपक्षे विशेषतः ॥

पूर्वोक्तया दिशेत्यस्यायमर्थः — यदि न्त्रस्थानमासमात्रं ज्ञातं तदा तन्मासस्यामावास्यायां सांवत्सरिकश्राद्धं कार्यम् । यदि प्रस्थानितथिपक्षावेव ज्ञातौ तदामार्गशीर्षे माघे वा मासि ज्ञान्तपक्षतिथिस्पृष्टदिने कार्यम् । यदा तु त्रस्थानदिनमासाद्यपि न ज्ञातं तदा मरणवार्ताश्रवणमासपक्षतिथिस्पृष्टादिने कार्यम् । 'अपिरज्ञाते अमावास्यायां श्रवणदिने वा' इति प्रचेतसोक्तन्वात् । यदा तु मरणवार्ताश्रवणस्पाप्यभावः तदा त्वाह जातू-कर्ण्यः—

पितिर प्रोपिते यस्य न वार्ता नैव चागितः।
जर्ध्व पश्चद्शाद्वर्पात्कृत्वा तत्प्रतिरूपकम् ॥
कुर्यात्तस्य च संस्कारं यथोक्तिविधिना ततः।
तदादीन्येव सर्वाणि शेपकार्याणि सञ्चरेत् ॥
इति । सर्वाणीति वचनान्मृताहकार्यमपि दहनमासपक्षतिथिस्पृष्टिदिने कर्तव्यमिति गम्यते ॥

इति स्मृतिचन्द्रिकायां मासपक्षतिथिस्पृष्टमृताहापरिज्ञान-विषयाणि

अथ काम्यश्राद्धकालाः.

तत्र विष्णुः—

सङ्गान्तिविषुवे चैव विशेषेणायनद्वयम् । व्यतीपातोऽथ जन्मर्श्व चन्द्रसूर्यग्रहस्तथा ॥ इस्रेतान् श्राद्धकालांस्तु काम्यानाह प्रजापतिः । श्राद्धमेतेषु यद्दतं तदानन्त्याय कल्पते ॥

इति । श्राद्धकालान् काम्यानाहेत्यनेन सङ्कान्त्यादिकाललं भणो गुणः काम्यफलसाधको न पुनः श्राद्धलक्षणं कर्मेति दर्शयति । श्राद्धलक्षणकर्मणस्तु काम्यफलं 'पितृन् श्राद्धेन तर्पयेत्' इति शास्त्रण दर्शितम् । यथा जातेष्टिः पित्रा क्रियमाणा पुत्रस्य पूतत्वादिकं फलं निष्पादयतीति 'पूत एव तेजस्वचन्नाद इन्द्रियावी पश्चमान् भवति' इति शास्त्रप्रमाण्यादाश्चितं, तथा पुत्रादिनाऽपि कियमाणं श्राद्धं तित्पत्रादीनां तृशिरूपं फलं साधयतीति 'पितृंच्छादेन तर्पयेत्' इति शास्त्रप्रमाण्यादाश्चयणीयम् । सङ्कान्त्यादिका-लल्कक्षणगुणसाध्यं फलमत्र श्राद्धसाध्यपितृतृष्त्याश्चितातिशया-चिक्यरूपमिति रात्रिसत्रन्यायेनावगन्तव्यम् ।

श्राद्धेमतेषु यहत्तं तदानन्त्याय करपते । इति वाक्यरोपे श्राद्धसाध्यपितृतृप्तेरानन्त्यश्रवणात् । आन-न्यशब्देन वस्तुत आनन्सासम्भवात् तृष्त्याश्रितातिशया-धिक्यमुच्यते । एवंचैतदुक्तं भवाति—सङ्कान्त्यादौ पितृतुष्त्य- तिशयकाले पुत्रादिना श्राद्धं कार्यामिति । सङ्कान्तिशब्दो गोवलीवर्दन्यायेनात्र विषुवद्वयायनद्वयन्यतिरिक्तसूर्यसङ्कान्तिषु वर्तते । काः पुनर्विषुवादयस्सङ्कान्तय इस्रपेक्षिते ज्योतिर्वसिष्ठः-

> मृगकर्कटस्ङ्कान्ती द्वे तूदग्दक्षिणायने । विषुवे च तुलामेषे तयोर्मध्ये ततः पराः॥

सूर्यसङ्कान्तय इति शेषः । तयोरयनद्वयविषुवद्वययोर्भध्य इ-सर्थः । तत्र दक्षिणायनतदूर्ध्वविषुवयोर्भध्ये द्वे सूर्यसङ्कान्ती विषुवतदूर्ध्वात्तरायणयोर्भध्ये द्वे, उत्तरायणविषुवयोर्भध्ये द्वे, विषुवतदूर्ध्वदक्षिणायनोर्भध्ये द्वे, इसेवमध्ये सूर्यसङ्कान्तयो वेदि-तव्याः । तासु विषुवायनेभ्यः उपरिभवास्तु सङ्कान्त्यन्तरे-णाव्यवहितास्सङ्कान्तयो विष्णुपदसंज्ञिकाः ज्ञेयाः, ताभ्य उप-रिभवास्तु पडशीतिमुखसंज्ञिका ज्ञेयाः । तथाच स एव—

वृषवृश्चिककुम्भेषु सिंहे चैव यदा रिवः।
एतिद्रष्णुपदं नाम विषुवादिधिकं फल्णम्॥
कन्यायां मिथुने मीने धनुष्यपि रवेगितिः।
पडशीतिमुखाः पोक्ता षडशीतिगुणाः फलैः॥

इति । प्रथमश्लोकस्येवं योजना—वृषष्टश्चिककुम्भसिंहेपु यदा रिवस्सङ्क्षमिति तदा तत्सङ्कमणचतुष्टयं विष्णुपदसंज्ञकिमिति । एवं निरूपितविषुवायनविष्णुपदपडशीतिमुखनामकाः कालाः यद्यपि निमेषादिष स्वल्पतराः, तथाऽपि तत्सम्बद्धपूर्वापरका लानुगृहीतास्सन्तो दीर्घकालसाध्यकमीनुष्टानाय विधीयन्त इति नायोग्यत्वपराहता इति मन्तन्यम् । तथाचोक्तं तेनैव— सङ्कान्तिसमयस्सूक्ष्मः दुर्ज्ञेयः पिशितेक्षणैः । तद्योगाचाप्यधश्रोध्वे त्रिशन्नाड्यः पवित्रिताः ॥

इति । एवञ्च सङ्कान्तौ श्राद्धं कुर्यादित्यादिवाक्येषु सङ्का-न्तिशब्दःभिधेयस्क्ष्मकालयोगात्पवित्रितकाले श्राद्धादिकं कर्त-व्यमित्यर्थादवगम्यते । यत्तु ज्योतिर्वृहस्पतिनोक्तं—

> भिवंष्य अयने पुण्याः त्रिंशदेव तु दक्षिणे । अतीत उत्तरे नाड्य इति प्राहुर्मनीपिणः ॥

इति, तस्यायमर्थः—त्रिंशदेव तु नाडिकाः पुण्याधिक्यापादि-काः पवित्रतरा इति यावत् । एवश्च—

तद्योगाच्चाप्यधश्चोध्र्ये त्रिंशन्नाड्यः पवित्रिताः ।

इत्यनेन सह न कश्चिद्विरोधः । 'अतीत् उत्तरे नाड्यः' इत्य-त्रानुषङ्गन्यायेन श्रिंशदिति यद्यपि सम्बन्धः प्रतिभाति, तथाऽ-पि वचनान्तराविरोधाय विंशतिरित्यध्याद्वत्य तेन सम्बन्धः कार्यः । अन्यथा—

> त्रिंशत्कर्कटके नाड्यो मकरे विंशतिस्स्प्रताः । वर्तमाने तुल्लोमपे नाड्यस्तूभयतो दश ॥

इति वसिष्ठवचनविरोधात् । कर्कटके अनागते त्रिंशत् मकरे अतीते विंशतिर्नाड्यः पवित्रतमा इत्यर्थः । अतीतानागते पुण्ये दे तृद्ग्दक्षिणायने । इति तेनैवाभिधानात् । उभयतो दशेखत्रापि पवित्रतमा इति शेषो द्रष्टव्यः । यद्प्यनन्तरं तेनैवोक्तं—

उपगागे च तत्का लमतीते चोत्तरायणे।

इति, तत्र चशब्दादनागतेऽप्युत्तरायणे विंशतिर्नाड्यः पुण्या इति स्चियतुं पुनरतीते चोत्तरायणे इत्युक्तं, न पुनरुत्त-रायणे अतीत एव विंशतिर्नाड्यः पुण्या इति वक्तुमिति न-पूर्वोक्तेन विराधेः । एवश्च दक्षिणायने सङ्कान्तिसमयेऽनागते विंशत्नाड्यः पुण्याधिक्यापादिकाः, उत्तरायणे सङ्कान्तिसमये उभयतो विंशतिर्नाड्यश्च पुण्याधिक्यापादिकाः, विषुवद्वये तु सङ्कान्तिसमये उभयतो दश नाड्यः पुण्याधिक्यापादिकाः इत्यनुसन्धेयम् । यत्तु समृद्यर्थसारेऽभिहितं 'उत्तरायणे पश्चाच-त्वारिशद्घिकाः पुण्याः पूर्वं च चत्वारिशद्घिकाः पुण्या आ-हुः' इति, तस्य मूलं चिन्त्यं, प्रसिद्धसमृतिसम्रदाये तस्य मूल-भूतवचनादर्शनात् । यत्तु मरीचिनोक्तं—ः

> नाड्यष्पोडश पूर्वेण सङ्कान्तेरपरेण च । राहोर्दर्शनमात्रेण पुण्यकालः प्रकीर्तितः ॥

इति, तत्र सङ्कान्तेरिति यद्यपि सङ्कान्तिसामान्यस्यावधित्वं प्रतिभाति, तथाऽपि विषुवद्वयायनद्वयव्यतिरिक्तविषयिमिति सा-मान्यविश्लेषन्यायेनावगन्तव्यम् । अत एव वसिष्ठेनोक्तं—

पुण्याख्या विष्णुपद्यां च प्राक्ष्पश्चादापि षोडश ॥ Smriti Cha.—Vol. V 17 इति । चशब्दात्-

पडशीतिमुखायां च प्राक्पश्चादिष पोडश ॥ इति गम्यते । पुण्याख्याः पुण्यतराख्या इत्यर्थः । यतु ग-र्गेणोक्तं—

भविष्यत्ययने विष्णौ वर्तमाने तथा विषौ ।
पडशीतिमुखे चैव अतीते चोत्तरायणे ॥
इति, विषौ वर्तमाने मध्ये इसर्थः । तत् फलभूयस्त्वाभिषायेण न तु नियमार्थमिति न पूर्वोक्तविरोधः । अतस्समृत्यन्तरं—
मध्ये विपुवति दानं विष्णुपदे दक्षिणायने चादौ ।
पडशीतिमुखेऽतीते उदगयने चापि भूरि फलम् ॥

एवं पुण्यत्वेन पुण्यतमत्वेन चोक्तनाडी ब्विप सङ्कान्तितदिभिः धेयस्क्ष्मसमयसिन्धितारतम्यानुसारेण प्रथमिद्विनीयतृतीयादिः नाडीनां फलातिशयहेतुत्वे तारतम्यमवसेयम् । अत एव विसिष्ठेन—

यायास्तंनिहिता नाड्यः तास्ताः पुण्यतमास्स्मृताः । इत्युक्तम् । यत्पुनस्तेनैवोक्तं—

अहि सङ्क्ष्यणे पुण्यमहः कृत्स्तं प्रकीर्तितम् । इति, तत् अत्यन्तिविष्ठष्टनाडीनां पुण्यत्वं नास्तीति व्यतिरेक मात्रपरमिति मन्तव्यम् ।

तद्योगाचाप्यधश्चोध्वं त्रिंशनाड्यः पवित्रिताः । इसस्य कचिद्विषयेऽपवादमाह स एव --- रात्रौ सङ्कमणे पुण्यं दिनार्ध स्नानदानयोः। इति । व्यवहितमपि दिनार्धमेव पुण्यं न तु संनिहिता रात्रिगता-नाड्यः पुण्या इत्यर्थः। एतज्ञायनव्यतिरिक्तविषयम्। यदाह स एव—

अर्धरात्राद्धस्तस्मिन्मध्याहस्योपिर किया।
ऊर्ध्व सङ्कमणे चोध्वमुद्यात्प्रहरद्वयम्॥
पूर्णे चेद्धरात्रे तु यदा संक्रमणं रवेः।
पाहुदिनद्वयं पुण्यं मुक्का मकरकर्कटौ॥

इति, एतत्तु विष्णुपद्षडशीतिमुखच्यतिरिक्तविषुवमात्रविषयं, विष्णुपद्यां धनुर्मीननृयुक्तन्यासु वे सदा । पूर्वोत्तरगते रात्रौ भानोस्संक्रमणं भवेत् ॥ पूर्वोत्ते पञ्च नाड्यश्च पुण्याः त्रोक्ता मनीिषाभेः । अपराह्मे तु पञ्चेव श्रौते स्मार्ते च कर्मणि ॥

इति विष्णुपद्षडशीतिमुखेपु तेनैवान्यथाभिधानात् । तृयुक् मि-थुनराशिः । पूर्वोत्तरगते पूर्वोत्तरभागस्थे काले । अर्धरात्रे सङ्क-मणे दिनद्वये पश्च नाड्यः पुण्या इत्यूह्यम्, प्रत्यासत्तिविशेषा-भावलक्षणन्यायसाम्यात् । अयनद्वये तु दिवा रात्रौ वा न संनिहितनाडीनां साति सम्भवे परित्यागः । ननु—

रात्रौ स्नानं न कुर्वीत दानं चैव विशेषतः । इत्यादिवचनेन रात्रौ स्नानदानादिानिपेधाद्रात्रावयनेऽपि सात्निहि-तानां नाडीनां परिसागः कार्यः, वक्तव्यो वा विशेषः, उच्यते– राहुदर्शनसङ्गान्तिविवाहात्ययष्टिषु । स्नानदानादिकं कुर्यान्निशि काम्यव्रतेषु च ॥

इतिवचनेन सङ्कान्सादाविप प्रतिप्रसवस्तावदिस्ति । न चायं प्रतिप्रसवः सङ्कान्तिषु युज्यते, अयनद्वयव्यतिरिक्तसङ्कान्तौ रात्रौ गतायां दिन एव सङ्कान्तिकृत्याभिधायकवचनविरोधाः पत्तेः । तेनायनद्वयविषय एवायं प्रतिप्रसव इति कल्पनीयम्। तस्मादयनद्वये रात्रावािप न संनिद्दितनाडीनां परित्यागः ॥

प्रकृतमुच्यते—सङ्कान्सादयः काम्याः श्राद्धकालाः सित सम्भवे कुतपादिश्राद्धकालेन सह समुचीयन्ते, सित सम्भवे सर्वेषां श्राद्धाङ्गानामुपसंहारस्यावश्यकत्वात्। असम्भवे तु चन्द्रसूर्यग्रहण वदसमुच्चयेऽपि न फलिसिद्धिविरोधः, असंभवादिना अङ्गानतु-ष्टानस्य विध्यतुमतत्वात् । व्यतीपातयोगस्तु कुतपादिकाल-योगी ग्राह्यः, सम्भवात् । जन्मनक्षत्रं कुतपादिकालयोगि सित सम्भवे ग्राह्मम्। कृष्णपक्षे तु अस्तमयव्यापिनक्षत्रयु-किदिनं ग्राह्मम् । नक्षत्रं तु श्राद्धार्थे यदा दिनद्वयव्यापि शुक्लपक्ष औदयिकं 'यत्पूर्वोह्णव्यापि तद्भाह्यम्' इति देवस्वा-मिनोक्तत्वात् । चन्द्रसूर्यग्रहे तु ग्रहणकाल एव श्राद्धं कर्तव्यं,

त्रिद्शाः स्पर्शसमये तृष्यन्ति पितरस्तथा ।

मनुष्या मध्यकाले तु मोक्षकाले तु राक्षसाः ॥
देवकार्ये पितृकार्ये च ग्रहणकालाविधानात् । मार्कण्डेयपुराणेऽ
पि काम्यश्राद्धकाला दार्शिताः—

कुत्तिकासु पितृनर्चन् स्वर्गमामोति मानवः। अपसकामो रोहिण्यां सौम्ये चौजस्वितां लभेत्॥ आद्रायां शौर्यमामोति क्षेत्रादि तु पुनर्वसौ । पुष्टिं पुष्ये पितृनर्चन् आश्लेपासु वरान् सुतान्। मघासु स्वजनश्रेष्ठचं सौभाग्यं फल्गुनीपु च। पदानशीलो भवति सापस्थोत्तरास च ॥ पाप्नोति श्रेष्ठतां सत्स इस्ते श्राद्धपदो नरः ॥ रूपवन्ति च चित्रासु तथाऽपसान्यवामुयात् । वाणिज्यलाभदा स्वाती विशाखा पुत्रकामदा ॥ कुर्वतां चानुराधाश्च द्युश्रक्रमवर्तनम्। ज्येष्ठा स्वर्गाधिपसं च मूले चारोग्यमुत्तमम्। अवाढासु श्रियः प्राप्तिमुत्तरासु विशोकताम् ॥ श्रवणे च श्रुभान् लोकान् धनिष्ठासु धनं महत्। वेदवितस्याद्भिजिति भिषिक्सिद्धिं तु वारुणे ॥ अजाविकं त्रोष्ठपदे विन्दते गास्तद्त्तरे। रेवतीषु तथा कुष्यं अश्विनीषु तुरङ्गमान् ॥ श्राद्धं कुर्वन् तथाऽऽमोति भरणीष्त्रायुरुत्तमम् । तस्यात्काम्यानि कुर्वीत ऋक्षेष्वेतेषु तत्त्ववित् ॥ इति । सौम्यं सोमदेवताकं मृगशीर्पिमिति यावत् । ओजः

आत्मशक्तचितिशयः । शौर्यं निर्भयत्वेन वर्तनम् । क्षेत्रादि च क्षेत्रफलं चे त्यर्थः । पुष्टिः शरीरपुष्टिः । वरान् सुतान् गुणो- पेतान् सुतान् । साभाग्यं जनित्रयताम् । सापत्यश्च अपस-वान् भवतीत्यर्थः । सत्सु सत्पुरुपेषु । रूपवन्ति सुरूपाणि । चक्रमवर्तनं प्रतिहतिराहित्येन आज्ञायाः प्रवर्तनम् । अभि जित् अभिजित्संज्ञकं नक्षत्रम् । तत्तु वेदे निरूपितं—'अभि-जिन्नाम नक्षत्रसुपिरष्टादपाढानामधस्ताच्छ्रोणायै ' इति । भि-पित्सिद्धिः औपधफलाबाप्तिः । वारूणं शतिभिषङ्नक्षत्रम् । कुप्यं त्रपुसीसादिद्रव्यम् । ऋक्षेष्वेतेषु पूर्वोक्तेषु नक्षत्रेषु । त-चित्ति सम्यक्छाद्धविधानवित् । विष्णुधमीत्तरेऽपि—

> अरोग्यमथ सौभाग्यं समरे विजयं तथा । सर्वकामांस्तथा विद्यां धनं जीवितमेव च ॥ आदित्यादिदिनेष्वेवं श्राद्धं कुर्वन् सदा नरः । क्रमेणैतान् समामोति नात्र कार्या विचारणा ॥

इति । एतानारोग्यादीनात्यादिदिनक्रमेण तत्तदिनश्रादं कुर्व-न्नरः प्राम्नोतीयर्थः । एतदुक्तं भवति—आदित्यवारे श्राद्धमारो-ग्यकामः कुर्यात्, सोमवारे सौभाग्यकामः, भौमवारे सङ्गाम-विजयकामः, वुधवारे सर्वकामः, वृहस्पतिवारे विद्याकामः, शुक्रवारे धनकामः, शनिवारे जीवितकाम इति । याज्ञव-ल्क्येनापि काम्यश्राद्धकाला दर्शिताः—

> कन्यां कन्यावेदिनश्च पश्ंश्चेत्र सुतानि । द्यूतं कृषिं च नाणिज्यं द्विशफैकशफांस्तथा ॥ ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रान् स्वर्णरौष्ये सकुष्यके ।

ज्ञातिश्रेष्ठचं सर्वकामानामोाति श्राद्धदस्सदा ॥ प्रतिपत्प्रभृतिष्वेकां वर्जियत्वा चतुर्दशीम् ।

इति । कन्या रूपलक्षणशीलवती, प्रायेण तादृश्या एवातिकाम्यत्वात् । कन्यावेदिनो जामातरः श्रुतवन्तो रोगरहिताः ।
पश्न शीललक्षणसम्पन्नान्, एवम्भूतानामेव काम्यत्वात् ।
काम्यं तु कृष्णपक्षे प्रतिपादि श्राद्धं कन्याकामः कुर्यात्,
द्वितीयायां वरकामः, सृतीयायां पश्चकामः, चतुथ्यां पुत्रकामः, पश्चम्यां तु विजयकामः, पष्टचां कृपिफलकामः,
सप्तम्यां वाणिज्यलाभकामः, अष्टम्यां द्विशकगवादिपश्चकामः,
नवम्यामेकशकाश्वादिपश्चकामः, दशम्यां वृत्ताध्ययनवहुलपुत्रकामः, एकादश्यां स्वर्णकृष्यकामः, द्वादश्यां त्रपुसीसादिद्रव्यकामः, त्रयोदश्यां ज्ञातिश्रष्टचकामः, अमावास्थायां यो
गसिद्धचिकरणोक्तन्यायानुसारेण क्रमेण सर्वकाम इति । अत्र-

कृष्णपक्षेऽपराक्षे तु रौहिणं तु न लक्षयेत्।

इति स्मृत्यन्तरोक्तो विशेषो द्रष्ट्वयः। रौहिणः अक्षो नवमो

मुहूर्तः। एवश्च कुतपादिघाटिकात्रयसंयुक्तायां प्रतिपदादितिथौ

काम्यश्राद्धं कार्यः, न तु कुतपाद्यसंयुक्तायामिति मन्तव्यम्।

प्रतिपदादितिथिद्धैधे तु पूर्वस्थामुक्तरस्थां वा कुतपादिघटिकात्रय
युक्तायामेव श्राद्धं कार्यम्। तथाचोक्तं देवस्वामिना—'यस्मिन्

काले यद्विहितं तत्कर्म उपक्रमोपसंहारयुक्तं तस्मिन् काले

तस्थां तिथौ यस्मिन् अहनि संभावियतुं शक्यते तदुक्तरं

पूर्व वा प्राह्मम्' इति । उभयदिनेऽपि यदि सम्भावियतुं शक्यते तदा तु स्वतः पूर्वदिनं प्राह्मं, कथंचित्तत्रानुष्ठानाभावे उत्तरिनं प्राह्मम् । उपक्रमोपसंहारयोरुभयोरुभयत्रासम्भविविषये तु यदेवस्वामिनोक्तं—'यस्मिन् समाप्तिः तस्यां तिथौ तिस्मिन् काले सम्भवित तिस्मिन्नहन्युपक्रम्य समापनीयम्' इति । समाप्तिः उपसंहारः । तिस्मिन्नहन्यस्वकालेऽप्युपक्रम्य स्वकाले समापनीयमित्यर्थः । तदेतद्युक्तं—कालस्याप्यधिकारिविशेषण त्वेन स्वकालेऽनागते कर्मण्यधिकाराभावादस्वकाले कर्मोपक्रम्यास्यान्याय्यत्वात् । तस्मादिस्मिन्वषये स्वकाले उपक्रम्यास्यकाले समापनीयम् । स्वकालोपक्रान्ते कर्मणि कालान्तरेऽपि समापनस्य विधिनाऽऽक्षिप्तत्वात् । यदा तु स्वकालेऽप्युपक्रमो न सम्भवित तदा स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्ट्व्यम् ।

पित्रयं श्राद्धं कृष्णपक्षे दिनेऽस्तमययोगिनि ।

शुक्के त्दयसंयुक्ते दानं यज्ञादिकं तथा ॥
इति । कृष्णपक्षे 'प्रतिपद्धनलाभाय' इत्यादिना यद्विहितं
श्राद्धं तदस्तमययोगिप्रतिपदादितिथ्यन्विते दिने कर्तव्यम् ।
शुक्कपक्षे तिथिविशेषोक्षेखेन विहितं दानं देवकार्यादिकं उदययोगितिथिविशेषान्वितदिने कर्तव्यमित्यर्थः । अस्तमययोगित्वे उदययोगित्वे च विशेषस्तत्रैव—

दिनान्ते पञ्च नाड्यस्तु पुण्याः शोक्ता मनीिषभिः। उदये च तथा पित्रये दैवे नैव च कर्मणि॥ इति । पित्र्ये कर्मणि दिनान्ते पश्च नाड्यः पुण्याः मोक्ताः, दैवे कर्मण्युद्ये पश्च नाड्यः पुण्याः मोक्ता इसन्वयः । खण्डितिथिस्तु काम्यकर्मणि प्रथमोपक्रमे परित्याज्या, मंपूर्णित थावेवोपक्रमसम्भवात् । उपकान्तस्य काम्यकर्मणः श्राद्धादेः काम्यसिद्धिपर्यन्तमेकसंवत्सरपर्यन्तं वा स्वकाले पुनःपुनरनुष्ठाने कर्तव्ये खण्डितिथावप्युक्तिदिनेऽवश्यं कर्मानुष्ठानं कर्तव्यम् । तथाच देवस्वामिना नक्षत्रश्राद्धमुदाहृत्योक्तं—'नक्षन्यम् । तथाच देवस्वामिना नक्षत्रश्राप्ता यावत्रःकामप्राप्ति तस्मिन् ऋक्षे श्राद्धं कुर्यादब्दमेकं यावत्' इति । अत्र हारीतः—

काम्यश्राद्धानि काम्यार्थी सम्यग्यत्नेन साधयेत्। शरीरारम्भहेतुत्वात् मुमुक्षुस्तानि नाचरेत्॥ कामप्राप्तानि विहितश्राद्धान्युक्तानि यानि तु। तानि विध्यन्तरोक्तत्वात्स्वर्गमोक्षार्थमाचरेत्॥ यथाकथित्रित्थानि कुर्यादिन्दुक्षयादिपु। पात्रद्रव्यादिसम्पत्सु सत्सु काम्यफलं लभेत्॥

विध्यन्तरोक्तत्वादिति—'हिविध एव संस्कारो भवति ब्राह्मो दैवश्च । गर्भाधानादिः स्मार्तो ब्राह्मः, पाकयज्ञहविर्यज्ञसौ-म्याश्चेति दैवः । ब्राह्मसंस्कारसंस्कृत ऋषीणां समतां समानलो-कतां सायुज्यं गच्छति । दैवेनोत्तरेण संस्कृतः देवानां समान-लोकतां सायुज्यं गच्छति ' इत्येवमादिरूपेण विध्यन्तरेण, श्राद्धक्तसत्यवादी च गृहस्थोपि विमुच्यते । इत्यवमादिरूपेण विध्यन्तरेण चोक्तन्वादिति ॥ इति स्मृतिचन्द्रिकायां काम्यश्राद्धकालाः

अथ गौणश्रादकालाः.

तत्र ऋ इयशृङ्गः—

दैवे पितृणां श्राद्धे तु आशौचं जायते यदि ।
आशौचादौ व्यतिक्रान्ते तेभ्यश्श्राद्धं प्रदीयते ॥
मुख्यकाले पाकोपक्रमात् पाक् यदा श्राद्धाधिकारिण आ
शौचं जायते तदा मुख्यकाले प्रत्यासले आशौचेन दूपिते
आशौचापगमानन्तरकाल एव पैतृकं कर्म कार्यमित्यर्थः ।
यत्तु समृयन्तरं—

तदहश्चेत् प्रदुष्येत केनचित्स्ततकादिना । स्रतकानन्तरं कुर्यात्पुनस्तदहरेव वा ॥ इति, तत् श्राद्धाहे सूतकेन प्रदुष्टे सूतकान

इति, तत् श्राद्धाहे स्तकेन प्रदुष्टे स्तकानन्तरं कुर्यादिति पक्षस्तावत् ऋश्यशृङ्गवचनाविरुद्ध एव । 'पुनस्तदहरेव वा' इति पक्षस्त्वादिशब्दोक्तनिपित्तान्तरेण विहितमुख्यकालाभा-विषय इति पूर्ववचनाविरोधाय कल्पनीयम् । एतच्च पक्षान्तरं क्षयाहे प्रतिमासं कियमाणश्राद्धविपयम् । तत्र मास स्पृष्टकालाभावेऽपि पक्षतिथिमात्रस्पृष्टस्यापि ग्राह्यत्वात् । अत एव समृत्यन्तरं—

एकोहिष्टे तु संमाप्ते यदि विद्यः प्रजायते ।
अन्यस्मिन तिचथौ तिस्मिन् श्राइं कुर्यात्प्रयद्भतः ।
अन्यस्मिन् अनन्तरे माप्ति । तिचथौ मृतितिथौ । यिस्मिन्
शक्ते कृष्णे वा मृतः तिस्मिन् पक्षे श्राइं विद्यवशादितकान्तं
कुर्योदित्यर्थः । यदि विद्य इत्यत्रापि ऋश्यशृङ्गवचनाविरोधा
याशौचन्यतिरिक्तानिमित्तेनेति शेषो द्रष्टन्यः । आशौचिनिमि
त्तेन तु विद्यिते माप्तिकविषयेऽपि सूतकानन्तरमेव श्राद्धानुग्रानं ऋश्यशृङ्गोक्तमनुसन्धेयम् । अत एव देवस्वामिनाऽप्युक्तं—
'एतदृश्यशृङ्गवचनं सूतकाशौचिवपयम् । निमित्तान्तरतस्तदृह
विद्याते—

एकोदिष्टे तु सम्प्राप्ते यदि विद्यः प्रजायते ।

इत्यादिस्मृत्यन्तरवचनम् ' इति । यत्पुनस्स्मृत्यन्तरं—
श्राद्धविद्ये समुत्पन्ने अन्तरा मृतसूतके ।
अमावास्यां प्रकुर्वीत शुद्धावेके मनीपिणः ॥

इति अन्तरा मृतसूतके श्राद्धप्रयोगमध्ये पाकोपक्रमात्पूर्वं सूतके
मृतके वा जाते अमावास्यायां शुद्धौ शुध्यनन्तरम् । एतत् सां वत्सारिकश्राद्धविपयम् । अमावास्याग्रहणं कृष्णैकादश्याश्चोपलक्षणार्थम् । अत एव मरीचिः—

श्राद्धविद्रे समुत्पन्ने अविज्ञाते मृतेऽहिन ।

एकाद्द्रयां तु कर्तव्यं कृष्णपक्षे विशेषतः ॥

इति । कृष्णपक्षे या एकादशी तस्यां विशेषतः कर्तव्यमिः

त्यन्वयः। पितृकार्ये स्वतः कृष्णपक्षस्यैव ग्राह्यत्वात् कृष्णै-कादशीतोष्यमावास्त्रायाः पितृकार्ये श्रेष्ठचं दण्डापूपिकान्या-यसिद्धमिति बोद्धन्यम्। यत्तु पद्त्रिंशत्मतं—

> मासिकेऽब्दे तु संमाप्ते त्वन्तरा मृतस्त्तके। वदन्ति शुद्धौ तत्कार्यं दर्शे वाडिप विचक्षणाः॥

इति, तदेतत् 'तान्येव तु पुनः कुर्यात्' इति विहितानुमा-सिकश्राद्धविषयम् । एकोहिष्टमासिके पूर्वमेवानुकरूपकालस्यो-क्तत्वात् । तत्र शुद्धचनन्तरकालो मुख्यकालत्वाच्छ्रेष्टः । दर्श-कालस्ततो जघन्यः, मुख्यकालप्रत्यासत्त्यभावादिति मन्तव्यम् । तथाच ऋश्यशृङ्गः—

> शुचिभूतेन दातव्यं या तिथिः प्रतिपद्यते । सा तिथिस्तस्य कर्तव्या न त्वन्या वै कदाचन ॥

इति । अयमर्थः — शुचिभूतेन तावदातव्यम् । तेन मुख्यकाले शुद्धचसम्भवे शुद्धचनन्तरं या तिथिः प्रतिपद्यते लभ्यते सा तिथिस्तस्य कर्तव्या कर्मोपक्रमात्प्राक् साध्यतया कथि दन् नुष्टेया न त्वन्या, मुख्या तिथिराशौचदूषिता कदाचन नानुष्टेयेति । आशौचदूषिता मुख्या तिथिरानुष्टेयेत्याह स एव —

तिथिच्छेदो न कर्तन्यो विनाऽऽशौचं यदच्छया । पिण्डं श्राद्धं च दातन्यं विच्छित्तिं नैव कारयेत् ॥ यदच्छया स्वेच्छया । श्राद्धं ब्राह्मणतर्पणम् । चशब्देनाग्नौ- करणमि कर्तव्यमिति समुचिनोति । श्राह्यशब्देनात्र ब्राह्म-णतर्पणमात्रमुपचारादुच्यते, न मुख्यार्थतया, अग्नौकरणब्राह्म-णतर्पणिण्डदानात्मककमत्रयसमुदायस्यैव मुख्यार्थत्वात्। तथाच देवस्थामिना श्राद्धशब्दार्थ एवमेव सम्यङ्क्षिर्ह्मातः—

> पिण्डाभावेऽपि नित्यादौ श्राद्धशब्दमयोगतः। श्राद्धशब्दो न पिण्डेपु नापि च द्विजभोजने॥ अतिथ्यादौ भुजासत्यां श्राद्धशब्दामयोगतः। पितृनुद्धिश्य वित्तादित्यागमात्रं न चैव हि॥ तर्पणादेरपि पाप्तेस्त्यागस्तत्रापि दृश्यते। विद्वन्मतान्युपादाय मम त्वेतध्ददि स्थितम्॥ होमश्च पिण्डदानं च तथा ब्राह्मणतर्पणम्। श्राद्धशब्दाभिधेयं स्वादेकस्मिन्नौपचारिकः॥

इति । 'विच्छित्तं नैव कारयेत्' इति ऋइयगृङ्गवचनस्थाय-मर्थः—कृतस्त्रस्य श्राद्धशब्दार्थस्य कर्तुमशक्यत्वेऽिप तदेक-देशमात्रं वा यथासामध्यं कुर्यात् । सर्वथा कर्मविच्छित्तं नैव कुर्यादिति । अत एव निगमः—'आहिताग्नेः पित्रर्चनं पिण्डैरेव ब्राह्मणानिप वा भोजयेत्' इति । अत्र यथासामध्यं व्यवस्था । ततश्च द्वितीयपक्षासामध्यं प्रथमोक्तः पक्षः ॥

इति स्मृतिचिन्द्रकायां गौणश्राद्धकालाः,

अथ श्राद्धदेशाः.

तत्र विष्णुधर्मोत्तरे—

दिलणाप्रवणे देशे तीर्थादौ वा गृहेऽि वा ।

भूसंस्कारादिसंयुक्ते श्राद्धं कुर्यात्प्रयवतः ॥

तीर्थं ऋषिसेवितं जलं, तत्समीपे । आदिशब्देन ऋषिसे

विताश्रमादि * गृह्यते । भूसंस्कारादिसंयुक्ते भूसंस्कारो गो

मयादिलेपनादिः । आदिशब्देन केशाद्यशुचिद्रव्यापसारणं गृ

हाते । तथाचोक्तं तत्रव—

गोमयेनोप्तालिप्तेषु विविक्तेषु गृहेषु च । कुर्याच्छाडमथेतेषु नित्यमेव यथाविधि ॥

इति । एतेषु पूर्वोक्तेषु गृहेषु गृहादिषु गोमयेनोपि त्रिषु के शादिद्रव्यवियुक्तेषु श्राद्धं नित्यं कुर्यादित्यर्थः । मनुरिष्

्शुचिं देशं विविक्तं तु गोमयेनोपलेपयेत्। दक्षिणाप्रवणं चैव प्रयत्नेनोपपादयेत्॥

इति । अयमर्थः—स्वतक्शुचि तीर्थादिमदेशं गृहप्रदेशं वा परकृताशुचिपरिहारार्थं विविक्तं केशायसंयुक्तं कृत्वा भूसं-स्कारातिशयार्थं गोमयेनीपलेपयेत् । स्वतो दक्षिणाप्रवणत्वा भावेऽपि पितृयजनत्वसिद्धये दक्षिणाप्रवणत्वं चोद्धननादिना प्रयत्नेनोपपादयेत् कुर्यादिति । अत्र यमः—

परकीयप्रदेशेषु वितृणां निर्वपेत्तु यः ।

^{*} ऋषिदेवताश्रयादि इति पाठान्तरम्.

तद्भृमिस्वामिपितृभिक्ज्राद्धकर्म विहन्यते ॥
तेन तत्र श्राद्धं न कुर्यादित्यभिन्नायः । परकीयप्रदेशाः परपरिगृहीतगृहगोष्ठादिभदेशाः, न पुनस्तीर्थादिभदेशाः । तथाच
पुराणम्—

अटवीपर्वताः पुण्या नदीतीराणि यानि च ।
सर्वाण्यस्वामिकान्याहुः न हि तेषु परिग्रहः ॥
वनानि गिरयो नद्यः तीर्थान्यायतनानि च ।
देवखाताश्च गर्ताश्च न स्वामी तेषु विद्यते ॥
इति । देवखाताश्च गर्ताश्च देवखातगर्ताश्चेत्यर्थः । कृत्रिमगर्तिस्वास्वामिकत्वनियमासम्भवात् । यस्मादेतेषु परपरिग्रहाभावः, तस्मादेतेषु स्वग्रहेष्विव श्राद्धं देयमित्युक्तम् । विष्णुधर्मोत्तरे—

तस्माच्छ्राद्धानि देयानि पुण्येष्वायतनेषु च ।
नदीतीरेषु तीर्थेषु स्वभूमौ च प्रयत्नतः ॥
इति । स्वभूम्यामपि कृत्रिमप्रेदेशादन्यत्र देयानि, तत्र प्रतिपेथात् । तथाच शङ्खः—

गोगजाश्वादिषृष्ठेषु कृतिमायां तथा भावे ।

न कुर्याच्छाद्धमेतेषु पारक्याश्चिमूमिषु ॥
कृतिमायां भावे वेदिकायामित्यर्थः । अनेन अकृतिमायामे ।

व भावे पितृत्तिभेवतीत्यर्थादुक्तम् । उक्तं चसाक्षादेवलेन—
स्थलीषु गिरिषृष्ठेषु तीर्थेष्वायतनेषु च ।

गोष्टेषु च विविक्तेषु तुष्यान्ति पितरस्तथा ॥
स्थलीषु अकृत्रिमोन्नतदेशेष्वियर्थः । 'जानपदकुण्डगोळस्थल'
इत्यादिना पाणिनीयसूत्रेण स्थलशब्दादकृत्रिमार्थे ङीष्पसयविधानात् । शङ्कोपि कृत्रिमस्थले निषेधमाह— 'नेष्टकचिते
पितृंस्तर्पयेत्' इति । यमस्तु वर्ज्यपदेशमाह—

रूसं क्रिमिहतं क्वित्रं सङ्कीर्णानिष्टगिन्धकम् । देशं त्विनष्टशब्दं च वर्जयेच्छाद्धकर्मणि ॥ रूसं अस्तिग्धम् । क्वित्रं सकर्दमम् । सङ्कीर्णं पदार्थान्तरैरा-कीर्णम् । अनिष्टगन्धिकं पूतिगन्धिकम् । अनिष्टशब्दं अश्रा-व्यशब्दम् । मदास्रसावाक्यमपि—

वर्ज्या जन्तुमती रूक्षा क्षितिः हुष्टा तथाऽप्तिना । अनिष्टदुष्टशब्दोग्रा दुर्गन्धा श्राद्धकर्मणि ॥ अग्निना हुष्टा दग्धा । उग्रा व्याघादिसंनिकृष्टा । इति स्मृतिचन्द्रिकायां श्राद्धदेशाः

अथ काम्यश्राद्धदेशाः.

तत्र व्यासः---

पुष्करे त्वक्षयं श्राद्धं जपहोमतपांसि च ।

महोदधौ प्रयागे च काइयां च कुरुजाङ्गछे ॥

इति । पुष्करे पुष्कराख्यतीर्थे । काशी वाराणसी । कुरुजाङ्गलशब्दौ जनपद्विशेषवचनौ । शङ्कोषि—

वाराणस्यां कुरुक्षेत्रे भृगुतुङ्गे हिमालये ।

नर्मदाबाहुदाती रे सर्वमानन्त्यमक्षते ॥

गङ्गाद्वारे प्रयागे वा नैमिशे पुष्करे तथा ।

सन्निहत्यां गयायां च दत्तमक्षय्यतां व्रजेत् ॥

नैमिशे सरस्वतीतीरवर्तिनि नैमिशारण्ये । सन्निहतिः कुरुक्षे
वर्वा तीर्थविशेषः । गया प्रसिद्धा । गयाक्षेत्रस्य तु प्रमाणं

पुराणे दर्शितं—

महानदी देवनद्योः सर्वतीर्थाद्यनन्तरम् । उदक्कनकनन्दाया गयामध्यं प्रकीर्तितम् ॥ पञ्चक्रोशं गयाक्षेत्रं क्रोशमात्रं गयाशिरः ।

पश्चक्रोशमाणके गयाक्षेत्रे सार्भूतं कोशमात्रं गयाशिर इति प्रसिद्धामित्यर्थः । तच तत्रेव निरूपितं—

> महानद्याः पश्चिमेन यात्रहृश्चेश्वरो गिरिः । उत्तरे ब्रह्मयूपस्य यात्रहाक्षणमानसम् ॥ एतद्गयाशिरो नाम त्रिषु छोकेषु विश्वतम् ।

इति । गयाशिरोवदन्यान्यपि गयायां विश्वतानि महानद्या-दीनि श्राद्धस्थलानि तत्रैव दर्शितानि——

महानदी ब्रह्मसदोऽक्षयो वटः प्रभासमुद्यन्तमथो गयाशिरः।
सरस्वती धेनुकधर्मपृष्ठमेते कुरुक्षेत्रसमा गयायाम् ॥
इति । उद्यन्ताख्यः पर्वतिविशेषः । सरस्वती प्राची सरस्वतीिति
विश्रुता । व्यासोपि—

ब्रह्मारण्यं धर्मपृष्ठं धनुकारण्यमेव च । त्रिष्वेतेषु पितॄनर्चन् वंशान् सप्त समुद्धरेत ॥ ब्रह्मकैवर्तेऽपि—

गयायां मुण्डपृष्ठं तु अरिवन्दं च पर्वतम् ।

तृतीयं क्रीश्चपादं तु दृश्च पापैः प्रमुच्यते ॥

गयायास्तिच्छिरसो मुण्डपृष्ठस्य च माहात्म्यं तत्रैव दर्शितं—
स्वर्गपाताळमर्त्येषु नास्ति तीर्थं गयासमम् ।

पितरो यान्ति देवत्वं प्राप्तिपण्डा गयाशिरे ॥

गयाशीर्षे यदा पिण्डं नाम्ना येषां प्रकुर्वते ।

नरकस्था दिवं यान्ति स्वर्गस्था मोक्षगामिनः ॥

मुण्डपृष्ठे पदं न्यस्तं महादेवेन धीमता ।

वहून्यव्दसहस्राणि तपस्तप्ता सुदारुणम् ॥

अरेपनाष्यत्र कालेन नरो धर्मपरायणः ।

पापं विमोचयत्याशु जीर्णा त्वचिमवोरगः ॥

इति । असयवटस्य माहात्म्यं तत्रैव दर्शितं—
तत्राक्षयवटो नाम त्रिषु लोकेषु विश्वतः ।
पितृणां तत्र वै दत्तमक्षयं भवति प्रभो ॥
वटवृक्षं समासाद्य शाकेनाष्युदकेन वा ।
एकस्मिन् भोजिते विषे कोटिभैवति भोजिता ॥

धेनुकारण्यमाहात्म्यं पुराणान्तरे दर्शितं-— ततो गच्छेत राजेन्द्र धेनुकां छोकविश्रुताम्। तत्र चिह्नं प्रहरूयेत अद्यापि हि न संशयः ॥
कापिलायास्सवत्साया दृश्यन्ते कुरुसत्तम ।
विचरन्त्याः पदानि स्युः दृश्यन्ते पश्च क्षृप्तवत् ॥
पदानि तानि संस्पृश्य कापिलाया नराधिप ।
तेषु दृष्टेषु यत्पुंसः पापं तत्संप्रणश्यति ॥

ग्रिश्रेश्वरमाहात्म्यं तंत्रैव दर्शितं—
ततो ग्रध्ननगं गच्छेत् स्थानं देवस्य धीमतः।
स्नात्वा तु भस्मना तत्र अधिगच्छेन्महेश्वरम्॥
बाह्मणेन भवेचीणं व्रतं द्वादशवार्षिकम्।
इतरेपां तु वर्णानां सर्वपापक्षयो भवेत्॥

इति । गृध्रेश्वरगिरिमाहात्म्यं तत्रैव दर्शितं—
ततो गच्छेत्समं त्वन्नपर्वतं गिरिवारितम् ।
सावित्र्यास्तस्य दृश्यन्ते पदानि भरतप्भ ॥
तत्र सन्ध्यामुपासीत ब्राह्मणस्संशितव्रतः ।
तेनोपासिता भवति सन्ध्या द्वादशवार्षिकी ॥
धर्मपृष्ठस्य माहात्म्यं तच्च तत्रैव दर्शितम् ।
ततो गच्छेत राजेन्द्र धर्मपृष्ठं समाहितः ॥
यत्र धर्मो महाराज नित्यमारते युधांवर ।
तत्राधिगम्य राजेन्द्र ह्यमेधफलं भवेत् ॥

तीर्थान्तराणां च गयायां प्रसिद्धानां माहात्म्यं दर्शितम्— ततो विशालामासाद्य नदीं त्रैलोक्यविश्रुताम्। अप्रिष्टोममनाप्रोति स्वर्गलोकं च गच्छिति ॥
अथ माहेश्वरं धाम समासाद्य नरक्कुचिः।
हयमधमनाप्रोति कुलं चैन समुद्धरेत् ॥
दिनौकसां पुष्किरिणीं समासाद्य नरक्कुचिः।
न दुर्गतिमनाप्रोति निष्णुलोकं च गच्छिति ॥
तत्र कोटिस्तु तीर्थानां निश्चता भरतर्पभ।
कूर्मक्षेण राजेन्द्र दाननेन दुरात्मना ॥
हियमाणोद्धृता राजन् निष्णुना प्रभानिष्णुना।
तत्राभिषेकं कुर्नीत तीर्थकोट्या युधांनर ॥
पौण्डरीकमनाप्रोति निष्णुलोकं च गच्छिति।
गोप्रचारसमीपस्था आम्रा ब्रह्मपकिष्पताः॥
तैरिसक्तैः पुरुषस्येह पितरो मोक्षमामुयुः।
एको मुनिः कुम्भकराग्रहस्तः

आम्रेषु नित्यं सिललं ददाति। आम्राश्च सिक्ताः पितस्थ तृप्ताः

एका किया द्रचर्थकरी वभूव ॥ या सा वैतरणी नाम त्रिषु लोकेषु विश्रुता । साऽवतीर्णा गयाशीर्षे पितॄणां तारणाय वै ॥ तत्र स्नात्वा महाराज गोदानं यः प्रयच्छाते । एकविंशति वंश्यांस्तान् तारयेन्नात्र संशयः ॥ तत्र धेनुपदानेन पितरो मोक्षमाप्तुयुः । इति । पोण्डरीकं पोण्डरीकारूययज्ञफलम् । ब्रह्मकैवर्तेऽपि— ब्रह्महा च कृतब्रश्च गोघाती पञ्चपातकी । सर्वे निष्कृतिमायान्ति गयायां पिण्डपातनात् ॥ ब्रह्मब्रश्च सुरापश्च वालद्वद्मगुरुद्भुहः । नाशमायाति वै पापं गयायामनुयाति यः ॥ आत्मजत्वमवाप्तस्तु गयाकूले यथातथा । यत्राम्ना पातयेतिंपण्डं तं नयेद्वह्म शाश्वतम् ॥

इति ।

मकरे वर्तमाने तु ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः । दुर्लभं त्रिषु लोकेषु गयायां पिण्डपातनम् ॥ ब्रह्मणा सह शाश्वतं ब्रह्मशाशचापादकं ब्रह्मलोकं नयेदित्यर्थः । व्यासोपि—

गयां गत्वा तु यः कश्चित्पितॄन् संतर्पयेन्नरः ।
दश पूर्वापरान् वंश्यानात्मानं च पुनाति सः ॥
पुराणान्तरे—

स्नानं देहपरित्यागो गङ्गायां तु विशिष्यते । श्राद्धं पिण्डमदानं च गयायां तु विशिष्यते ॥ ब्रह्मज्ञानं गयाश्राद्धं गोगृहे मरणं तथा । वासः पुंसां कुरुक्षेत्रे मुक्तिरुक्ता चतुर्विधा ॥ गयाशीपें वसेवित्यं स्नानं फलगौ समाचरेत । गयाशीपें सदा पिण्डमेतत्स्वर्गेऽपि दुर्छभम् ॥ फल्गुतीर्थे नरस्त्रात्वा देवं दृष्टा गदाधरम् ।
गयाशिरः परिक्रम्य मुच्यते ब्रह्महत्यया ॥
गयायां पितृरूपेण स्वयमेव जनार्दनः ।
तं दृष्टा पुण्डरीकाक्षं मुच्यते च ऋणत्रयात् ।
येनाक्रान्तं सकृद्पि धर्मपृष्ठं गयाशिरः ॥
नश्यति ब्रह्महत्यादि पातकं नात्र संश्चयः ।
त्रिर्ददत्पृथिवीं कृत्स्तां न मुच्येत्पैतृकादृणात् ॥
यावच्छाद्धं न वै पुत्रः कुर्याद्गत्वा गयाशिरः ।
गयायां धर्मपृष्ठे च सदिस ब्रह्मणस्तथा ॥
गयाशीर्षे पदे चैव पितृणां दत्तमक्षयम् ।
शमीपत्रप्रमाणेन पिण्डं द्द्याद्गयाशिरे ॥
नरकस्था दिवं यान्ति स्वर्गस्था मेक्षमानुयुः ।

इति । शामीपत्रग्रहणं स्ववित्तानुसारेण पिण्डदानमावश्यकमिति ज्ञापनार्थ, अत एवोक्तं तत्रैव—

> वित्तशाट्यं न कुर्वीत गयां प्राप्य सदा नरः। वित्तशाट्यं च कुर्वाणो न तीर्थफलभाग्भवेत्॥

अतो वित्तानुसारेण शरीरवलानुसारेण च गयाश्राद्धं कार्यम्। एतदपि तत्रैवोक्तं—

> अतो निर्वर्तयेच्छाद्धं यथाशक्ति यथावलम् । कामान् स लभते दिन्यान् स्वर्गद्वारं तु तत्स्मृतम् ॥

इति । तेन सित सम्भवे सवर्णीदिभ्योऽपि कृपया पिण्डदानाः दिकं देयं एतद्पि तत्रैवोक्तम्—

सवर्णा ज्ञातयो ये च वान्धवास्सुहृदश्च ये।
तेभ्यो भूप गयाभूमौ पिण्डा देया विधानतः॥
दौहित्रभ्यश्च पुत्रभ्यः किनष्ठेभ्योपि सर्वशः।
ये सताश्चान्यजन्मानः पिण्डांस्तेभ्यो विनिर्वपेत्॥
तेऽपि यान्ति दिवं सर्वे पिण्डे दत्त इति श्रुतिः।
सवर्णादीनां गोत्रादीनाम ज्ञाने तु तेषां पिण्डदानमन्त्रोपि तत्रैव
दिश्तः—

पितृवंशसमुत्पन्ना मातृवंश्यास्तथैव च ।

गुरुश्वशुरवन्धूनां ये चान्ये मानवा द्विजाः ॥

ये मे कुले लुप्तपिण्डाः पुत्रदारिववर्जिताः ।

विरूपा आमगर्भाश्च ज्ञाताज्ञातास्तथैव च ॥

कियालोपगता ये च ये चान्ये गर्भसंस्थिताः ।

तेभ्यो दत्तो मया पिण्डो ह्यक्षय्यमुपितष्ठताम् ॥

आमगर्भा अपकगर्भा अपूर्णगर्भा इति यावत् । सवर्णादिस्यः पिण्डदानवदात्मार्थमपि तिलरिहतं पिण्डं जनिदनदेवसंनिधौ नि

क्षेपद्रव्यस्थापनविन्नवेषेत् । एतदिप तत्रैवोक्तम्—

आत्मनस्तु महाबुद्धे गयायां तु तिलैर्विना ।

पिण्डनिर्वापणं कार्यं मृतानां तु तिलैस्सह ॥

इति । गयायां यत्रयत्र श्राद्धादिकं क्रियते तत्रतत्रत्याएव

विनाः जातिमात्रोपजीविनोपि त्राह्मणार्थे परिग्राह्माः। तथाच पुराणान्तरं—

यदि पुत्रो गयां गच्छेत कदाचित्कालपर्ययात ।

तानेव भोजयेद्विपान् ब्राह्मणा ये प्रकारिपताः॥
एपां ब्रह्मसमं स्थानं सोमपानं तथैव च!
ब्रह्मकारितसंस्थाना विषा ब्रह्मसमास्स्मृताः॥
अमानुषा गयाविषा ब्राह्मणा ये प्रकारिपताः।
तेषु तुष्टेषु संनुष्टाः पितृभिस्सह देवताः॥
पितृरूपान् गयाविषान् पूजायेत्वा समाहितः॥
सर्वपापविशुद्धात्मा स्वर्गलोके महीयते॥
तेषां च हस्तदत्तं वै गयायां च विशेषतः।
तदक्षय्यं भवेत्तस्य पितृणां नात्र संशयः॥
न विचार्यं कुलं शीलं विद्या च तप एव च।
पूजितैस्तैस्तु सन्तुष्टाः देवास्सिपतृगुह्यकाः॥
इति। 'यदि पुत्रो गयां गच्छेत्' इसत्र पुत्रग्रहणं पौत्रादीनां
पित्रादिगतश्रेयस्कामानां सर्वेषां गयागन्तृणाम्रुपलक्षणार्थं अत

उद्यतस्तु गयां गन्तुं श्राद्धं क्वत्वा विधानतः । विधाय कर्मशेषं च ग्रामं कृत्वा प्रदक्षिणम् ॥ ततो ग्रामान्तरं गच्छेच्छ्राद्धशेषान्नभुङ्करः । ततः प्रतिदिनं गच्छेत्प्रतिग्रहविवर्णितः ॥

एव ब्रह्मकैवर्ते--

इति सामान्येनैवोक्तम् । अत एव महाभारते व्यासेनापि सा-मान्येनैवोक्तं—

> गृहे श्रादं प्रकुर्वीत सम्यक्सङ्करूप्य वुद्धिमान्। पितृतीर्थं सम्राद्दिश्य सङ्करूप्य पितृसन्त्रिथौ ॥ प्रतिग्रहं परानं च कार्लं चैव द्विजोत्तमः।

इति । पितृसान्निधौ पित्रर्थ निमन्त्रितत्राह्मणसिन्नधौ पितृतीर्थ सम्राह्मस्य गयायात्रार्थ श्राद्धं कारिष्ये इति सम्यग्भिक्तपूर्वकं सङ्गरूप स्वगृहे यात्रार्थ श्राद्धं कुर्यादित्यर्थः । कालिः कलहः । वर्ष्यान्तरमपि तेनैवोक्तम्—

केशक्मश्रुनखादीनां वपनं न च शस्त्रते । अतो न कार्ये वपनं गयाश्राद्धार्थिना सदा ॥

इति । एवं गयायात्रां कुर्वतः फलमि तत्रैवोक्तम् ——
ये भारतेऽस्मिन् पितृकर्मतत्पराः
सन्धार्य केञ्चानितभक्तिनम्नाः ।
ऋणक्षयार्थं पितृतीर्थमागताः
तेपामृणं संक्षयमेष्यित ध्रुवम् ॥

इति । भारते भारतवर्षे ऋणक्षयार्थे देवर्षिपितृऋणक्षयार्थे पितृतीर्थं गया ॥

इति स्मृतिचान्द्रिकायां काम्यश्राद्धदेशाः

श्राद्धे भोजनीयत्राह्मणनिरूपणम्.

तत्र मनुः---

तत्र ये भोजनीयास्स्युर्धे च वर्ज्या द्विजोत्तमाः।
यावन्तश्चैव यैश्चान्नेस्तान् प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥
तत्र श्राद्धकर्मणीत्यर्थः । द्विजोत्तमाः द्विजेपु त्रैवर्णिकेपूत्तमाः व्रा
ह्मणा इति यावत् । भोजनीयानभोजनीयांश्च ब्राह्मणान्
वेत्तुं गुणदोषादिषरीक्षणं कार्यामित्याह स एव—

दूरादेव परीक्षेत ब्राह्मणं वेदपारगम् । इति । भोजनीयब्राह्मणस्य प्रापितामहादारभ्य भोजनीयपर्यन्तं परीक्षा दूरात्परीक्षा । वेदपारगग्रहणमुपादेयगुणानामुपलक्षणा-र्थम् । अत एव छागलेयः—

उक्तलक्षणसंयुक्तैः विद्याशीलगुणान्वितैः ।
पुरुपत्रयविष्यातैस्सर्वे श्राद्धं प्रकल्पयेत् ॥
उक्तलक्षणैर्विभैस्सर्वे पार्वणाभ्युद्यकादिश्राद्धं प्रकल्पयेन्निर्वर्तयेदिसर्थः । पुराणेऽपि—

जातकर्मादिभिर्यस्तु संस्कारैस्संस्कृतक्शुचिः। वेदाध्ययनसम्पन्नष्पट्सु कर्मस्ववस्थितः॥ शौचाचारे स्थितस्सम्यक् विद्यसाशी गुरुप्तियः। नित्यं त्रती सत्यपरः स वै ब्राह्मण उच्यते॥ तपक्शुतं च योनिश्चाप्येतद्वाह्मण्यकारणम्। सत्यं दानं तपो द्रोहमानृशंस्यं क्षमा घृणा॥

तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः।

इति । षट्स यजनयाजनाध्ययनाध्यापनदानप्रतिग्रहात्मकेषु । विषसो यज्ञशेषः। अतिथिपभृतिभिः भुक्तशेषश्च। योनिरन्वयशुद्धिः। आर्रशस्यं अकूरता । हारीतोषि — कुलीनावश्रुतशीलवन्तो रत्त-स्थाः सखवादिनोऽव्यङ्गाः.पाङ्केयाः' इति । स्वयमेव कुला-दीन् विवृणोति—स्थितिः अविच्छिन्नवेदवोदिता अयोनिसं-कारित्वं आर्पेयत्वं चेति कुलगुणाः । वेदा अङ्गानि धर्मोऽध्याः त्मं विज्ञानं समृतिश्रोति पड्डियं श्रुतम् । ब्रह्मण्यता देविपतृभ क्तता समता सौम्यता अपरोपतापिता अनस्यता अनुद्धतता अपारुष्यं मित्रता प्रियवादित्वं कृतज्ञता शरण्यता प्रशान्ति-श्रेति त्रयोदराविधं शीलम्। क्षमा दया दमो दानं अहिंसा गुरुपूजनं शौचं स्नानं जपो होमः तपः स्वाध्यायस्सत्यवचनं सन्तोषो इढव्रतत्वं उपव्रतत्विमिति पोडशगुणं वृत्तिमिति । स्थितिः संतित रूपेण च कालिस्थातिः । अविच्लिन्नवेदवेदितेत्यत्र वेदि-शब्देन हविरासादनार्थदेशविशेषवाचिना हविस्साध्यो याग उपलक्ष्यते । एतदुक्तं भवाति-पूर्वपुरुपेष्वपि वेदाध्ययनयागा-नुष्ठानयोः सत्ता कुलगुणा इति । आर्पयत्वं स्वीयपवरागतऋपि-जातत्वम् । धर्मो धर्मशास्त्रम् । विज्ञानं वैशेपिकादिशास्त्रज्ञानम्। स्पृतिः वेदादीनामविस्मरणम् । उपत्रतत्वं दशम्यादावेकभक्त-निष्ठत्वम् । विष्णुरापि-

ये क्षान्तदान्ताः श्रुतिपूर्णकण्ठाः जितेन्द्रियाः प्राणिवधे निष्टत्ताः । प्रतिग्रहे सङ्कृचिताग्रहस्ताः ते ब्राह्मणास्तार्यितुं समर्थाः ॥

इति । मत्स्यपुराणेऽपि-

अर्थको वेदिवित्सत्री ज्ञातवंशः कुछान्वितः । पुराणवेत्ता सर्वज्ञः स्वाध्यायजपतत्परः ॥ शिवभक्तः पितृपरः सूर्यभक्तोऽथ वैष्णवः । ब्रह्मण्यो योगविच्छान्तो विजितात्माऽथ शीछवान् ॥

'इति । श्राद्धे नियोजनीया इति शेषः । मनुरापि—
गायत्रीमात्रसारोपि वरं विप्रसुयन्त्रितः ।
नायन्त्रितश्चतुर्वेदी सर्वाशी सर्वविकयी ॥

मत्स्योपि —

गायत्रीजप्यनिरतं हव्यकव्ये नियोजयेत् ॥ पापं तिष्ठति नो तस्मिन्नव्विन्दुरिव पुष्करे ॥

व्यासोपि-

चीर्णत्रता गुणैर्युक्ता भवेयुर्ये च कर्षकाः।
सावित्रीज्ञाः कियावन्तः ते राजन् केतनक्षमाः॥
सावित्रीं तु जपेद्यस्तु द्विकालं भरतर्पभ।
भैक्षवृत्तिः कियावांश्च स राजन् केतनक्षमः॥
केतनं निमन्त्रणम्। क्षमो योग्यः। यमोपि—

पूर्वमेव परीक्षेत ब्राह्मणान् वेदपारगान् । शरीरमभवेदींपैर्विशुद्धांश्चरितव्रतान् ॥ पूर्वमेव निमन्त्रणात्मागेवेत्यर्थः । चरितव्रतान् स्नातकान् । तथा च स एव—

> गृहस्थो ब्रह्मचारी च यजुर्वेदविदेव च। वेदविद्यावतस्त्रातः ब्राह्मणः पङ्किपावनः ॥

चशब्दाद्यतिरप्युक्तः । उक्तं च साक्षाद्यसिष्ठेन--'यतीन गृहस्थान् साधून्वा ' इति । भोजयेदिति शेषः । ब्रह्माण्ड-पुराणेऽपि--

शिखिभ्यो धातुरक्तेभ्यः त्रिदण्डिभ्यश्च दापयेत् । इति । शिखिनो ब्रह्मचारिणः । धातुरक्ता धातुरक्तवस्रधारिणः वानप्रस्थाः । अत्र परः परक्ष्रेष्ठः । अत एव नारदः—

यो वै यतीननाहत्य भोजयेदितरान् द्विजान् ।
विजानन् वसतो ग्रामे कव्यं तद्याति राक्षसान् ॥
ग्रामे स्वग्रामे वसतो यतीन् जानन्निष ताननाहस्रेतरान्
द्विजान् वानमस्थादीन् यो भोजयेत्, तत्तदीयं कव्यं पित्रर्थं सङ्कत्पितं अन्नादिकं राक्षसानेव गच्छतीत्यर्थः । तेन सति
सम्भवे यतीन् भोजयेत् । तेषामभावे वानमस्थान्, तेषामभावे ब्रह्मचारिणः, तेषामभावे गृहस्थानिति मन्तव्यम् । अत
एव ब्रह्माण्डपुराणे—

अलाभे ध्यानिभिक्षणां भोजयेद्रह्मचारिणम् । तदलाभे ह्यदासीनं गृहस्थमपि भोजयेत् ॥ ध्यानमस्यास्तीति ध्यानी वानशस्थः । भिक्षुर्यतिः । उदासीनो दातुरसंवन्धी । तथाचापस्तम्वः—

'ब्राह्मणान् भोजयेत् ब्रह्मविदः योनिगोत्रमन्त्रान्तेवास्य-सम्बन्धान् ' इति । योनिसम्बन्धा मातुल्लाद्यः, गोत्रसम्बन्धाः सिषण्डादयः, मन्त्रसम्बन्धा वेदाध्यापकादयः, अन्तेवासिसः म्बन्धाः शिष्यशास्त्रोपाध्यायादयः । एवंविधसम्बन्धव्यतिरि-क्तान् ब्राह्मणान् गृहस्थान् भोजयेत् । ब्रह्मज्ञान् ब्राह्मणान् । यत्नेन भोजयेदित्यर्थः । तथा च पितृगाधा—

अपि स्वात् स कुछे जन्तुः भोजयेद्यस्तु योगिनम् ।
विमं श्राद्धे पयन्नेन तेन तृष्यामहे वयम् ॥
प्रयत्नेन भोजयेदित्यनेन अत्यन्तश्रेष्ठचं योगिन उक्तम् । उक्तंच
सुस्पष्टं पुराणे—

गृहस्थानां सहस्रेण वानप्रस्थशतेन च । ब्रह्मचारिसहस्रेण यो योगी स विशिष्यते ॥

पद्मपुराणेऽपि--

साङ्गान् यश्चतुरो वेदानधीते संस्कृतोऽर्थवित् । जन्मवाकमसंशुद्धः स श्राद्धे प्रथमो मतः ॥ तादशादयुताच्छ्रेयान्नरो योगं समाश्रितः ।

वृद्धशातातपोपि ---

योगिनं भोजयेत्रित्यं दृष्टतत्त्वं मनीपिणम् । तेषां तु दत्तमक्षय्यं भवतीति न संशयः ॥

यत्र्शनसोक्तम्-

यथाकथिबद्षि यो योगधर्म समाश्रितः ।
सम्यग्वणिश्रमास्तेभ्यः तत्पात्रं परमं विदुः ॥
ये सम्यग्वणिश्रमाचाराः तेभ्यस्तत्पूर्वाधेनोक्तं परमं पात्रमित्यर्थः ।
एतद्योगिनां प्रशंसामात्रं, शातातपेन 'दृष्टतत्त्वं मनीपिणम्' इति
विशेषितत्वात्!

ये तु वृत्ते स्थिता नित्यं ज्ञानिनो ध्यानिनस्तथा । इति ब्रह्माण्डपुराणे वृत्तस्थानामेव ज्ञानिनां ध्यानिनां च भोजनीयत्वाभिधानाच ! आत्मादिस्वरूपपरिच्छित्तः ज्ञानम् । ध्यानं तु विजातीयप्रत्ययतिरस्कारेणात्मादेस्स्वरूपसाक्षात्कर-णम् । एवश्च यदुक्तं वृद्धशातातपेन—

ज्ञानी यस्य ग्रहेऽश्वाति उदकं वा पिवेद्यदि ।
कृतं तेनेह यत्कृत्यं तारितं च कुछत्रयम् ॥
योगिनं समातिक्रम्य गृहस्थं यदि भोजयेत् ।
न तत्फळमवाम्नोति स्वर्गस्थमपि पातयेत् ॥
योगिनं तु व्यतिक्रम्य पूजयन्ति परस्परम् ।
भोक्तारस्त्वथ दातारो नरके स्युस्सवान्धवाः ॥
इस्रेतत्सर्व वृत्तस्थदृष्टतत्त्वयोगिविषयमिति मन्तव्यम् । तत्र मनुः—

एपामन्यतमो यस्य भुञ्जीत श्राद्धमितः।
पितॄणां तस्य तृप्तिस्त्याच्छाश्वती साप्तपौरुपी ॥
एप वै प्रथमः कल्पः प्रदाने हन्यकन्ययोः।
अनुकल्पस्त्वयं ज्ञेयः सदा सिद्धरनृष्टितः॥
मातामहं मातुलं च स्वस्नीयं श्वशुरं गुरुम्।
दौहित्रं विद्वातं वन्धुं ऋत्विग्याज्यौ च भोजयेत्॥

इति । एषां पूर्वोक्तानां वेदपारगादीनां एषः 'भिन्नो विषव-गः प्रथमः श्रेष्ठः । अनुकल्पः प्रथमकल्पाद्धमकल्पः । 'मुख्य स्स्यात्प्रथमः कल्पोऽनुकल्पस्तु ततोऽधमः' इत्यमरसिंहाभिधानात् । अयं 'मातामहं मातुलं च' इत्यादिना वक्ष्यमाणः अधमः कल्पः सदा सिद्धरनुष्ठित इसर्थः । गुरुरत्र विद्यागुरुः, न तु पिता । विद्वतिः जामाता अतिाथिवी, अतिथिरित्यन्ये वदन्तीति देव-स्वामिनाऽभिधानात् । प्रथमकल्पलाभेऽनुकल्पानुष्ठाने तु दोषमाह स एव—

> प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते । न सांपरायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम् ॥

प्रभुः संपादने समर्थः । साम्पराय उत्तरकालः । 'युद्धाययोः साम्परायः ' इत्यमरसिंहाभिधानात् । एवञ्चायमर्थः — साम्पराये भविष्यत्काले स्वर्गादिकं फलं न विद्यते न सिद्धचित । विष्णु-पुराणेऽप्यनुकल्प उक्तः —

> पितृच्यगुरुदौहित्रान् ऋत्विक्स्वस्नीयमातुलान् । पूजयेद्धव्यकव्येन वृद्धाननतिवान्धवान् ॥

स्वस्रीयो भागिनेयः। अत्र पितृव्यमृत्विजं च हव्येन पूर्जयेत्।
गुरुदौहित्रादीतरान् कव्येनोति सम्बन्धः कार्यः। पङ्भ्यस्तु पुरुषेभ्योऽर्वागश्राद्धेयास्तु गोतिणः इति पङ्भ्योऽर्वाचीनस्य पितृव्यादेः कव्येन पूजनस्यातिणा निषेधात्, तथा—

पिता पितामहो भ्राता पुत्रो वाऽथ सपिण्डकः।
न परस्परमध्योसस्युर्ने श्राद्धे ऋत्विजस्तथा॥
ऋत्विक्पुत्रादयो ह्येते सकुल्या ब्राह्मणा द्विजाः।
वैश्वदेवे नियोक्तव्याः यद्येते गुणवत्तराः॥

इति हन्येन पूजनीयत्वस्य तेनैव विधानाच । यद्यामन्त्रयोतित्यनुवृत्तौ कात्यायनेनोक्तम्—'अभावे शिष्यान् स्वाचायान्' इति । अत्रापि वैश्वदेवार्थमिति शेषो द्रष्टन्यः । 'गुणवदलाभे सोदर्योपि भोजयितन्यः' इत्यापस्तम्वेनाभिधानात् । सोदर्योपि
वैश्वदेवस्थाने भोजयितन्या न पुनः पित्रादित्राह्मणस्थान
इति हि माक्मितिपादितम् । तेन अन्तेवासिनामपि तत्स्थान
एव निषेधः। यतु पङ्किपावनानुक्वा वोधायनेनोक्तं 'तदभावे रहस्यं
ऋचो यज्रंपि सामानि श्राद्धमित्रमानः तस्मादेवंविदं सिपण्डमप्याशयेत्' इति, तद्प्यात्रयवचनानुरोधाय पद्भ्यः पुरुषे
भयोऽर्वाचीनसिपण्डविषयं न भवति, किन्तु समनोदकाविषयं,
सापिण्डशन्दस्य समानोदकेऽप्युपचारेण प्रयोगसम्भवात् । अन्तिणा त स्पष्टमुक्तं—

पड्भ्यस्तु परतो भोज्याः श्राद्धे स्युः गोत्रजा अपि। इति। अथवा सपिण्डशब्दो गुरुयोस्तु, किंतु श्रेष्टस्य समानोदक स्वाप्यभावे त्रिभ्यः सपिण्डपुरूपेभ्यः परो य सपिण्डः श्रेष्टः तमाशयेदित्यथोऽवगन्तव्यः। तथाच सपिण्ड इत्यनुवृत्तौ गौतमः— 'भोजयेदूर्ध्वे त्रिभ्यो गुणवन्तं' इति। मनुस्त्वनुकल्पान्तरमाह—

कामं श्राद्धेऽर्चयेन्मित्रं नाभिरूपमि त्विरम् । द्विपता हि हविर्भुक्तं भवति प्रेत्य निष्फलम् ॥ इति । अभिरूपमि विद्वांसमपीसर्थः । कामित्यभिधानात् अनुकल्पोऽयमिति गम्यते । अयं त्वनुकल्पः पूर्वीक्तानामनु कल्पानामभावे द्रष्टन्यः,

न श्राद्धे भोजयेन्मित्रं धनैः कार्योऽस्य सङ्गृहः ।
नारिं न मित्रं यं विन्दात् तं श्राद्धे भोजयेद्धिजम् ॥
यस्य मित्रप्रधानानि श्राद्धानि च हवींपि च ।
तस्य पेत्य फलं नास्ति श्राद्धेपु च हविष्षु च॥
इति निन्दार्थवादेन स्वेनैव निषिद्धस्य मित्रस्य 'कामं श्राद्धेऽचयेनिमत्रं ' इति पुनरनुशयाभ्युपगमेनानुकल्पाद्प्यधमत्वावगमात् ।
विसिष्ठोपि सगुणानामनुकल्पानामभावे निर्गुणानामनुकल्पतया
स्वीकारमाह—

अनृशंस्यं परो धर्मो याचते यत्पदीयते । अयाचतः सीदमानान् सर्वोपायैनिमन्त्रयेत् ॥ आनृशंस्यं परः उत्कृष्टो धर्मः । तेन सगुणानामनुकल्पाना- मभावे निर्गुणायापि याचते यत्प्रदीयते तद्प्यनुकरपो भ-वाते । अयाचतस्सीदमानान् अयाचनशीलत एव कारणात् सीदतो निर्गुणानापि सगुणानामनुकरपानामलाभे सर्वोपायै र्यादृशैस्ते निमन्त्रणमभ्युपगच्छन्ति तादृशैरुपायैर्निमन्त्रयेदित्य-र्थः । सर्वोपायैर्निमन्त्रयेदित्यादरेण निमन्त्रणं वदन् अया-चनेन सीदतामलाभे याचते प्रदानमिति दर्शयति । एवंविध विमेषु सदाचारवैकरुयदर्शनेपि निन्दा न कार्येत्याह स एव—

युगेयुगे तु ये धर्माः तेषु धर्मेषु ये द्विजाः। तेषां निन्दा न कर्तव्या युगक्ष्पा हि ते द्विजाः॥

युगेयुगे तु ये धर्माः युगानुरूपाः रागद्रेपादितारतम्यानवः न्धना येऽप्यसस्यभापणादयो दुस्स्यभावाः तेषु धर्मेषु ये द्विजाः तेषां निन्दा न कर्तव्या । युगानुरूपविषेष्वपि यथासम्भवं श्रेष्ठा एव ग्राह्याः । अत एव भविष्यपुराणे अपशस्तविष्राणां दानादावपरिग्राह्यत्वमुक्तम्—

वैश्वदेवेन ये हीना आतिथ्येन च वर्जिताः।
सर्वे ते द्वपला क्षेया प्राप्तवेदा अपि द्विजाः॥
न यस्य वेदो न जपो न विद्या च विशां पते।
स शुद्र इव मन्तव्य इत्याह भगवान्विभुः॥
अव्रतानाममन्त्राणा मद्यानां च भारत।
प्रतिग्रहो न दातव्यो न शिला तारयेच्छिलाम्॥
व्राह्मणातिक्रमो नास्ति मूर्खे वेदविवार्जिते।

ज्वलन्तमिम्रमुत्स्रज्य न हि भस्मिनि हूयते ॥
वैश्वदंवग्रहणं पश्चमहायज्ञानासृपलक्षणार्थम् । शिला शिलान्त
रम् । वेदविवर्णिते भोजनाद्यप्रदानेऽपि नास्ति ब्राह्मणातिकम
इसर्थः । एतदत्यन्तासम्बन्धिब्राह्मणविषयम् । कथि अत्सम्ब
निधबाह्मणविषयेऽपि तत्रैवोक्तं—

गायत्रीमात्रसारोपि त्राह्मणः पूज्यतां गतः ।
गृहासंनो विशेषेण न भवेत्पतितस्स चेत् ॥
गृहासंनः प्रातिवेश्यादिः । विशेषेणेति वदन् कथिचित्सम्बन्ध्यपि नातिक्रमणीय इति दर्शयति । श्रेष्ठसिक्किष्ठप्रातिक्रमे तु
पट्तिंशन्मते दोप उक्तः—

सिन्न गृहमधीयानं त्राह्मणं यो व्यतिक्रमेत् ।
भोजने चैव दाने च हन्यात्त्रिपुरुषं कुलम् ॥
यस्तु सिन्न गृहोऽनधीयानः तस्यातिक्रमेऽपि न दोषः । तथाच
तत्रैवोक्तं—

यस्य त्वेकगृहे मूर्खो दूरस्थश्च गुणान्वितः ।
गुणान्विताय दातव्यं नास्ति मूर्खे व्यतिक्रमः ॥
व्यतिक्रमो व्यतिकमदोपो नास्तीत्यर्थः । मूर्खग्रहणं निर्गुणस्वाप्युपछक्षणार्थम् ।

व्यतिकान्तुर्न दोपोस्ति निर्गुणं प्रति कहिँचित । इति भविष्यपुराणेऽभिधानात् । यत्पुनः पुराणान्तरेऽभिहितं— यस्त्वासन्नमतिकम्य ब्राह्मणं पतिताहते । द्रस्थं भोजयन्मुढो गुणाढ्यं नरकं त्रजेत् ॥
तस्मात्सम्पूजयेदेनं गुणं तस्य न चिन्तयेत् ।
केवलं चिन्तयेज्ञातिं न गुणान्विततान् सदा ॥
संनिकृष्टं द्विजं यस्तु युक्तजातिं नियंवदम् ।
मूर्खं वा पतितं वाऽपि वृत्तहीनमथापि वा ॥
नातिक्रमेन्नरो विद्वान् दारिद्रचाभिहतं तथा ।

इति, तत् अनुकल्पतयाक्तशरीरतस्मिक्छष्टदौहित्रजामात्रादिविप-यम् । पूर्वोक्तं तु देशतस्मिक्चष्टपातिवेश्यादिविपयमिति न विरोधः । अतएव शरीरतस्मिक्चष्टभेकमुदाहृत्योक्तं मनुना—

त्रतस्थमिप दोहित्रं श्राद्धे यत्नेन भोजयेत् । इति । त्रतस्थं व्रतमात्रस्थं अध्ययनरहितामिनि यावत् । द्विवि-धसन्निकृष्टविषयेऽपि गुणादिभिक्श्रेष्टेऽतिक्रान्ते सति भवत्येव दोषः । तद्ष्युक्तं पुगणे—

सप्त पूर्वान् सप्त परान् पुरुपानात्मना सह ।
अतिक्रम्य द्विजवरं नरके पातयेत् खग ॥
तस्मान्नातिक्रमेत् प्राज्ञः त्राह्मणान् प्रातिवेशिकान् ।
सम्वन्धिनस्तथा सर्वान् दौहित्रं विद्पतिं तथा ॥
भागिनेयं विशेषेण तथा वन्धून् खगाधिप।
नातिक्रमेन्नरस्त्वेतानमूर्खानापि गोपते ॥
अतिक्रम्य महारौद्रं रौरवं नरकं व्रजेत् ।
इति । अमूर्खानपीत्यपिश्चव्दः पादपूरणार्थः ।

अज्ञातकुलनामानं तत्कालं समुपस्थितम् ।

वुभुक्षुमागतं श्राद्धं याचमानमिकञ्चनम् ॥

बाह्मणं पाहुरतिथिम् ।

इत्युक्तातिथिलक्षणलक्षितोऽपि विभो नातिक्रमणीयः ॥

अतिथिर्यस्य नाश्चाति तच्ल्लाद्धं न प्रशस्यते ।

इति शातातपस्मरणात् । अतिथेरप्यासन्नस्येव गुणविद्यापरी
क्षणं न कर्तव्यम् । तथा पुराणं—

अविज्ञातं द्विजं श्राद्धे न परीक्षेत्सदा बुधः । सिद्धा हि विशरूपेण चरन्तीह महीतल्ले ॥ अविज्ञातं अविज्ञातकुलनामादिकमतिथिमिति यावत् । सिद्धाः विदितात्मतत्त्वाः ॥

> इति स्मृतिचिन्द्रकायां श्राद्धभोजनीय-ब्राह्मणनिरूपणम्.

अथ भोजनीयतयोक्तश्रोत्रियादिब्राह्मणेषु य दोषसद्भावाद्वज्यस्ति निरूप्यन्ते.

अत्र मनुः--

ये स्तेनाः पितताः क्षीवाः ये च नास्तिकवृत्तयः। तान् हव्यकव्ययोर्विमाननहानमनुरत्रवीत्।। जिटलं चानधीयानं दुर्वालं कितवं तथा। याजयन्ति च ये पूगान् तांश्च श्राद्धे न भोजयेत्॥

चिकित्सकान् देवलकान् मांसविक्रयिणस्तथा। विपणेन च जीवन्तो वर्ज्यास्स्युईव्यकव्ययोः ॥ नेष्यो ग्रामस्य राज्ञश्च कुनखी स्यावद्नतकः। मितरोद्धा गुरोश्चेव त्यक्तामिर्वार्धिपस्तथा ॥ यक्ष्मी च पशुपालश्च परिवेत्ता निराकृतिः। बह्मद्भिर् परिवित्तिश्च गणाध्यन्तर एव च ॥ कुशीलवोऽवकीर्णी च वृषलीपतिरेव च । पौनर्भवश्च काणश्च यस्य चोपपतिर्घृहे ॥ भृतकाध्यापको यश्च भृतकाध्यापितश्च यः। शूद्रशिष्यो गुरुश्चेव वाग्दुष्टः कुण्डगोळकौ ॥ अकारणपरित्यक्ता मातापित्रीगुरोस्तथा। ब्राह्मैयींनैश्च सम्बन्धेः संयोगं पतितैर्गतः ॥ अगारदाही गरद: कुण्डाशी सोमधिकयी। समुद्रयायी वन्दी च तैलिकः कूटकारकः ॥ पित्रा विवदमानश्च केकरो मद्यपस्तथा। पापरोग्यभिशस्तश्च दाम्भिको रसविकयी॥ धनुइशराणां कर्ता च यश्राग्रेदिधिपूपतिः। मित्रधुक् द्वतृत्वातिश्च पुत्राचार्यस्तथैव च ॥ भ्रामरी गण्डमाली च विज्यथो पिश्रनस्तथा। उन्मत्तोऽन्धश्च वर्ज्यास्स्युर्वेद्निन्दक एव च ॥ हिस्तगोश्वोद्दमको नक्षत्रैर्यश्च जीवात ।

पिक्षणां पोपको यश्च युद्धाचार्यस्तथैवच ॥
स्रोतसां भेदको यश्च तेषां चावरणे रतः ।
गृहसंवेशको दूतो द्वक्षारोपक एवच ॥
श्वक्रीडी इयेनजीवीच कन्यादूपक एवच ।
हिंस्रो द्वपलपुत्रश्च गणानां चैव याजकः ॥
आचारहीनः क्षीवश्च निसं याचनकस्तथा ।
कृषिजीवी श्लीपदी च सद्भिर्मिन्दित एव च ॥
औरभ्रको माहिषकः परपूर्वापितस्तथा ।
मेतनिर्यातकश्चैव वर्जनीयाः प्रयत्नतः ॥
एतान्विगहिताचारानपाङ्केयान्नराधमान् ।
दिजातिप्रवरो विद्वानुभयत्र विवर्जयेत् ॥

इति । अत्र यद्यद्वद्याख्यागम्यं तत्तद्वद्याख्यायते—स्तेना त्रा-ह्मणसुवर्णव्यतिरिक्तद्रव्यापहर्तारः, ब्राह्मणस्वर्णहर्तॄणां पतित पदेनैव वर्ज्यत्वस्थाभिधानात् । स्वकर्मस्यागिनो वा स्तेनाः ।

ये व्यपेताः स्वकर्पभ्यः स्तेनास्ते पिश्कार्तिताः। इति यमस्मरणात्। पितता महापातिकनः। क्वीवास्तु पिङ्विधाः देवलेन दर्शिताः—

पण्डको वातजश्चैव पण्डः छीवो नपुंसकः ।
कीलकश्चेति पोढाऽयं छीवभेदो विभापितः ॥
पण्डकादीनां लक्षणं स्वयमेव दर्शयाते—
तेपां स्रीतुल्यवाक्चेष्टः स्रीधर्मा पण्डको भवेत् ।

पुमान् भूत्वा स्वलिङ्गानि पश्चाच्छिन्द्यातथैव च ॥ वातजो नाम पण्डः स्वात् स्त्रीपण्डो वाऽपि नामतः । असिल्ङिङ्गोऽथ पण्डस्त्वात् पण्डस्तु म्लानमेहनः ॥ अमध्याशी पुमान् क्लीवो नष्टरेता नपुंसकः। स कीलक इति ज्ञेयो यः क्लेब्यादात्मनः स्त्रियम्॥ अन्येन सह संयोज्य पश्चात्तामेव सेवते।

इति । नास्ति छोकान्तरफलदं कर्म नास्ति देवतेत्यादिमितमन्तो नास्तिकाः । तेभ्यो वृत्तिजीवनं येपां श्रोतियादीनां ते ना स्तिकवृत्तयः । जिटलो ब्रह्मचारी अनधीयानो वेदाध्ययन-रहितः । नन्वनधीयानजिटलस्य अश्रोतियत्वेन प्राप्तयभावा दयुक्तः प्रतिषेधः । उच्यते—

त्रतस्थमि दौहित्रं श्राद्धे यन्नेन भोजयेत् । इसनेनानुकल्पतया भोजनीयत्राह्मणेषु दौहित्रः ब्रह्मचारी त्रतमात्रस्थः अनधीयानोपि भोजनीयतयोक्तः । तत्र दौहित्रग्र-हणमतन्त्रमिति भ्रान्त्या कथित्रत्पाप्तोत्र निपिध्यत इति नातीव व्यर्थः । केचित्-अनधीयानगृहस्थस्वाश्रोतियस्यापि प्राप्तचर्थ-मिसाहुः । तदयुक्तं,

वेदिविद्यात्रतस्नातान् श्रोत्रियान् गृहमेथिनः ।
भोजयेद्धव्यकव्येन विपरीतांस्तु वर्जयेत् ॥
इति विशेषेण वर्ज्यतयोक्तस्य गृहस्थस्य प्राप्तचसम्भवात् ।
दुर्वात्तः खल्वाटकः, किपलकेशो वा असन्तकोपनो वा ।
SMRITI CHA.—Vol. V. 22

तदेतत्सर्वे सङ्गहकारेणोक्तं—

निश्चिताध्ययनेनैव गुणेन स्वीकृतोऽखिलः ।
मूर्खो यो ब्रह्मचारी तु जटिलसं न भोजयेत् ॥
दौहित्रादिवदत्रापि स्नान्त्या प्राप्तो निपिध्यते ।
ईटशस्य गृहस्थस्य प्राप्तचर्थमपरे विदुः ॥
तन्न युक्तमविद्वांश्च गृहस्थश्च निरुध्यते ।
खल्वाटकश्च दुवीलः किपलश्चण्ड एव वा ॥

इति । पूगयाजकाः बहूनां प्रसेकं याजकाः । श्राद्धग्रहण-मत्र दैवेऽभ्यनुज्ञानार्थम् । दैवस्यापि प्रदर्शनार्थत्वे तु च्य-र्थमेव स्थात् । पूर्वापरपर्यास्त्रोचनयैव दैवे पित्र्ये च प्रतिपेधा-वगतेः । अत एव सङ्ग्हकारः—

दुर्वालादीन् श्राद्ध एव स्त्रेणाह च गौतमः।

इति । मन्वादीनां मतत्वेनेति शेषः । तथाच ब्राह्मणपरीक्षाधिकारे गौतमः—'हविष्णु चैवं दुर्वालादीन् श्राद्धे एवैके'

हविष्णु देवेऽपि च एवं पित्र्यवत् परीक्ष्य दुर्वालादीन् विवर्जयेत् । एके तु मन्वाद्यः दुर्वालादीन् न पित्र्ये भोजयेत् न
पुनर्देवेऽपीति मन्यन्त इति । चिकित्सका वृत्त्यर्थे धर्मार्थे
च । तैत्तिरीयकश्रुतौ—'तस्माद्राह्मणेन भेपजं न कार्यमपूतौ
होपोडमेध्यो यो भिषक' इत्यविशेषण भिषजो निन्दादशे
नात् । देवलकस्य स्वरूपं देवलेन दर्शितं—

देवार्चनपरो विमो वित्तार्थी वत्सरत्रयम् । स व देवलको नाम हव्यकव्येषु गर्हितः ॥ देवकोशोपजीवी तु नाम्ना देवलको भवेत् । अपाङ्क्रियस्स विज्ञेयः सर्वकमेसु सर्वदा ॥

इति । विषणो वाणिज्यं, तेनानापद्यपि जीवन्तो ब्राह्मणाः विषणजीविनः । विषणजीवितयेद प्रतिषिद्धस्य मांसाविक्रपिणः पुनः प्रतिपेधोऽत्यन्तवज्यत्वख्यापनार्थः । तेन अध्यपनादिविक्रायणां श्रोतियादीनामनुकल्पतयोपदियत्वमवगम्यते ।
अथवा आपद्यपि मांसविक्रयिणो वज्याः । प्रेष्यः परिचारकः । कुनखी स्वभावादेव मृतनखः । इयावदन्तः स्वभावातकुष्णदन्तः । अनयोः पुराक्षतकर्मशेषसम्बन्धादेव प्रतिपेधः ।
गुरोः प्रतिरोद्धा स्पर्धा । सक्ताधिः शास्त्रोक्तत्यागकारणमनतरेण सक्तश्रोतस्मातीधिः । वार्धपिकः स्वल्पवृद्धचा धनमादाय अधिकवृद्धचा पुरुषान्तरे धनप्रयोक्ता, स्वल्पमूल्येन पण्यं
कीत्वा तद्विक्रयेण वहुमूल्यसाधको वा । तथाच स्मृतिः—

समार्घ धनमुद्धत्य महार्घ यः प्रयच्छति ।

स वै वार्धुपिको नाम ब्रह्मवादिषु गर्हितः ॥

समार्घ पण्यमादाय महार्घ यः प्रयच्छति ।

स वै वार्धुपिको नाम ब्रह्मवादिषु गर्हितः ॥

यक्ष्मी क्षयरोगी । पशुपालः अनापादि पाशुपाल्यवृत्त्युपजीवी

ब्राह्मणः । परिवेत्तृपरिवित्त्यास्त्वरूपं मनुना स्वेनैव पदर्शितं—

दाराग्निहोत्रसंवन्यं कुरुते योऽग्रजे स्थिते । परिवेत्ता स विज्ञेयः परिवित्तिस्तु पूर्वजः ॥ अग्निहोत्रशब्देनाग्निहोत्राद्युत्तरऋतुप्रयोज्यमाधानमुक्तम् । उक्तं च साक्षाद्गरेण—

सोदर्ये तिष्ठिति ज्येष्ठे न कुर्याद्दारसङ्ग्रह्म् ।
आवसथ्यं तथाऽऽधानं पतितस्तु तथा भवेत् ॥
आवसथ्यमावसथ्याधानं, दायविभागकाले कियमाणमौपा
सनाधानिभिति यावत् । विवाहकाले क्रियमाणौपासनामेश्च
'न कुर्याद्दारसङ्गहम्' इत्यनेनैवार्थान्निरस्तत्वात् । अतः,

औषासनं समाद्ध्यात्स्वकाले परिवेद्यन्।
इति ब्रह्मगर्भवचनेऽपि स्वकालशब्देन दायविभागकाल उक्तः,
न तु विवाहकालोपीत्यवगन्तव्यम्। आधानं गाईपत्याद्याधान्मम्। पतितो भवेत् उपपातकी भवेदित्यर्थः। उपपातकि-परिगणनवचने परिवेत्तृपरिविक्त्योः कीर्तितत्वात्। सोद्येष्र हणादसोदर्ये तिष्ठाति ज्येष्ठे किन्ष्टस्य दारसङ्ग्रहादौ कृतेऽपि न पातित्यदोप इति गम्यते। शातातपेन तु असोद्येविषये दोपाभावः साक्षादुक्तः—

पितुः पुत्राश्च सापत्नाः परनारीस्रुतास्तथा । दाराग्निहोत्रसंयोगे न दोषः परिवेदने ॥ इति । सापत्नाः असोद्रश्चातरः । परनारीस्रुताः स्वापित्रा पर-क्षेत्रे उत्पादिनाः द्वचामुष्यायणभूताः । पितृव्यपुत्रादिषु ज्ये- ष्ठेषु दाराधिहोत्रसंयोगरहितेषु तिष्ठतस्विप कनिष्ठेन दाराधि-होत्रसंयोगे कृते परिवेदनदोपो नास्तीत्यर्थः । परनारीपुत्र-ग्रहणं दत्तपुत्रादेरिप प्रदर्शनार्थम् । अत एव यमः—

> पितृव्यपुत्रान् सापत्नान् परपुत्रांस्तथैव च । दाराग्निहोत्रधर्मेषु नाधर्मः परिविन्दतः॥

परपुत्राः दानक्रयादिना स्विपितुः पुत्रत्वमापन्नाः भ्रातरः। सोदर्ये ज्येष्ठे दाराग्निहोत्रसंयोगरहिते तिष्ठति परिवेदने क चिद्दोषो नास्तीत्याह शातातपः—

क्रीवे देशान्तरस्थे च पतिते भिक्षुकेऽपि वा । योगशास्त्राभियुक्ते च न दोपः पिरवेदने ॥ भिक्षुकः परित्राजकः । योगशास्त्राभियुक्तो विरक्तः । का-त्यायनोपि—

> देशान्तरस्थक्ठीवैकवृषणांश्च सहोदरान् । वेश्यातिसक्तपतितश्द्रतुल्यातिरोगिणः ॥ जडमूकान्धविधरकुल्जवामनखोडकान् । अतिवृद्धानभायांश्च कृषिसक्तावृषस्य च ॥ धनवृद्धिमसक्तांश्च कामतोकारिणस्तथा । कुहकोन्मत्त्वोरांश्च परिविन्दन्न दुष्यित ॥

खोडकः भग्नचरणद्भयः। अभार्याः नैष्ठिकत्रह्मचारिणः। का-मतोकारिणः स्वेच्छयैव विवाहनिष्टत्तिकारिणः। अत्र ये वि-वाहेऽनिधकारिणः क्षीवाद्यः तेषां कालप्रतीक्षणाभावेनापि नास्ति परिवेदनदोषः । ये तु विवाहाधिकारिणो देशान्तरस्थवि-रक्तवेश्यातिसक्तश्द्रतुल्यातिष्टद्धकृषिसक्तराजधनवृद्धिप्रसक्तकाम-तोकारिकुहकचोराः, तेषां कालप्रतीक्षणेन परिवेदने तु न दोषः । तत्र देशान्तरस्थे अष्टवर्षादिकालः प्रतीक्षणीय इत्याह विसिष्टः—

> 'अष्टो दश द्वादश वर्पाणि ज्येष्टभ्रातरमनिविष्टम मतीक्षमाणः प्रायश्चित्ती भवति '

इति । देशान्तरगतस्य विवाहादाविधिकारसम्भवादित्यभिप्रायः। अनिविष्टमकृतविवाहिमसर्थः । अत्र द्वादशवर्षत्रतीक्षणं धर्मार्थे वाऽर्थार्थे वा देशान्तरगते ज्येष्ठे द्रष्टव्यम् । तथाच स्मृतिः—

द्वादशैव तु वर्षाण ज्यायान्धर्मार्थयोर्गतः।

न्याय्यः प्रतीक्षितुं भ्राता श्रूयमाणः पुनःपुनः ॥
भ्राता सहोदरः । धर्मार्थयोरिति विद्याया अपि प्रदर्शनार्थम् ।
अतएव गौतमेन 'नष्टे भर्तरि' इति प्रक्रम्य 'द्वाद्श वर्षाण
ब्राह्मणस्य विद्यासम्बन्धेन ' इति भार्यायाः भर्तृप्रतीक्षणकालः
मुक्ता उक्तं 'भ्रातिर चैवं ज्यायिस यवीयान् कन्याश्रचाधेयेषु '
इति । नष्टे भर्तरि कुत्र गत इसज्ञाते भर्तरि असन्तदूरदेशान्तरगत इति यावत् । द्वादशवर्षाणि ब्राह्मणस्य विद्यासंवन्धेन
ब्राह्मणस्य भर्तुः विद्याश्रहणार्थे देशान्तरगमने सित भार्यया
द्वादशवर्षाणि प्रतीक्षणीयानीत्यर्थः । भ्रातरीति । ज्येष्ठे भ्रातिर
अक्रतिववाहे अकृताश्रचाधेये वा विद्याश्रहणार्थे देशान्तरगते

किनष्ठो भ्राता कन्यापिरग्रहे अग्रवाधाने चैवं द्वादश वर्षाणि प्रतीक्ष्य तदुपिर प्रवर्तेतेत्यर्थः। कार्यान्तरार्थं देशान्तरगतविषये तु अ
ष्टौ दश वेति पक्षद्रयम्। अत्रेदं विवक्षितं—देशान्तरगतस्याभिलपितकार्यं निर्वर्त्य प्रत्यागमनयोग्यकालेऽप्यनागतस्य इह लोके
स्थितिमन्देहेन विवाहसम्भावनानिष्टत्तौ न परिवेदनं दोपावहमिति । एवमेव विरक्तवेश्यातिसक्तादिष्वपि तत्तत्स्वभावस्य
द्वादशवपीदिचिरकालानुष्टत्त्या विवाहसम्भावनानिष्टत्तौ परिवेदनं न दोपावहमिस्यभिभायो वेदितव्यः। अनेनैवाभिप्रायेण
समन्तुनाऽप्यक्तम्—

व्यसनासक्तिचेत्रों वा नास्तिको वा तथाऽग्रजः। कनीयान् धर्मकामस्तु आधानमथ कारयेत्॥ आधानग्रहणं विवाहस्थाप्युपलक्षणार्थम् । क्वीवादयस्तु भ्रातरः किञ्चित्कालमपि न प्रतीक्षणीयाः, तेपां विवाहादौ स्वत एवाः योग्यत्वेनानाधिकारात्। तथाच स्पृतिः—

उन्मतः किल्विमी कुष्ठी पतितः क्षीव एव च ।

राजयक्ष्म्यामयावी च न न्याय्यस्त्यात्प्रतीक्षितुम्॥

खक्षवामनकुब्जेषु गद्गदेषु जडेषु च ।

जासन्धे विधिरे मूके न दोषः परिवेदने ॥

इति । एवमाधानाधिकारिाण ज्येष्ठे स्थितेऽपि तदनुमत्या परिवेदने तु न दोषः । तथाच दृद्धविसष्ठः—

अग्रजश्च यदाऽनग्निरादध्यादनुजः कथम् ।

अग्रजानुमतः कुर्यादिष्महोत्रं यथाविधि ॥ आधानाधिकार्यप्यग्रजो यदा आधानादिविधिमतिक्रम्याना-हिताग्नियीवज्जीवमास्त इति कनिष्ठस्य निश्चयः तदा तदनु मितं लब्धाऽऽधानं कुर्यादित्यर्थः । अयमेवार्थः सुमन्तुनाऽ प्यक्तः—

ज्येष्ठभाता यदा तिष्ठेदाधानं नैव कारयेत्।
अनुज्ञातो हि कुर्वीत शङ्कस्य वचनं यथा ॥
ज्येष्ठभात्ग्रहणं पितुरापि पदर्शनार्थम् । तथाच स एव—
पितुर्यस्य तु नाधानं कथं पुत्रस्तु कारयेत् ।
अग्रिहोत्राधिकारोस्ति शङ्कस्य वचनं यथा ॥
पितृग्रहणं पितामहस्यापि पदर्शनार्थम् । अत एवोशना—
पिता पितामहो यस्य अग्रजो वाऽथ कस्यचित ।

तपोऽग्निहोत्रमन्त्रेषु न दोषः परिवेदने ॥

पूर्वोक्त एव विषये सत्यामनुज्ञायामेतद्षि वचनं द्रष्टव्यम् ।

मन्त्रशब्दो वेदोपलक्षणार्थः । तथाच शातातपः—–

नाग्नयः परिविन्दन्ति न वेदा न तपांसि च ।

न च श्राद्धं किनष्ठस्य या च कन्या विरूपिका ॥

यथा वेदांस्तपांसि श्राद्धं च अधिकृत्स ज्येष्ठे अध्ययनतप

श्राद्धराहित्येन स्थितेऽपि तदनुज्ञामन्तरेणापि किनिष्ठेनानुष्ठि

तानि परिवेदनहेतवो न भवन्ति, तथाऽग्रयोपि ज्येष्ठादरभ्य

नुज्ञया किनिष्ठेनाहिता इत्यर्थः । या च कन्या विरूपिकेत्य-

स्यायमर्थः — विवाहाधिकारिण्यां ज्येष्ठायां कन्यायां विक-पायां अनूढाया स्थितायां तदनुकां विनाऽपि कनिष्ठाया विवाहा-दिकालातिक्रमभीत्या कृतो विवाहो न दोपायेति । एवं चैवं-विधविषयव्यतिरिक्तविषये कन्यास्विष परिवेदने वरपरिवेदनो-कं सर्वमनुसन्धेयम् । अनुजस्य तु ज्येष्ठभात्रनुक्रयाऽपि विवा-हदोषोऽस्तीसाह हारीतः—

सोदराणां तु सर्वेषां परिवेत्ता कथं भवेत् ।
दारैस्तुं परिविद्यन्ते नाग्निहोत्रेण नेज्यया ॥
विवाहादाविधकारिभूतज्येष्ठेनानुज्ञातसोदर्विषयमेतत्—'दारैस्तु
परिविद्यन्ते' इति । वृद्धयाज्ञवल्क्यस्तु ज्येष्ठोपि कदाचिदाधानेन परिवेत्ता भवतीत्याह—

आवसत्थ्यमनादृत्य त्रेतायां यः प्रवर्तते । सोऽनाहितात्रिर्भवाति परिवेत्ता तथोच्यते ॥

इति । अयमर्थः —यथा दायाविभागकाले औपासनाधानं यस्य स्वगृह्योक्तं, असौ तदकुत्वा ब्रह्मौदनपाकं निर्मन्थ्याप्तिना कृत्वा गाईपत्याद्यापानं यदि कुरुते सोऽनाहिताप्तिर्भवति । प्रथमाधाने निर्मन्थ्याप्तिना ब्रह्मौदनपाकस्याशास्त्रार्थतया गाईपत्यादिश-व्दवाच्यालौकिकसंस्कारस्थानुत्पत्तेः । तथाच प्रथममाधेयमौपा-सनाप्तिमनाधाय गाईपत्याद्याधानकरणात्परिवेत्तेसपि गीयत इत्यलं परिवेत्तृपरिवित्तिशब्दार्थकथनप्रपञ्चन ॥

निराकृतिशब्दार्थस्तु देवछेन दार्शतः— Smriti Cha.—Vol. V. अधीत्य विस्मृते वेदे भवेद्विमो निराक्यतिः ।

इति । कात्यायनस्त्वन्यथा निराकृतिश्रव्दार्थमाद्द—

यस्त्वाधायाग्निमालस्यादेवादीनिह नेष्टवान् ।

निराकर्ताऽमरादीनां स विज्ञेयो निराकृतिः ॥

इति । ब्रह्माद्दद् ब्राह्मणानां द्वेष्ठाः । परिवित्तिशब्दस्तु परिवेत्तृशब्दव्याख्यानावमरे व्याख्यातः । गणः मद्यपायी ब्राह्मणादिः, तन्मध्यगो गणाभ्यन्तरः । कुशीलवो गायकनर्तकादिः ।

अवकीर्णिनमाह देवलः—

गूढिछिङ्गचनकीणीं स्थात् यश्च भग्नवतस्तथा । इति । गूढिछिङ्गी दण्डमेखछादित्रह्मचारिछिङ्गत्यागी । भग्नवतः स्त्र्युपगमेन स्खिछितब्रह्मचर्यः ।

त्रती यस्स्त्रियमभ्येति सोऽवकीणीं निरुच्यते । इति यमस्मरणात् । व्रपलीपतिरपि देवलेन दर्शितः —

> वन्ध्या तु रुपली ज्ञेया रुपली च मृतप्रजा । अपरा रुपली ज्ञेया कुमारी या रजस्वला ॥ यस्त्वेना सुद्रहेत्कन्यां त्राह्मणो ज्ञानदुर्वलः । अश्राद्धेयमपाङ्केयं तं विद्याद्वपलीपतिम् ॥

कन्यावस्थायां या रजस्वला जाता तां य उद्घहेत् तमश्राद्धेयं अपाङ्केयं वृपलीपतिं विद्यादित्यन्वयः । एवश्च तृतीयवृपली-पतिरेवात्र मनुनोक्त इति मन्तव्यम्। पुनर्भूः द्विरूढा तस्याः यो द्वितीयविवाहें सति पतिः तेन तस्यामुत्पादितः पुत्रः पौनर्भवः। काण एकचक्षुः । 'यस्य चोपपितर्ग्रहे ' इत्येतदेवलोन स्पष्टीकृतं— परदाराभिगो मोहान्पुरुषो जार उच्यते । स एवोपपितर्ज्ञेयो यस्सदा संवसेद्गृहे ॥

वेतनेन भृत उपाध्यायो भृतकः । स्वार्थे कप्रत्ययः । भृतकश्वासा-वध्यापकश्चेति भृतकाध्यापकः । भृतकेनाध्यापकेनाध्यापित-विश्रष्यो भृतकाध्यापितः । एतावुपपातिकनौ ।

भृतकाध्यापको यश्च भृतकाध्यापितश्च यः।
तातुभौ पिततौ विभौ स्वाध्यायक्रयविक्रयात् ॥
इति देवल्रस्मरणात् । पिततौ उपपातिकनावित्यर्थः । उपपातकमध्ये एतयोरापि गणनात् । शुद्रस्य शिष्यः शुद्रशिष्यः । गुरुः
शुद्रस्येति शेषः, तस्य बुद्धिस्थत्वात् । वाग्दुष्टः कात्यायनेन
दिश्चितः—

हुंकारं इसनं चैव लोके यच्च विगिहितम्।
अनुकुर्यादनुबूयाद्राग्दुष्टं तं नरं विदुः॥
कुण्डगोलको स्वेनैव मनुना दिशितौ—
परदारेषु जायेते हो सुतो कुण्डगोलको ।
जीवे भर्तरि कुण्डस्स्यान्मृते भर्तरि गोलकः॥
समब्राह्मणभूताभ्यां जायापातिभ्यामुत्पादितः सुतो ब्राह्मणोभवति, न पुनर्वाह्मणभूतजारेण ब्राह्मणजातीयजारिण्यां समुत्पादितः।

सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु।

आनुलोम्येन सम्भूताः जात्या क्षेयास्तथैव ते ॥
इति जातिनिर्णये मनुनैवाभिधानात् । तेन कुण्डगोळकयोरत्राह्मणयोः श्राद्धे अभोजनीयत्वेन कथि द्विदिष्ण प्राप्तिनीस्तीति
'वाग्दुष्टः कुण्डगोळकौ' इत्यत्र कुण्डगोळकयोरुपादानं व्यर्थ
स्यात् । अत्रोत्तरमुक्तं सङ्गहकारेण—

नियोगोत्पादितौ श्रांदे निपिद्धौ कुण्डगोळकौ । अत्राह्मण्यात्कुतः माप्तिः शूद्रवज्ञारजातयोः ॥

इति । यद्यपि जारजातयोः कुण्डगोळकयोः बाह्मणत्वाभावेन श्रृद्रवदेव श्राद्धपाप्तचभावात् निषेधो न सम्भवति । तथाऽपि नियोगोत्पादितयोः कुण्डगोळकयोः परदारोत्पन्नयोरपि शास्त्री-यमार्गानुसारेणोत्पादितत्वात् ब्राह्मण्यमस्तीति तावेव कुण्डगो-ळकौ मनुना श्राद्धे निषिद्धाविसर्थः । तदेतदयुक्तं—नियोगो-त्पादितयोरजारजातत्वेनाकुण्डगोळकत्वात् । अजारजत्वं च नियुक्तस्याजारत्वात् । तथाच देवलः—

परदाराभिगो मोहात्पुरुषो जार उच्यते ।

इति । मोहादिति पदं नियोगात् परदाराभिगः पुरुषो न जार

इत्याह । अजारजातौ न कुण्डगोळकौ । तथा च स एव—

अमृते जारजः कुण्डो सते भर्तारे गोळकः ॥ इति । जारज इति वदिन्नयुक्तो न कुण्डो न गोळकश्चेत्याह । बृहस्पतिना त्विनयुक्तजावेव कुण्डगोळकाविति स्पष्टमुक्तं— पारदार्यमधर्म्यं तु तज्जातौ कुण्डगोळ्कौ । अश्राद्धेयावभोज्यान्नौ क्षेत्रजाद्यास्तथा सुताः ॥

इति । यदधम्यं पारदार्य तज्जातावेध कृण्डगोळको, न पुनः पारदार्यमात्रजावित्यर्थः । अतश्च नियोगे सित पारदार्यस्था- धम्यत्वाभावात्तदुत्पन्नो न कुण्डगोळको । किंतु क्षेत्रजावेव । अतस्योः पृथक् प्रतिषेधार्थ 'क्षेत्रजाद्यास्तथा सुताः' इत्यु-क्तम् । तस्मात्—

नियोगोत्पादितौ श्राद्धे निपिद्धौ कुण्डगोळकौ । इति सङ्गहकारोक्तमयुक्तमेव । अतोऽन्यथा समाधिरभिधीयते— 'वाग्द्षः कुण्डगोळकौ' इसत्र कुण्डगोळकशब्दौ गौण्या वृत्त्या नियोगोत्पादितक्षेत्रजपुत्रयोर्वर्तेते । तत्र जीवति भर्तरि परदारेषु जातत्वसाम्यात्कुण्डज्ञव्दो वर्तते । मृते भर्तरि जाते क्षेत्रजे मृते भर्तिर परदारेषु जातत्वसाम्यात् गोळकशब्दः। एवमुक्तकुण्डगोळकयोत्रीह्मणत्वेन श्राद्धे प्राप्तिसम्भवात्प्रतिषे-धोऽर्थवान् । एवं तर्हि पूर्वोक्ते 'पारदार्यमधर्म्यं तु' इत्यादिवाः ईस्पत्यवचने 'क्षेत्रजाद्यास्तथा सुताः' इत्यनेनैव क्षेत्रजपुत्रः प्रतिपेधस्य सिद्धत्वात् 'कुण्डगोळकावश्राद्धेयौ ' इत्येतन्मुख्य कुण्डगोळकप्रतिषेधार्थमित्यवद्यं वक्तव्यम् । तचायुक्तं, मुख्य-कुण्डगोळकयोरत्राह्मणत्वेन शुद्रवदमाप्तेः मितपेधानर्थक्यात्। उच्यते-कुण्डगोळकयोजीयन्तरत्वेन व्यवहाराभावात् ब्राह्मण्यां त्राह्मणोत्पादितत्वमात्रेण त्राह्मणोऽयमिति श्राद्धादौ स्वीकारो भवति । तेन मन्दानुग्रहार्थं परमार्थतोऽन्नाप्तयोरपि तयोः मित-पेथो वृहस्पतिना कृत इत्यलं कुण्डगोळकन्नतिषेधमयोजनस-मर्थनप्रपञ्चेन ॥

अकारणपरित्यक्तेत्यस्यायममर्थः—'त्यनेत्पितरं राजघा तकम्' इत्यादिशास्त्रोक्तत्यागकारणेऽविद्यमानेऽपि मातापित्रो गुरोवी परिसक्तेति । गुरुरत्राचार्यो न पिता, तस्य स्व शब्देनैयोपात्तत्वात् । त्यागो 'जीवतोर्वाक्यकरणम्' इत्यादि शास्त्रोक्तशुश्रूषाद्यकरणम् ।

ब्राह्मैयों नैश्च सम्बन्धसंयोगं पिततैर्गतः ।
इति प्रतिपेधो व्यर्थः, 'ये स्तेनपिताः क्रीवाः' इत्यत्र पित
तग्रहणेन पञ्चविधपिततप्रतिपेधस्य प्रागेव कृतत्वात् । सत्यं,
ब्राह्मैयों नैश्च सम्बन्धैसंयोगमुपपातिकिभियों गतस्तस्यागत्या
कदाचिद्रोजनीयत्वाङ्गीकारार्थोंऽयं पुनः प्रतिपेध इति न व्यर्थः।
सङ्गहकारस्तु पञ्चविधपिततव्यितिरक्तपिततप्रतिपेधकतया श्लोन्
कार्थमुक्ता वैयर्थ्य परिहृतवान् —

त्राह्मैयौँनैश्च संम्वन्यस्मंबद्धा ब्रह्महादिभिः। सद्यो ये पतितास्तैर्यस्मंयोगं पतितैर्गतः॥ पतितस्म निषिद्धत्वात्तृतीयोऽत्र निषिध्यते।

इति । ब्रह्महादिसम्बन्धात्सद्यो ये पतिताः तैः पतितैर्यस्संयोगं गतः सोऽत्र तृतीयः प्रतिपिध्यते । 'तत्संयोगी च पश्चमः' इत्युक्तस्य पतितस्य प्रागेव निषिद्धत्वादित्यर्थः॥ अगारदाही तु दिधा देवलेन दार्शतः—
अगारदाही स क्षेयः प्रेतदग्धा धनेन यः ।
स चाष्यगारदाही स्याद्वेषाद्यो वेश्मदाहकः ॥
इति । कुण्डाशी कुण्डगोळकयोरन्नभोक्ता। तथाच कुण्डगोळकावभिधाय मनुनैवाभिहितम्—

यस्तयोरन्नमश्राति स कुण्डाइयुच्यते द्विजः। इति । सोमविकयी सोमलताया विकेता । समुद्रयायी वहि-त्रमारुह्येति शेषः । वन्दी नृपादिस्तुतिपाठकः । तैलिकः तैलहुन्युपजीवी । कूटकारकः कूटस्य अपरमार्थस्यालेख्यादेः कारकः । पित्रा विवद्भानः स्पृताचारव्यपेतमार्गेण पित्रा सह विशतिपद्यमानः । केकरोऽर्धदृष्टिः । मद्यपः सुराच्य-तिरिक्तमद्यपः । सुरापस्य पतितपदेन पागेव प्रतिपेधात् । पापरोगी 'उन्मादस्त्वग्दोपो राजयक्ष्मा श्वासो मधुमेहो भगंदरो महोदरमञ्मरीत्यष्टौ पापरोगाः' इति देवलोक्तपाप-रोगेष्वन्यतमरोगवान् । अभिशस्तः दोषकारितया केनचि त्सभायामावेदितः । दाम्भिकः धर्माचरणे शाठ्यवान् । रसविक्रयी क्षारादिरसविक्रयी । धनुक्शराणां कर्ता धनुषः **शराणां** च कर्ता । अग्रेदिधिपूपतिः अग्रेदिधिष्वाः पतिः। का पुनः अग्रेदिधिपूरिसपेक्षिते देवलः-

> ज्येष्ठायां यद्यन्द्रायां कन्यायामुह्यतेऽनुजा । सा चाग्रेदिधिपूर्ज्ञेया पूर्वा तु दिधिपूर्मता ॥

इति । मित्रश्चक् मित्रद्रोही । द्यूतवृत्तिः द्यूतजीवनः । पुत्राचार्यो नाम ग्रामगतगृहस्थकुमाराणामक्षरशिक्षकः ॥ तथाच सङ्ग्हकारः-

पुत्राचार्यस्स विज्ञेयो ग्रामे योऽक्षरपाठकः। इति । अथवा पुत्र एवाचार्यो यस्य स पुत्राचार्यः। तथाच स एव—

पुत्रादवाप्तिविद्यो वा पुत्राचार्यो निगद्यते ।

इति । भ्रामरी भ्रमरवहृत्त्यर्थमेवार्थार्जकः । तथाच स एव—

यः पोषयति वृत्त्यर्थ विभवान् भ्रामरी तु सः ।

इति । गण्डमाली गण्डमालाख्यरोगवान् । श्वित्री कुष्ठच्याधिना श्वेतत्वक् । पिशुनः स्वभावतो वृत्त्यर्थं वा परदोपस्
चकः । उन्मत्तादयः प्रसिद्धाः । पिशुणां पोषकः वद्धानां
क्रीडार्थं पोपायता । युद्धाचार्यो धनुवेदोपाध्यायः । स्रोतसां
भेदकः प्रवाहस्य दिगन्तरे नेता, तेपां चावरणे रतः आवरणे गतिप्रतिवन्धार्थं मृदादिना मार्गनिरोधने रतः । गृहसंवेशकः वर्धिकिवृत्त्या वर्तमानः । दृतस्तन्देशहरः । वृक्षारो
पकः मृल्यं गृहीत्वेति शेषः । 'पश्चाम्रवापी नरकं न याति'
इसादिशास्त्रेण धर्मार्थं वृक्षारोपणविधानात् । श्वकीडित्यादयो
निगदच्याख्याताः । वृपलस्तु स्वेनैव मनुना निकृपितः—

वृषो हि भगवान् धर्मः तस्य यः कुरुतेऽसयम्। वृपलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्भं न लोपयेत् ॥ इति । अलं निवारणम् । एवंच व्यवहारद्रष्टुषु यो धर्मवा धनं कुरुते स वृपलः । तत्पुत्रो वृपलपुतः । स च त्राह्मण एवेति नायमप्राप्तपतिषेध इति मन्तव्यम् । गणानां याजकः अनेकयजमानकाहीनद्वादशाहादियशयाजकः । तथाच स्मृतिः— 'तस्माद्वादशाहेन न याज्यं पाप्पनो व्यावृत्त्ये ' इति । एवंच 'याजयन्ति च ये पूगान् ' इसनेन सहास्थापौनरुक्तयं सिद्धम् । आचारहीनो दुराचारः । क्षीवोऽनुत्साही समर्थोपि स्वाश्रम-धर्मानुष्ठानरित इत्यर्थः । एवंच 'ये स्तेनपतितक्षीवाः ' इत्यनेन अपौनरुक्तयं स्फुटम् । नित्यं याचनकः सस्यपि विभवे याचकः । श्लीपदी श्लीपदाल्यरोगवान् , उच्छूनपद इति यावत् । उरभ्राः अवयः ता एव जीविकार्थं पाल्याः यस्थानसावौरभ्रकः । एवं माहिपकः । अथवा व्यभिचारिणीस्रतो माहिपकः । यदाह देवलः—

महिपीत्युच्यते भार्या या चैव व्यभिचारिणी।
तस्यां यो जायते गर्भः स वै माहिपकस्स्मृतः॥
इति । तस्यां यस्स्यभर्तुर्जायते पुत्रः स माहिपकस्स्मृत इत्यर्थः।
पूर्वमन्यस्मै दत्ता परपूर्वा तस्याः पतिः परपूर्वापतिः। मेत
निर्यातको मूल्येन मेतानिर्हारकः। धर्मार्थं तु प्रशस्त एव।
कस्माद्वचनादेतदवगतामित्यपेक्षिते सङ्गहकारः—

एतान्विगहिंताचारानिसस्मादवगम्यते । धर्मार्थे पेतनिर्वाणमदृष्टं दक्षरोपणम् ॥ Smriti Cha.—Vol. V. इति । एतान् स्तेनपतितक्षीवादिषेतिनर्यातकपर्यन्तान् उभ-यत्र देवे पित्र्ये चेत्यर्थः । ब्रह्मपुराणेऽपि वज्यी ब्राह्मणा उक्ताः—

भोकुं श्राद्धेषु नाहीन्त दैवोपहतचेतसः ।
पण्डो मूकश्र कुनस्वी खल्वाटो दन्तरोगवान् ॥
दयावदन्तः पूतिनासः छिन्नाङ्गश्राधिकाङ्गिलः ।
गळरोगी च गडुमान् स्फुटिताङ्गश्र सज्वरः ॥
सक्जतूपरमन्दाश्र तथाऽन्ये दीर्घरोगिणः।

इति । गडुमान् वातवशादुरसि पृष्ठे च उन्नतास्थिसंस्थाना-न्वितः । खञ्जः भग्नचरणः । तूपरो यौवनकाले इमश्रुविहीनः । मन्दः अलसः । यमोपि—

> न खरैरुपयातस्य न रक्तोत्वणवासस । द्व्यङ्गुळातीतकर्णस्य भुअते पितरो हावेः॥

कर्णवेधस्थाने ताळपत्रादिमवेशेनाभिवर्धनं द्व्यङ्गुलाधिकं निषि-द्धम् । तेन द्व्यङ्गलातीतकर्णोप्यनर्हः । शङ्कोपि —

> अनध्यायेष्वधीयानाः शौचाचारविवर्जिताः । शुद्रान्नपरिपुष्टाङ्गाः ब्राह्मणाः पङ्किदूपकाः ॥

शातातपापि-

अग्निष्टोमादिभिर्य ज्ञेर्ये यजन्त्यस्पदाक्षिणैः । तेपामनं न भोक्तव्यमपाक्केयाः प्रकीतिताः ॥ प्रचरित च ये मूढास्तं ऋतुं हीनदाक्षणम् ।
ते मृता नरकं यान्ति पूयशोणितकर्दमम् ॥
अल्पदक्षिणैः 'सप्तैक।वेंशतिपष्टिशतद्वादशसहस्रम् ' इत्यादिः
सूत्रोक्तगोसङ्ख्याविकल्पेषु वित्तशाठ्येन स्वीकृताल्पसङ्ख्याकदः
क्षिणैरित्यर्थः । आपस्तम्वोषि—

नीलीकर्षण कारी तु नीलवस्त्रोपधारकः।

किञ्चित्तस्य न दातव्यं चण्डालसदशो हि सः ॥
नीलीसंसर्गजदोपवान् वर्ज्य इत्यर्थः । मरीचिरिप वर्ज्य
माह—-'वैधव्यो विधवापितः' इति । श्राद्धानिह इति शेपः ।
वैधव्यः वैधवेयः । पुनः परिणीतिविधवापुत्र इति यावत् ।
विधवापितः विधवायाः पुनःपरिणीतायाः पितः । देवलोपि—

चातुराश्रम्यवाह्यभयो दत्तं भवति निष्फलम्। इति । पुराणेऽपि—

चत्वारस्त्वाश्रमाः पूज्या दैवे श्राद्धे च सर्वदा । चातुराश्रम्यवाह्यभ्यः श्राद्धं नैव प्रदापयेत् ॥ अनाश्रमी तपस्तेषे यस्तु तं न निमन्त्रयेत्। प्रवृत्ता वा निष्टतावाऽनाश्रमाः पङ्किदृषकाः॥

मनुस्तु पङ्किद्यकानाह—

वीक्ष्यान्धो नवतेः काणः पष्टेविश्वत्री शतस्य च । पापरोगी सहस्रस्य दातुर्नाशयते फलम् ।। यावतस्संस्पृशेदङ्गे ब्राह्मणान् शूद्रयाजकः ।

 $^{^{1}}$ नीलीसंसर्ग.

तावतां न भवेदातुः फलं दानस्य पौर्तिकम् ॥
अन्धस्य दर्शनाभावेन पङ्किगतत्वमात्रेण नवितनाशकत्वं, न
तु वीक्षणेन । संस्पृशेदित्यनेंनैकपङ्किगतत्वं लक्ष्यते । मुख्याथस्वीकारे स्पर्शनाभावे पङ्किदृपकताभावस्त्यात् । स चायुकः । शुद्रयाजकः स्थपनीष्ट्यामृत्विक्, स्ववृत्त्यर्थे प्रतार्थ
शुद्रार्थे पाकयशादिकर्ता वा । यदि पुनर्ज्ञानादगस्या वा
पङ्किद्पकपरिग्रहः कियते तदा त्वाह मनुः—

अपाङ्केयहता पिङ्कः पाच्यते यैद्विजातिभिः ।
तात्रिवोधत कात्स्त्रर्थेन द्विजाग्रचान् पिङ्किपावनान् ॥
अग्रचा वेदेषु सर्वेषु सर्वभवचनेषु च ।
श्रोत्रियान्वयजाश्चेव विज्ञेयाः पिङ्किपावनाः ॥
त्रिणाचिकेतः पञ्चाग्रिस्तिसुपर्णष्पडङ्गवित् ।
व्रह्मदेयानुसंतानश्चन्दोगो ज्येष्ठसामगः ॥
वेदार्थावत्भवक्ता च ब्रह्मचारी सहस्रदः ।
श्रतायुश्चेव विज्ञेयाः व्राह्मणाः पिङ्किपावनाः ॥

ब्रह्मदेयानुसंतानो ब्राह्मविवाहोहायाः पुत्रः । पङ्किपावनाः पङ्कचुपविष्टकाणादिनिवन्धनदोषापनेदिकाः । तेन वैश्वदेवार्थ-मपरीक्ष्य स्वीकृता वाऽऽपत्स्वगसा स्वीकृताः काणादयः सर्ववेदाग्रचादिभिः पङ्किपावनैर्मिश्रिता यथा भवन्ति तथा नियोक्तन्या इत्यभिप्रायः । अत एव सुमन्तुः—

काणाः कुब्जाश्च खञ्जाश्चाप्यचर्माणः कचैार्वना ।

सर्वे श्राद्धे नियोक्तव्या मिश्रिता वेदपारगैः॥ अचर्माणः शिपिविष्टाः। कचैर्विना खल्वाट इचर्थः। सङ्ग्रहः कारस्तु मिश्रणे विशेषमाह—

काणादीन् भोजयेदैवे श्राद्धे दाने तु वर्जयेत् ।

इति । श्राद्धे दाने श्राद्धदान इत्यर्थः । पैठीनासिरपि पङ्किपावनानाह—' अथातः पङ्किपावना भवन्ति त्रिणाचिकेतः
त्रिमधुः त्रिसुपर्णः चीर्णव्रतद्द्यन्दोगो ज्येष्ठसामगो ब्रह्मदेयानुसन्तानस्सहस्रदो रुद्राध्यायी चतुर्वेदष्पडङ्गविदथर्वशिरोऽ
ध्यायी पञ्चामिर्वेदजापी चेति पङ्किपावनाः । तेपामेकैकः
पुनाति नियुक्तः पङ्किमूर्थनि सहस्रैरप्युपसेविताम्' इति ॥

द्यात समृतिचान्द्रकायां वर्जनीयब्राह्मणनिरूपणम्

अथ श्राद्धदिनात्प्राचीनदिनकृत्यम्.

तत्र वराहपुराणम्—

वस्त्रशोचादि कर्तव्यं श्वः कर्ताऽस्मीति जानता ।
स्थानोपलेपनं भूमिं कृत्वा विपान् निमन्त्रयेत् ॥
दन्तकाष्ठानि विस्रजेत् ब्रह्मचारी शुचिर्भवेत् ।
श्राद्धभूमिं परिगृह्य परिगृहीतस्थानोपलेपनं कृत्वा वस्त्रशुद्धचा
दिकं अहि कर्तव्यम् । रात्रो तु विपान् निमन्त्रयेत् । देविपतृकार्यसंपत्त्यर्थमप्रत्याख्येयेन नियोगनोपकल्पयेदित्यर्थः । अप्रत्या
ख्येयो नियोगो निमन्त्रणमिति गीयते ।

* मदालसावाक्यमापि--

निमन्त्रयीत पूर्वेद्युः पूर्वोक्तान द्विजसत्तमान् ।
दैवे नियोगे पित्र्ये च तांस्तथैवोपकल्पयेत् ॥
तथैव दैवे नियोगे यूयं, पित्र्ये नियोगे यूयमिति विशेपनिर्धारणयैवत्यर्थः । देवलोपि—

श्वः कर्ताऽस्मीति निश्चित्य दाता विप्रान्तिमन्त्रयेत् । निरामिपं सकुद्धका भुक्ते सर्वजने गृहे ॥ स्वगृहे यज्जनजातमस्ति तस्मिन् सर्वस्मिन् भुक्तवति साति पश्चान्तिमन्त्रयेदित्यर्थः । यमोपि—

जातिकियाववोधाद्यैर्युक्तान् दान्तानस्रोसुपान् । प्रार्थयीत पदोषान्ते भुक्तानशियतान् द्विजान् ॥ अववोधो वेदार्थादेरवगतिः । अशयितान् अकृतशयनिक्रयान् । प्रार्थना च कथं कर्तव्येसपेक्षिते प्रचेताः—

> क्तापसन्यः पूर्वेद्यः पितृन् पूर्वे निमन्त्रयेत् । भवद्भिः पितृकार्यं नस्सम्पाद्यं च प्रसीदत् ॥ सन्येन वैश्वदेवार्थं प्रणिपस्य निमन्त्रयेत् ।

कृतापस्च्यः प्राचीनावीती भूत्वा नः अस्माकं श्वः पितृकार्यं भिविष्यति तद्भवद्भिः आहवनीयकार्यकरत्वेनानुगृह्य सम्पाद्यं, ततश्चाहवनीयार्थं प्रसीदतेत्वेवं निमन्त्रयेदित्यर्थः । सन्येन सन्यांसस्थयज्ञोपवीतेनान्वितः । प्रणिपस निमन्त्रणं गूद्रकर्त्तः कश्राद्धयिपयम् ।

^{*} सुदासोवाक्यमपि. इति पाठान्तरम्.

दक्षिणं चरणं वित्रः सच्यं वै क्षत्रियस्तथा ॥ पादावादाय वैक्यो द्वौ श्रृद्रः प्रणतिपूर्वकम् । निमन्त्रयीत पूर्वेद्युः.....।

इति पुराणस्मरणात् । दक्षिणचरणग्रहणे तु अदेशविशेषो मात्स्ये दर्शितः—

दक्षिणं जानुमालुभ्य त्वं मया तु निमन्त्रितः । इति ब्रूयादिति रोषः । 'पितृन् पूर्व निमन्त्रयेत्' इति निय मार्थम् ।

देवे नियोगे पित्रये च तांस्तथैवोपकल्पयेत् ।

इति दैवपूर्वकानिमन्त्रणस्थापि मदालसावाक्येन स्मृतत्वात्,

उपवीती ततो भूत्वा देवतार्थं द्विजोत्तमान् ।

अपसव्येन पित्रये तु स्वयं शिष्योऽथवा सुतः ॥

इति वृहस्पतिस्मरणाच । निमन्त्रणं प्राक्षतिव्यम् । तदाह पैठीनसिः—'श्वः श्राद्धं करिष्यामीति संकल्प्य ब्राह्मणान् सप्त
पच वा श्रोतियान्तिमन्त्रयेत्' इति । सप्त पच वेति पैतृकवैश्वदेवब्राह्मणानां मिळितानां सङ्ख्या । अस्येव वाक्यस्थान्त्रभागे 'प्राङ्मुखान् वैश्वदेवानुपवेशयेत् पितृन् दक्षिणपू
वैण' इस्राभिधानात् । अत्र पैतृके वैश्वदेवे च कथं ब्राह्मणसङ्ख्या विभाग इस्रपेक्षिते अङ्गिराः—

अयुजो भोजयेच्छ्राद्धे न समा दैविके समाः। न समास्समसङ्ख्याकाः पित्रर्थे न ग्राह्या इसर्थः। अतएव मनुः- 'द्रों दैवे पितृकुसे त्रीन्' इति । एतत् पञ्चसंख्यापक्षे द्र पृच्यम् । सप्तसङ्ख्यापक्षेतु चत्वारो देवे त्रयः पित्रये इति विभाग ऊहाः। ननु द्वौ दैवे पश्च पित्र्य इति विभागः कस्मान भवति ? तथाहि—'देवे युग्मान् यथाशक्ति वित्र्य एकैकरूप' इति कासायनेन पित्र्ये एकैकस्य यथाशक्तच्युग्मानिति वद्ता पितृपितामहप्रपितामहानां प्रसंकमयुग्मब्राह्मणकरुपनं न पुनस्स मुदायस्येति दर्शितम् । ततश्र पञ्चानां 'समं स्यादश्रुतत्वात्' इति न्यायेन पसेकमयुग्मसंख्यया समविभाग ऊहनीयः। न यथेष्टम् । न च पित्रादिपु त्रिषु पश्चानां समतया विभागः सम्भवति, सम्भवति तु त्रयाणाम् । तस्माचत्वारो देवे, पित्रये तु त्रय इसेव विभागः कार्यः । पित्रर्थत्राह्मणेष्वेवाधिकसङ्खचा-मप्याह शौनकः—'एकैकमेकैकस्य द्वौद्वौ त्रींस्त्रीन् वा' इति। द्वौद्वौ इति वृद्धिश्राद्धाभिषायम् । पार्वणश्राद्धे तु 'अयुजो भोजयेच्छाद्धे न समान् ' इति समसङ्यानिपेधात् । एकैकमेकै-कस्चेति पक्षे पितुकृत्ये त्रयो निमन्त्रणीयाः । त्रींस्त्रीनेकैकः स्येति पक्षे तु पितृकृत्ये नव निमन्त्रणीयाः । त्रींस्त्रीनेकैकस्येति पक्षाभिषायेण गौतमेनाष्युक्तम्—'नवावरान् भोजयेत्' इति। यत्तु मनुनाक्तं-

पूर्वेद्युर्वा परेद्युर्वा श्राद्धकर्मण्युपस्थिते । निमन्त्रयीत ज्यवरान् सम्यग्विमान् यथोदितान् ॥ इति, अत्र पत्येकमिति शेषो द्रष्टव्यः । ततश्च गौतमवचनः समानार्थत्वान्न तेनास्य विरोधः । प्रसेकिमत्यध्याहारपरिहाराय पितृकृत्ये ज्यवरानिति व्याख्याने तु 'द्रौ दैवे पितृकृत्ये
त्रीन्' इति स्वोक्तेन पौनरुक्तयं प्रमुज्येतेति तथा व्याख्याः
नमयुक्तम् । ज्यवरानित्यभिधानात् प्रत्येकं पश्चसङ्ख्या मध्यमः
पक्षः, प्रत्येकं सप्तसङ्ख्या तूत्तमः पक्ष इति मन्तव्यम् । अत
एव गौतमः—'अयुजो वा यथोत्साहम्' इति । पित्रादिषु
प्रसेकं पश्चसङ्ख्या सप्तसंख्या वा यथोत्साहं यथाविभवमयुजो
विप्रान् भोजयोदिसर्थः । एवश्च सुसमृद्धतमस्य सत्क्रियादिसमर्थस्य सप्तिभस्सप्तिभिविषेः पितृकृत्यं कार्यः, सुसमृद्धतरस्य
पश्चिभःपश्चिभविषेः, सुसमृद्धस्य त्रिभिक्तिभः, समृद्धस्य
त्रिभिरवेति वोद्धव्यम् । यत्युनर्भनुनोक्तंः—

द्वौ दैंवे पितृकुत्ये त्रीन् एकैक मुभयत्र वा ।
भोजयेत्सुसमृद्धोपि न प्रसज्येत विस्तरे ॥
सित्त्रियां देशकालौ च शौचं ब्राह्मणसम्पदम् ।
पञ्चैतान् विस्तरो हान्ति तस्मान्नेहेत विस्तरम् ॥

यच वृहस्पतिना-

एकैकमथवा द्वाँ त्रीन् दैवे पित्र्ये च भोजयेत्। सित्कियाकालपात्रादि न सम्पद्येत विस्तरे॥

इति, यदपि पुराणे—

देशकालवलालाभादेकैकमुभयत्र वा । शेपान्वित्तानुसारेण भीजयेदन्यवेश्मनि ॥ Smriti Cha.—Vol. V यस्मात् ब्राह्मणवाहुळ्यात् दोषो वहुतरो भवेत् । श्राद्धनायो मौननायाः श्राद्धतन्त्रस्य विस्मृतिः ॥ उच्छिष्टोच्छिष्टसंस्पर्यो निन्दा चाष्यन्नमोक्तृपु । वितण्डया परीवादो जल्पास्तेऽपि पृथग्विधाः ॥

इति, शेपान् आमन्त्रितान् अतिथिप्रभृतीन् । तदेतत्सुसमृद्धस्यापि यस्य ब्राह्मणवाहुल्ये सात्क्रियादिसंपादनासामध्ये
तद्विषयम् । यस्य तु सम्पादनसामध्येमिस्त तद्विषयं शौनकादिवचनिमिति सर्वमनवद्यम् । न चात्रानाढ्यतया व्यवस्था
संभवति, 'द्वौ दैवे पितृकृत्ये त्रीन् एकैकमुभयत्र वा । भोजयेत्सुः
समृद्धोपि' इति मनुना आढ्यविषयेऽष्यल्पसंख्याऽभिधानात् ।
यतु शह्वेनोक्तं—

भोजयेदथवाऽष्येकं ब्राह्मणं पङ्किपावनम् । इति, तदेतदेनेकब्राह्मणाद्यस्राभविषयम् । एवं निरूपितसङ्ख्याः न्वितान् विशान् स्वगृह एव स्थितान् उपगम्य निवेदयेत्। तथाचोक्तमत्रिणा—

प्रथमेऽहि निवासस्थान् श्रोत्रियादीत्तिमन्त्रयेत् ।

कथयेतु तदैवेपां नियोगं पितृदैविकम् ॥

सर्वायासविनिर्मुक्तैः कामक्रोधिवविजतैः ।

भवितव्यं भविद्गिः श्वो भूते श्राद्धकर्माणि ॥

इति । प्रथमेऽहि पूर्वेद्युरित्यर्थः । निवासस्थान् स्वकीयनिवास्थान् । मात्स्थेऽपि—

एतान्निमन्त्र्यनियमान् श्रावयेत्पैतृकान् वुधः । अकोधनैदशौचपरैः सततं ब्रह्मचारिभिः ॥ भवितव्यं भवद्भिश्र मयाऽपि श्राद्धकारिणा ।

अक्रोधनैरित्यादिवचनं पठन् पैतृकान् पितृकर्माङ्गभूतान् नि मन्त्रितविप्रान् श्रावयेदित्यर्थः । अक्रोधादिनियमः श्राद्धकर्तु यथा ममावश्यकस्तथा भवतामपीति वक्तुं मयाऽपि श्राद्ध-कारिणेसंशस्त्रापि पाठः । निमन्त्रितविप्राणां कर्तव्यमाहात्रिः—

ते तं तथेत्यविद्येन गतेयं रजनी यदि ।

यथा श्रुतं प्रतीक्षेरन् श्राद्धकालमतान्द्रिताः ॥

निमन्त्रिता विप्रास्तं निमन्त्रणकर्तारं 'तथाऽस्तु यद्यविद्येनेयं
रजनी गता' इत्युक्ता धर्मशास्त्रादौ यथा नियमजातं श्रुतं
तथैव तन्नियमजातं प्रतीक्षेरन् प्रतिपालयेयुः । श्राद्धकालं
श्वोप्यन्नपरिणामपर्यन्तामित्यर्थः । तथाच प्रचेताः—

स्यादत्रपरिणामातु ब्रह्मचर्य द्वयोस्ततः ।

इति । ब्रह्मचर्यग्रहणं द्वयोर्निमन्त्रितानिमन्त्रकयोर्विहितनियमो

पल्ठक्षणार्थम् । निराहारानियमस्तु निमन्त्रणप्रभृति श्राद्धकर्म
परिसमाप्तिपर्यन्तमेवेत्याह अपस्तम्वः—' आरब्धे चाभोजनमा

समापनात्' इति । यतु वृद्धमनुनोक्तं—

निमन्त्र्य विप्रान् तदहो वर्जयेन्मैथुनं क्षुरम् । प्रमततां च स्वाध्यायं क्रोधाशौचं तथाऽनृतम् ॥ इति, तत् सद्यस्कालश्राद्धविषयम् । निमन्त्रयीत पूर्वेद्युः तदहर्वा द्विजोत्तमान् । इति पुराणे सद्यस्कालपक्षस्याप्युक्तत्वात् । अयं च सद्यस्काल-पक्षः पूर्वेद्युः कथेचिन्निमन्त्रणासम्भवे भवति, असम्भवे परेद्युर्वा बाह्मणांस्तान्निमन्त्रयेत् ।

इति देवलस्मरणात्।

तस्मातु त्रथमं कार्य पाज्ञेनोपनिमन्त्रणम् । अत्राप्तौ तद्दिने वार्शप वर्ज्या योपित्प्रसङ्गिनः ॥

इति मदालसावाक्येऽप्युक्तत्वाच । उपनिमन्त्रणं सित सम्भवे पूर्वेद्युः कार्यम् । तत्र कथि चिद्विपनिमन्त्रणापाप्तौ श्राद्धिदने वा कार्यमिसर्थः । यदा तु तिहने निमन्त्रणं क्रियते तदा तिहन एव निमन्त्रितत्विनवन्धनत्वान्त्रियमानुष्ठानं स्यात् । निमन्त्रणं कदाचिदन्येनापि कार्यदित्याह यमः—

निमन्त्रयीत सन्येन देवतार्थं द्विजोत्तमान । अपसन्येन पित्र्ये तु स्वयं शिष्योऽथवा स्नतः ॥

इति । प्रचेता अपि--

सवर्ण त्रेपयेदाप्तं द्विजानामुपमन्त्रणे ॥ इति । एतेषु पक्षेषु पूर्वन्यायः श्रेयान्, सर्वाभावे त्वसवर्णमिष श्रुद्रव्यतिरिक्तं प्रेषयेत् ।

अभोज्यं ब्राह्मणस्यात्रं दृष्ठेन निमन्त्रितम् । इति यमेन शूद्रनिमन्त्रितस्यैव निषेधस्मरणात् । विशेषप्रति पेधस्य सामान्याभ्यनुज्ञानार्थता प्रसिद्धेव । एवश्च भोज्यान्नेन स्वयं कृतं शिष्यकृतं श्रूद्रव्यतिरिक्तासवर्णकृतं च निमन्त्रण-मनिन्द्यं, तच भोक्तुं समर्थानां ब्राह्मणानामप्रत्याख्येयम्।

कामं प्रतिश्रवस्तेपामिनन्द्यामन्त्रणे कृते ।

इति देवलस्मरणात् । अनिन्द्यामन्त्रणे कृते तेषां निमन्त्रिः
तानां काममिस्त्वित प्रतिश्रवः प्रतिवचनं कर्तव्यमित्यर्थः । का
त्यायनेनाप्युक्तं—'अनिन्द्येनामन्त्रिते नापक्रमेत् शक्तेन न
प्रत्याख्यानं कर्तव्यम्' इति । अनेनार्थान्त्रिन्द्यामन्त्रणे भोकुमसामध्ये च प्रसाख्यानं कर्तव्यमेवेति गम्यते । अङ्गीकृतनिमन्त्रणस्याङ्गीकारात्पश्चादिप भोक्तुमसामध्ये सत्यातिक्रमो
युक्त इत्यर्थात् ज्ञापीयतुमाह स एव—'विधिवत्केतनं परिगृह्य
शक्तस्सन्नापक्रमेत्' इति । केतनं परिगृह्य आमन्त्रणमङ्गीकृः
सेसर्थः । यतु यमेनोक्तं—

त्राह्मणं तु मुखं कृत्वा देवताः पितृभिस्मह ।
तदः समुपाश्चान्ति तस्मात्तन्न व्यतिक्रमेत् ॥
इति, तत् अनिन्द्यामन्त्रितशक्तविषयमिति पूर्वोक्तेन न विरोधः।
यस्तु निमन्त्रितं त्राह्मणं त्यजाति तं प्रत्याह नारायणः—
केतनं कारियत्वा तु निवारयाति दुर्मितः ।
बह्महत्यामवामोति शूद्रयोनौ च जायते ॥
एतिसमन्नेनिस प्राप्ते बाह्मणो नियतदशुचिः ।
यतिचान्द्रायणं कृत्वा तस्मात् पापात्प्रमुच्यते ॥
एनः पापम् । यतिचान्द्रायणं नाम चान्द्रायणिवशेषः । तदे-

तदङ्गीकृतकेतनस्य भोजनसमर्थस्य निवारणे सित द्रष्टव्यम् । यस्तु निमन्त्रणमङ्गीकृत्य भोजने समर्थोपि भोजयितारं त्य जाति तं प्रत्याह मनुः—

केतितस्तु यथान्यायं हव्यकव्ये द्विजोत्तमः ।
कथिश्चद्य्यतिकामन् पापस्स्रकरतां व्रजेत् ॥
कथंचित् ष्रष्टान्नवहुदक्षिणालोभादिना, न पुनः भोजनासामध्येनेअर्थः । तदेतत् आढ्यविप्रविषयम्।
विद्यमान्यनो यस्तु भोज्यान्नेन निमन्त्रितः ।
कथंचिद्यातिक्रामन् पापस्स्रकरतां व्रजेत् ॥

इति समृत्यन्तरे विद्यमानधनस्य दोपस्मरणात् । एवञ्च यदु-च्यते यमेन-

> आमन्त्रितस्तु यो वित्रो भोक्तुमन्यत्र गच्छति । नरकाणां शतं गत्वा चण्डाळेष्वभिजायते ॥

इति, यदपि नारायणेन—
आमन्त्रितस्तु यद्ग्णाद्धे कुर्वीतान्यस्य तु क्षणम् ।
संवत्सरकृतं पुण्यं तस्य नदयित दुर्मतेः ॥

इति, यदापि मत्स्येन-

निमन्त्रितास्तु गुणिना निर्धनेनापि साङ्किजाः । नान्यसृष्टान्नलोभेन तमितक्रम्य यान्ति हि ॥ निमन्त्रितास्तु येनादौ तस्माद्गृह्णन्ति नान्यतः ।

इति, अतोऽन्यैरपि प्रथमनिमन्त्रयितारमनतिक्रम्य तत एव

ग्रहीतच्यिमत्यभिषायः । तदेतत्सर्वमाढ्यविषयमिति मन्तच्यम् । यस्तु तस्मादृह्णन् अन्यस्मादिष ग्रहीतुमिच्छिति तं प्रतिषेद्धमाह कात्यायनः— 'आमन्त्रितोऽन्यदन्नं न प्रतिगृह्णीयात्' इति । आमन्त्रितः पूर्वमन्येन निमन्त्रितस्तदीयादन्नादन्यदन्नं पश्चा-न्निमन्त्रकस्यानं तण्डुलादिरूपकमिष न प्रतिगृह्णीयादिसर्थः । यः पुनः प्रतिगृह्णाति तस्य दोषमाह देवलः—

पूर्व निमन्त्रितोऽन्येन कुर्यादन्यप्रतिग्रहम् । भुक्ताहारोऽथवा भुक्के सुकृतं तस्य नक्ष्यति ॥ यस्त्वामन्त्रित आहूतोप्यनागमनेन कुतपादिश्राद्धकालातिपर्ति करोति, तस्य दोप आदिपुराणे दार्शतः—

> आमिन्त्रतिश्वरं नैव कुर्याद्विमः कदाचन । देवतानां पितॄणां च दातुरत्रस्य चैव हि॥ चिरकाली भवेद्रोही पच्यते नरकाग्निना ॥

इति । यस्तु निमन्त्रितो वा श्राद्धकर्ता वा ब्रह्मचर्यं न करोति, तस्य दोषमाह मनुः—

ऋतुकाले नियुक्तो वा नैव गच्छेत् स्त्रियं कचित्। ततो गच्छन्नवामोति हानिष्टं फलमेव तु॥ ऋतुकाल इति वदन् स्वभार्यागमनेऽपि दोप इस्राह। नियुक्त इति वदन् रागतः प्रदृत्तिभावेऽपि दोप इत्याह। गौतमस्तु श्राद्धकर्तुर्दृपलीगमने दोपाधिक्यमाह—'सद्यक्क्षाद्धी शुद्रातलपग-स्तत्पुरीपे मासं नयते पितृन्' इति। श्राद्धं करिष्यमाणं कृतं च विद्यते यस्येति श्राद्धी दाता । सद्यः तत्क्षणमारभ्य मासं नयतीसर्थः । मनुस्त्वामन्त्रितस्य शूद्रातरूपगमने दोषमाह— आमन्त्रितस्तु यक्क्षाद्धे वृपल्या सह मोदते । दातुर्यहुष्कृतं किञ्चित्तत्सर्वमितपद्यते ॥

यमस्त्वत्र दोषान्तरमाह—

आमन्त्रितस्तु यदश्राद्धे वृपल्या सह मोदते । भ्रमन्ति पितरस्तस्य तन्मासं शुक्लभोजनाः ॥

नियमान्तराणामतिक्रमेऽपि स एव दोपमाह—
आमन्त्रितस्तु यद्दशाद्धे अध्वानं प्रतिपद्यते ।
भवन्ति पितरस्तस्य तन्मासं पांसुभोजनाः ॥
आमन्त्रितस्तु यद्दशाद्धे कल्ठहं कुरुते नरः ।
भवन्ति पितरस्तस्य तन्मासं त्वश्रुभोजनाः ॥
आमन्त्रितस्तु यद्दशाद्धे भारमुद्दहते द्विजः ।
भवन्ति पितरस्तस्य तन्मासं स्वेद्भोजनाः ॥
आमन्त्रितस्तु यद्दशाद्धे हिंसां वा कुरुते द्विजः ।
तन्मासं पितरस्तस्य भवेयू रक्तभोजनाः ॥
आमन्त्रितस्तु यद्दशाद्धे आयासं कुरुते द्विजः ।
भवन्ति पितरस्तस्य तन्मासं पित्तभोजनाः ॥

इति । उशना आपि--

आमन्त्रितस्तु यश्श्राद्धे द्यूतं संसेवते द्विजः। भवन्ति पितरस्तस्य तन्भासं मलभोजनाः॥ इति । एवमुक्तदोपपरिहाराय ब्रह्मचर्यादिनियमेष्ववहितास्तिष्ठेयु रित्याह यमः—-

> आमन्त्रितास्तु ये विष्ठाः श्राद्धकाल उपस्थिते । वसेयुर्नियताहारा ब्रह्मचर्यपरायणाः ॥ अहिंसा सत्यमकोधोऽदूरादागमनिकया । अभारोद्वहनं क्षान्तिः श्राद्धस्यौपश्चमो विष्ठिः ॥ इति ॥ इति स्मृतिचन्द्रिकायां श्राद्धदिनात् प्राग्दिनकृत्यम्

अथ श्राद्धदिनपूर्वाह्मकृत्यम्.

तत्र प्रचेताः---

श्राद्धभुक् प्रातरुत्थाय प्रकुर्याद्दन्तधावनम् ।
श्राद्धकर्ता न कुर्वात दन्तानां धावनं बुधः ॥
किं तर्हि श्राद्धकर्ता कुर्यादिसपेक्षिते देवलः—
तथैव यन्त्रितो दाता प्रातः स्नात्वा सहाम्वरः ।
आरभेत नवैः पात्रेरत्नारम्भं च वान्धवैः ॥
तथैव श्राद्धकर्तुः उक्तानयमानतिक्रमणेव यन्त्रितो नियतः
अन्नारम्भं श्राद्धार्थान्नपाकारम्भं आरभेत कुर्यादित्यर्थः ।
नवैः पात्रैः अनुपहतैः पाकोपयोगिभिभण्डैः वान्धवैः पाकोपयोगिभिरुपेतः दाता श्राद्धाधिकारी। पाके श्राद्धाधिकारिणा
यत्प्रथमं कर्तव्यं तदाहोशना— 'गोमयोदकैर्भूमिभाजनभाण्ड

SMRITI CHA.—Vol. V.

शौचं कुर्यात् ' इति । गोमयानुलेपनेन महानसभूमिशुर्द्धिं कुर्यात् । उदकैरभ्युक्षणाहरणमकरणोक्तप्रकारेणाहृतैः भाजनानां गोधूमिपष्टादिप्रक्षेपणार्थानां शुद्धिं कुर्यादित्यर्थः । महानसभूिष्रसंस्कारानन्तरमाह देवलः—

तिस्ठानविकरेत्तत्र सर्वतो वन्धयेदजम् । असुरोपहतं सर्वे तिस्ठैक्शुद्धचसजेन च ॥ पाकस्थानभाजनभाण्डशुद्धचनन्तरं पाकादिनाऽत्रादिकं निष्पा-दयेत् । तथाच स एव—

> ततोऽत्तं वहुसंस्कारैः नैकव्यञ्जनभक्ष्यवत् । चोष्यपेयसमृद्धं च यथाशक्तचुपकल्पयेत्॥

वहुसंस्कारो राजभोज्याने योयः संस्कारः तेनतेनान्वितम्। नैकव्यञ्जनभक्ष्यवत् अनेकव्यञ्जनभक्ष्योपेतम् । व्यज्यतेऽनेनान्त्रस्य रस इति व्यञ्जनमत्र सूपशाकादिकम् । यस्य रसांश एव सेव्यो न द्रव्यांशः इक्षुखण्डादि तच्चोष्यम् । पानार्थं चापकफल्लरसादौ गुडादिपिष्टं संस्रज्य यत्क्रियते तत्पेयम् । चोष्यपेययोरनेकविधयोरनिधिद्धयोः सम्भवाचोष्यपेयसमृद्धमिन्युक्तम् । चशब्दाल्लेश्वसमृद्धं चेत्यवगन्तव्यम् । अन्नादिकं विहितन्नीह्यादिपकृति । कानि द्रव्याणि विहितानीत्यपेक्षिते प्रचेताः—

कृष्णमापास्तिलाश्चेव श्रेष्ठास्स्युर्यवशालयः। महायवा त्रीहियवास्त्रथेव च मधूलिकाः॥ कृष्णाः श्वेताश्च लोहाश्च ग्राह्मास्युः श्राद्धकर्माण ।
यवाः स्फीतश्काः । शालयः कल्याः । राजशालिमहाशालिसुगन्धिकादयो जलजाः । महायवा त्रीहियवाश्च यवाविशेषाः।
मधूलिकाख्यं धान्यान्तरम् । कृष्णाः स्थलजाः कृष्णवर्णाः
त्रीहयः । श्वेताः स्थलजा महात्रीहयः । लोहाः जलजा रक्तशालयः, स्थलजाः षाष्टिकाश्च । अत्रिरपि—

अगोधूमं च यच्छाद्धं कृतमप्यकृतं भवेत् ॥

विना मांसेन यच्छाद्धं कृतमप्यकृतं भवेत् ॥

क्रव्यादाः पितरो यस्मादभावे पायसादिनः ।

इति । अनेन गोधूमपकृतिद्रव्यमपूर्वादि भक्ष्यं मांसमयं च भक्ष्यमवश्यमुपकल्पनीयमिति वचीभङ्गचा दर्शितम् । तत्र मांसभक्ष्योपकल्पनप्रकारमाह कास्यायनः—'छागोस्रमेषानालभ्य शेषान् क्रीत्वा लब्ध्वा वा स्वयंगृतानां वाऽऽहृस पचेत्' इति । उस्रा गौः । आलभ्य संज्ञपनं कृत्वेत्यर्थः । एतच्च कालि युगव्यतिरिक्तद्वापरादियुगविषयम् । तथाच कलियुगधर्मप्रकरणे—

वरातिथिपितृभ्यश्च पश्चपकरणिकया ।
इत्यादिवचने श्राद्धाद्यर्थं गवादिपश्वालभ्भनिवेधोऽस्माभिः
प्रदार्श्वतः । कालियुगे कयादिनाऽप्यासाद्य गोमांसं न पचेत्,
लोकविद्धिष्टत्वात् । अन्यान्यपि कीत्वा यथाकथि श्रिल्डं वा
उपकरुप्यानि वायुपुराणे द्शितानि—

विल्वामलकमृद्रीकाः पनसाम्रातदाडिमम् ।
चव्यपालेयकाक्षोटखर्जूराणां फलानि च ॥
करोरुः कोविदारश्च तालकन्दस्तथा विश्रम् ।
कालेयं कालशाकं च सुनिपण्णं सुवर्चला ॥
कर्दुरः कोङ्कणी द्राक्षा लिकुचं मोचमेव च ।
कर्कन्धः ग्रावकं चारु तिन्दुकं मधुसाह्यम् ॥
वैकङ्कतं नाळिकेरं शृङ्गाटकवरूषकम् ।
पिप्पलं मरिचं चैव पटोलं वृहतीफलम् ॥
सुगन्धि मत्स्यमांसं च प्रकल्प्यास्सर्व एव च ।
एवमादीनि चान्यानि स्वाद्नि मधुराणिच ॥
नागरं चात्र वै देयं दीर्घमूलकमेवच ।

इति । मृद्दीका द्राक्षा, 'मृद्दीका गोस्तनी द्राक्षा' इत्यमर-सिंहेनाभिधानात् । आम्रातकं चूतवृक्षसदृशकपीतनदृक्षः—'द्रौ पीतनकपीतनौ । आम्रातकः' इति तेनैवाभिधानात् । अक्षोटः गिरिसम्भवस्तरुः । कशेरुः जलकन्द्विशेषः भद्रमुस्ताख्यः । काल्लेयं दारुहरिद्रा । सुनिपण्णं वितुन्नकाख्यं पत्रशाकं 'वि-तुन्नं सुनिषण्णकम्' इति शाकप्रकरणे अमरसिंहेनाभिधा-नात् । कर्दुरः श्रीपार्णकाख्यो वृक्षाविशेषः । 'श्रीपाणका कुमु-दिका कुम्भीकैटर्यकट्फलो ' इति तेनैवाभिधानात् । कोङ्कणी कोङ्कणदेशमभवा द्राक्षा । लिकुचं जम्बीरफलतुल्यखर्वफलवान गुल्मिविशेषः । मोचं कदळीफलम् । कर्कन्धः वदरी । तिन्दुकः स्मितसारकाख्यवृक्षः । 'तिन्दुकः स्मूर्जिकः कालस्कन्धश्र सितसान्तकः' इत्यमरः। गृङ्गाटकं जलजिकाण्डकम् । वृहती कण्टकादिका, 'निदिग्धका स्पृशी व्याघ्री वृहती कण्टकारिका ' इत्यमरः। तस्याः फलं वृहतीफलम् । शेषाणि विल्वामलकपनसदाडिमचव्यख जूरतालकन्दिवश्वेकङ्कतनालिकेरिपेष्पलिमरिचपटोलानि प्रसि द्धानि । इतराण्यप्रसिद्धानि । एवमादीनि एवंप्रकाराणि । नागरं शुण्टी । दीर्घमूला तुण्डिकेरी तस्याः फलं दीर्घमूलकम् । एतचाम्रातकादिकं विहितसंस्कारद्रव्यैरेव संस्कार्यम् । तानि चादित्यपुराणे दिश्वतानि—

मधूकं रामठं चैव कर्पूरं मरिचं गुडम् । श्राद्धकर्मीण शस्तानि सैन्धवं मानसं तथा ।ः ब्रह्माण्डपुराणेऽपि—

सैन्धवं छवणं चैव तथा मानससम्भवम् ।
पिवत्रे परमे होते त्रत्यक्षमिप नित्यशः ॥
एवं मृष्टान्नोपकल्पनं न श्राद्धमात्रविषयमिस्राह देवछः—
इष्टापूर्तमृताहेषु दर्शश्राद्धाष्टकासु च ।
पात्रेम्यस्तेषु काछेषु देयं नैव कुभोजनम् ॥
चशब्दान्महालयादिविशिष्टकालेष्विप कुभोजनं न देयमिति

चशब्दान्महालयादिविशिष्टकालेष्विपि कुभोजन न देयामिति समुचिनोति । एवंच निसश्राद्धादो दरिद्रकर्तृके कुभोजना धनुज्ञा गम्यते । अत्र यमः— भक्ष्यं भोज्यं तथा पेयं यत्किञ्चित्पच्यते गृहे ।
न भोक्तव्यं पितॄणां नदिनवेद्य कथञ्चन ॥
पितॄणामिनवेद्य तस्मादनाद्वैश्वदेवादिकमिप न कार्यम् । तथाच
पैठीनसिः—

पितृपाकं समुद्घृत्य वैश्वदेवं करोति यः।
आसुरं तद्भवेच्छ्राद्धं पितॄणां नोपितष्ठिति ।।
इति । यमस्तु पकान्नोपहतिपरिहाराय पाकस्थानादितो वहिकार्यानाह—

मद्यपः स्वैरिणी या च परपूर्वापतिस्तथा।
नेव श्राढेऽभिवीक्षेरत्रावापात्प्रभृति कचित्॥
आवापः पाकं कर्तुं तण्डुलादीनां पिठरादौ प्रक्षेपः, तत्प्रभृति भोजनिष्पित्तपर्यन्तं कचित्पाकस्थाने भोजनस्थानेऽ
न्यत्र वा स्थितान् भोज्यपदार्थान् भुञ्जानांश्च विष्ठान् श्राद्धकर्माणे यथा मद्यपादयो नाभित्रीक्षेरन् तथा ते दूरत एवापाकरणीया इत्यर्थः। मद्यपादिग्रहणं अप्रशस्तप्राणिनामुपलक्षणार्थम्। अत एव मनुः—

चण्डालश्च वराहश्च कुक्रुटश्च तथैव च ।
रजस्वला च खक्जश्च नेश्चरन्नश्चतो हिजान् ॥
होमे प्रदाने भोज्ये च यदेभिरभिवीक्षितम् ।
दैवे कर्मणि पित्र्ये वा तद्गच्छित यथातथम् ॥
इति ! होमे अग्नोकरणदेशे । प्रदाने अन्नसागदेशे । भोज्ये

भोज्योपकल्पनदेशे महानसादौ । चशब्दादन्यस्मिन्निप स्थाने यदन्नादिकं चण्डालादिभिरभिनीक्षितं तद्यथातथं गच्छिति असम्यग्भवतीत्यर्थः । तस्माच्छाद्धदेशादितदूरतोपनेतव्या इत्यभिन्नायः । वराहो विद्वराहः, तस्यैवामशस्तत्वात् । अत एवोश्यनसा विशेषितः— 'विद्वराहकमार्जारकुक्कुटनकुलश्द्वरजस्वला-श्रुद्दीभर्तारश्च दूरतोपनेतव्याः ' इति । श्राद्धकाल इति शेषः । तथाच यमः—

कुकुटो विद्वराहश्च काकश्याध्य विडालकः।

वृपलीपितश्च वृषलः पण्डो नारी रजस्वला॥

एते तु श्राद्धकाले वै वर्जनीयाः प्रयत्नतः।

श्राद्धकाले पाकोपमक्रमप्रभृतीत्यर्थ। तथाच व्यासः—

कापायवासाः कुष्टी वा पतितो श्रूणहाऽपि वा।

सङ्कीर्णयोनिविष्रस्य सम्बन्धी पतितस्य यः॥

वर्जनीया वृधैरेते निवापे समुपास्थिते।

निवापः पितृभ्यो दानं, 'पितृदानं निवापस्चात्' इत्यमरिसंहे नाभिधानात् । समुपस्थितशब्दात्पाकोपक्रमप्रभृति वर्जनीयाः न तु पितृभ्यो दानसमय एवेति गम्यते । यमोपि पुरुपेष्व-पनेयानाह—

खक्षः काणः कुणिः श्वित्री दातुः प्रेष्यकरो भवेत् । न्यूनाङ्गो वाऽतिरिक्ताङ्गस्तमप्यपनयेत्ततः । खक्षः पादविकछः । काण एकाक्षः । कुणिः एककरः । श्वित्री कुष्ठी। देवलोपि---

वीभत्समशुचिं नग्नं मत्तं धूर्ते रजह लाम्। नीलकाषायवसनं छिन्नकर्णं च वर्जयेत्॥

वीभत्सो जुगुप्सितः। ब्रह्माण्डपुराणेऽपि-

नम्रादयो न पश्येयुः श्राद्धमेतत्कदाचन । गच्छन्त्येतैस्तु दृष्टेन पितरोऽधः पितामहाः ॥

श्रादं श्राद्धार्थमन्नादिकम्। नम्नो वेदपिरत्यागी। आदिशब्देन तत्प्रकारवैदिककर्मानुष्ठानपिरत्यागिनो गृह्यन्ते। तथाचात्रैवोक्तं-

सर्वेषामेव भूतानां त्रयी संवरणं यतः।

ये वै त्यजन्ति तां मोहात्ते वै नवादयस्स्मृताः ॥ त्रयी वेदः, तां ये त्यजन्ति ते नवास्स्मृताः । ये तु तदर्थानुष्ठा-नत्यागिनः ते न बादयस्स्मृता इत्यर्थः । वायुपुराणेऽपि—

हथाजटी वृथामुण्डी वृथानग्रश्च यो नरः।

महापातिकनो ये च ते वै नग्नादयो नराः॥

हथा वैदिकविधिमन्तरेणेत्यर्थः। यदि तु नग्नादयः श्राद्धार्थं
अन्नादिकं पश्येयुस्तदा किं कार्यभित्यपेक्षिते तत्रैवोक्तं—

अन्नं पद्येयुरेते तु यदि वा हव्यकव्ययोः । उत्सृष्टव्यं प्रदानार्थं संस्कारस्त्वापदि स्मृतः ॥

नग्नादिभिः दृष्टमत्रं उत्स्रष्ट्व्यम् । आपिद तु तस्यैव नग्नादिद-र्श्चनजनितदोपापाकरणार्थे स्मृतः संस्कारः । कः पुनः संस्कार इस्रोपक्षिते ब्रह्मपुराणं— हाविषां संस्कतानां तु पूर्वमेवापवर्जनम् । मृत्संपृक्ताभिरद्भिश्च प्रोक्षणं तु विधीयते ॥ सिद्धार्थकैः कृष्णतिलैः कार्य चाप्यवकीरणम् । गुरुसूर्याग्निवस्तानां दर्शनं तु प्रयवतः ॥

अस्यार्थः—हिवपां हव्यकव्यानां नग्नादिद्शेने सत्यपर्वजनमव पूर्व परित्याग एव मुख्यः कल्पः। आपदि तु दोपापगम-हेतुभूतसंस्कारसिद्धये प्रशस्तमृत्तिकासंस्पृष्टाभिरिद्धः प्रोक्षणं, तथा गौरसर्षपैः कृष्णितिलैश्च अवकीरणं दृष्टहव्यकव्ययोहपरि क्षेपणं कार्यम्। तथा गुरुसूर्याग्निच्छागानां दर्शनं यथाऽ न्नस्य सिद्ध्यति तथा प्रयन्नतो व्यवधायकपरिश्रयणापनो-दनद्वारा कार्यमिति । अथवा जमद्गिनोक्तामनशुद्धं कुर्योत्—

> शुद्धवत्योऽथ कूश्माण्ड्यः पावमान्यस्तरत्समाः । पूर्तेन वारिणा दर्भैरस्नदोषानपानुदेत्॥

शुद्धवत्यादिमन्त्रैरिममिन्त्रितमुद्कं दभैरादाय मद्यपस्थैरिण्या-द्यभिवीक्षणप्रभवात्रदेषापनोदार्थमवोक्षणं कुर्यादित्यर्थः। 'एतो-निवन्द्रं स्तवाम' इस्राद्या ऋचः शुद्धवत्यः। 'यदेवा देवहेळ नम्' इस्राद्याः कूश्माण्ड्यः। 'पवमानस्सुवर्जनः' इत्याद्याः पावमान्यः। 'तरत्समन्दी धावति' इत्याद्याः तरत्समाः। यदि तु मद्यपादिद्शनप्रभवमत्रदोषं तद्यनोदकेन संस्कारेण पूर्वो क्तेन वक्ष्यमाणेन वा स्द्धस्मोदकहिरण्यस्पर्शनेन वाऽपनुदेत् तदा श्राद्धे तदन्नं भोज्यमित्याह सुमन्तः—'चण्डालाद्यवे- क्षितमन्नमभोज्यमन्यत्र सद्भस्माहिरण्योदकस्पर्शनात् इति । मृ-द्भस्माहिरण्योदकस्पर्शनरूपसंस्कारनिर्देशः पूर्वोक्तद्विमाकारसं-स्कारयोरपि पदर्शनार्थः ॥

इति स्मृतिचान्द्रिकायां श्राद्धादिनपूर्वीह्नकृत्यम्

अथं श्राद्धकमीण वर्ज्यद्रव्याणि.

तत्र मदालसावाक्यं-

यचोत्की चादिना माप्तं प्रतिता च दुपार्जितम् । अन्यायकन्या शुल्कोत्थं द्रव्यं चात्र विगर्हितम् ॥ पित्रर्थमेव मे यच्छेत्युक्ता यचाप्युपार्जितम् । तद्रर्जनीयं विद्वद्भिः तत्तद्भे श्राद्धकमिण ॥

उत्कोचादिना स्पृहाहेतुना स्तेयादिना । अन्यायकन्याश्चरकं गोमिथुनादधिककन्याश्चरकं, तेन प्राप्तं अन्यायकन्याश्चरकोत्थंम् । अत्र श्राद्धकर्मणि विगाहितं वर्ज्यमित्यर्थः । व्यासोपि वर्ज्यमाह—

वेदिविकयं नेष्टं स्त्रिया यचार्जितं धनम् । न देयं पितृदेवेभ्यो यच क्रीवादुपार्जितम् ॥ धान्यादिष्विप वर्ज्यानाह स एव— अश्राद्धेयानि धान्यानि कोद्रवाः पुलकास्तथा । हिङ्गु दृष्येषु शाकेषु कालानलशुभास्तथा ॥ कोद्रवाः कोरदृषकाः 'कोरदृषस्तु कोद्रवः' इत्यमरसिंहेनाभिधानात्। पुलकाः पुलाकाः कोद्रवापेक्षया स्वरूपधान्यानि 'स्थात्पुलाकस्तुच्छधान्ये ' इति तेनैवाभिधानात्। एवञ्च पुलकास्तथेति व्यासवचने पुलकशब्दमध्याक्षरे दिधीभाव आपित्वान्न
दोष इति मन्तव्यम्। द्रव्येषुं शाकादिसंस्काराधिद्रव्येषु हिङ्गाख्यं
द्रव्यमश्राद्धेयम्। ननु हिङ्गप्रतिषेधो न युक्तः—

मधूकं रामठं चैव कर्पूरं मरिचं गुडम् । श्राद्धकर्मणि शस्तानि सैन्धवं मानसं तथा ॥

इयादित्यपुराणे तस्य ग्राह्यत्वेन स्मरणात् । सत्यं, विधिमतिपेथयोः द्रयोरिप दर्शनाद्धिङ्गविषये विकल्पो द्रष्टव्यः । एवमन्यत्रापि यत्र यत्र विधिमतिपेधावेकस्येव दृश्येते तत्र विकल्पो वेदितव्यः । शाकेषु शाकानां मध्ये कालानलश्चभाख्याः शाकविशेषाः अश्राद्धेयाः । तत्र कालाख्यः शाकविशेषः कुठेरकाकृतिरिति देवस्वामिना निरूपितः । कुठेरकोऽर्जकसदशः पर्णासः । 'अथ पर्णासे कठिअरकुठेरकौ ।
सितेऽर्जकोत्र' इत्यमरिसंहेनाभिधानात् । एवं च कृष्णार्जकः
कालशब्देनोक्त इति मन्तव्यम् । अनलः चित्रकः, 'चित्रको
विह्यसंद्रकः' इत्यमरः । यल्लोके शुभं शाकिमिति व्यपदिश्यते
तदेवात्र शुभशब्देनोक्तिमिति देवस्वामिनाऽभिहितम् । भरद्वाजोपि—'मुद्रादकीमाषवर्ज द्विद्यलानि द्यात्' इति । यानि
पाषाणयन्त्रभ्रमणेन द्विधा प्रायशो भिद्यन्ते तानि धान्यानि

हिदळानि । आढकी शिम्बीधान्यविशेषः तुवरीनाम्ना प्रसि दः । मुद्गमाषाविष शिम्बीधान्यविशेषौ मुद्गमाषनाम्नेव प्रसिद्धौ । मापशब्देनात्र राजमाषो गृह्यते । न पुनः कृष्णमाषः—

वर्षा मर्कटकाः श्राद्धे राजमापास्तथैत च।

इति स्मृत्यन्तरे विशेषितत्वात् । मर्कटकाः तृणधान्यविशेषाः ।
तथाच तृणधान्यप्रकरणे वैजयन्त्यामुक्तं—'अय वन्यो मर्कटकस्समौ' इति । राजमापाः प्रायेण प्रादेशमात्रशिम्बीयुक्ताः,
धुष्कदशाया पाटलवर्णा अलसान्द्रनाम्ना प्रासिद्धाः । अत
एव वैजयन्त्यां 'अलसान्द्रो गजमाषः' इत्युक्तम् । मुद्गशबदान्नात्र कृष्णेतरमुद्गो गृह्यते । न पुन कृष्णमुद्गोपि—

कृष्णधान्यानि सर्वाणि वर्जयेच्छ्राद्धकर्मणि । न वर्जयेत्तिल्लांश्रंव मुद्गान् माषांस्तथैव च ॥ इति समृत्यन्तरे कृष्णानां तिल्लमुद्गमाषाणां प्रतिप्रसवदर्शनात् । कृष्णधान्येषु कुळुत्थादयोषि वर्ज्याः—

> कोद्रवा राजमापाश्च कुळुत्था वरकास्तथा। निष्पावाश्च विशेषेण पञ्जैतांस्तु विवर्जयेत् ॥ यावनाळानपि तथा वर्जयन्ति विपश्चितः।

इति चतुर्विशतिमतेश्भिधानात् । कुळुत्था मुद्गवतसूपयूपाद्यने-कोपकारकतया प्रसिद्धाः । कृष्णा अकृष्णाश्चेति द्विविधा अपि वर्ज्याः, कृष्णमुद्गादिवत् प्रतिप्रसवाभावात् । वरका वनमुद्गाः— वनमुद्गे तु वरकनिगूढककुलीमकाः।

इति वैजयन्यामुक्तत्वात् । निष्पात्रा अपि कुळुत्थवत्स्प्पाद्य-नेकोपकारकतया श्वेतिशिम्बीधान्यतया च मसिद्धाः । अत एव वैजयन्त्यां 'निष्पावः श्वेतिशिम्बिका' इत्युक्तम् । अयं नि-ष्पावप्रतिपेधः कृष्णानिष्पावविषयः—

कृष्णधान्यानि सर्वाणि वर्जयेच्छ्राद्धकर्मणि । इति स्मरणःत् । एवश्च यदुक्तं मार्कण्डेयपुराणे — यवत्रीही सगोधूमौ तिल्रमुद्धास्ससर्पपाः । प्रियङ्गवः कोविदारा निष्पावाश्चात्र शोभनाः ॥

इति, तत् कृष्णेतरविषयमिति मन्तन्यम् । यावनाळा विन्ध्यदक्षिणतो महाराष्ट्रादिदेशे जोहळापरपर्यायप्रसिद्धाः ।
अत एव वैजयन्त्यां 'यावनाळास्तु जोहळाः ' इत्युक्तम् ।
मरीचिनाऽप्युक्तानि वर्ज्यानि—

कुळुत्थाश्रणकाक्श्राद्धे न देयाश्चैत्र कोद्रवाः । कटुकानि च सर्वाणि विरसानि तथैव च ॥ चणकाः अश्वानामत्यन्तप्रियाः प्रत्यन्तदेशव्यतिरिक्तदेशेषु सर्वित्र प्रसिद्धाः । विष्णुपुराणेऽपि—

श्राद्धे न देयाः पालङ्कचाः तथा निष्पावकोद्रवाः ।

मस्रक्षारवार्ताककुळुत्थाक्शणशिग्रवः ॥

पालङ्कचा मुकुन्दारूपं गन्धद्रव्यं, 'पालङ्कचा मुकुन्दः कुन्दकुन्द्रू ' इत्यमरसिंहेन गन्धद्रव्यनामानुशासनमकरणेऽभिधा-

नात् । मम्रोपि प्रसन्तदेशव्यतिरिक्तदेशेष्वतिपसिद्धो द्विद लिविशेषो मङ्गळ्यकापरपर्यायः । तथाऽमरसिंहः— 'मङ्गळ्यको मस्र ' इति । क्षारो यवक्षारादिः । वार्ताकं क्षुद्रवार्ताकसं ज्ञक्यृहतीफलं कण्टकारिकाख्यवृहतीफलात् किञ्चित् स्थूलम् । शणशब्दो धान्यिवशेषवचनः, 'शणः सप्तदळानि धान्यानि ' इति धान्यप्रभेदेष्वभिधानात् । अस्य च स्वयंजातस्य सर्वदा प्रतिषद्धत्वात् । अत्र प्राप्तचसम्भवेऽपि कृष्यादिजातस्य प्राप्तिसम्भवात् प्रातिषेधो नानर्थकः । शियुः द्विविधः श्वेतपुष्पो रक्तपुष्पश्च । तत्र रक्तपुष्पस्य सर्वनिषद्धत्वेन प्राप्तचभावेऽ-पि श्वेतपुष्पस्य पत्रशाकत्वेन प्राप्तिरस्तीति प्रतिपेधोऽर्थवान् । विष्णुरपि वज्यीनाह—'भूतृणशियुसप्पसुरसार्जककूष्माण्डाला वुकीवार्ताकपालङ्कचातण्डुलीयककुसुम्वमहिपीक्षीराणि वर्जयेत्' इति । भूतृणः—

छत्रातिच्छत्रपास्त्र्यां मास्रातृणकभूस्तृणां । इत्यमरः । विसर्गाभावश्छान्दसः । यस्य नाले ग्रन्थिस्थानेषु परिमण्डस्था अवष्टमभका भवन्ति स भूतृणाख्यः शाकविशेषः । सर्पपोत्र राजसपपो विवक्षितः, न तु सर्पपमात्रम् 'कुसुमभं राजसपपम्' इति स्मृयन्तरे विशेषप्रतिपेषात्, विशेषप्रतिपेधश्च शेषाभ्यनुज्ञानार्थः, ततश्च तद्विरोधाय तत्रैव सामान्यशब्दः पर्यवस्थात । राजसपपसुरसानिर्गण्डीस्रोध्वाप्तरसप्रवेशनान्यामौ प्रतिषिध्यते । अर्जकः श्वेतार्जकः । कृश्माण्डास्रावुकीशब्दौ प्रसिद्धौ । वार्ताकपालङ्कचाशब्दौ प्रागेव व्याख्यातौ । तण्डु लीयकः प्रसिद्धः । अत एवामरसिहेन 'तण्डुलीयोल्पमारिपः' इति तण्डुलीयकमुद्दिश्याल्पमारिपोऽनुशिष्टः । कुसुम्भशब्देनात्र कण्टकीवुसुम्भस्य प्रहणं, अकण्टकीकुसुम्भस्य सदाऽप्रतिपि-द्वत्वात् । द्विविधस्यापि कुसुम्भस्य नवपत्राणि शाकत्वेनोप-युज्यन्ते । तेन शाकत्वेन प्राप्तिसम्भवात्प्रतिपेधोऽर्थवान् । मत्स्योपि—

कुसुम्भं वीजपूरं च किपत्थं मधुकातसी ।
एतान्यपि न देयानि पितृभ्यः मीतिमिच्छता ॥
किपित्थस्य फलत्वेन प्राप्तिसम्भवात् प्रतिपेधः । मधुकं यष्टि
मधुकं अस्य गन्धद्रव्यतया प्राप्तिसम्भवात्प्रतिपेधः । अतसी
शाकत्वेन प्राप्तिष्ठेव । सुमन्तुरापि—'वीजपूरमापांश्च श्राद्धे न
दयात्' इति । वीजपूरको मातुलिङ्गकः-

फलपूरो वीजपुरो रुचको मातुलिङ्गकः।
इत्यमरः। मापाः कृष्णमाष्ट्यतिरिक्ताः। मार्कण्डेयोपिवर्ज्याश्चाभिषवा नित्यं शतपुष्पा गवेधुका।
जम्बीरजं फलं वर्ज्यं कोविदारस्तु निसशः॥

आभिपवाः क्षित्राः शुक्ता इति यावत् । शतपुष्पा शाकप्र-करणे अमरसिंहेनाभिहिता । गवेधुका शङ्काकारतृणधान्यसं-पादिका ओपिधः, तस्या अदनीयत्वायोगात्तद्धान्यं प्रति-पिध्यते । जम्बीरफलमाईकादिशाकसंस्कारकतया भक्ष्यतया च प्रतिषिध्यते । कोविदारो युगपत्रकन्नक्षविशेषः । तस्य पुष्पं फलं वा कोविदारम् , तत्कोपलावस्थं शाकत्वेन प्राप्तं प्र-तिषिध्यते । शाट्यायनोषि—

> मारिषं नाळिका चैव रक्ता या च कलम्वका। आसुरात्र मिदंसर्वं पितृणां नोपितष्ठते॥ मारिषो जीवशाकं 'मारिषो जीवशाकस्यात

इति । मारिपो जीवशाकं 'मारिपो जीवशाकस्यात्' इति
वैजयन्यां तच कुण्डलीयकसदृशं ततोपि स्थूलतरम् । अत एव
वैजयन्यां 'मारिषो जीवशाकस्त्यात्' इत्युक्तोक्तं 'अत्रार्ह्णे
कुण्डलीयकः' इति । नाळिका दीर्घनाळा शिरासि स्वरूपफलान्विता । तस्याः फलस्य नाळ्भागस्य च शाकत्वेन प्राप्ते
प्रतिपेधः । कळम्बका जलसम्भवा वेणुपत्राकृतिः पल्लवान्विन्
ता । द्विविधा खेता रक्ता च शाकत्वेन प्राप्ता रक्तेति विशेषणोपादानात्र खेतायाः प्रतिषेधः । स्मृतिरिपि—

गान्धारिकापटोलानि श्राद्धकर्मणि वर्जयेत्।
इति । गान्धारिका तण्डुलीयक इति देवस्वामिना व्याख्यातम्।
पटोलानि । न तु लता । लतायाः पुल्लिङ्गत्वस्यैव साधुत्वात्,
अत एवामरसिंहेन लतापर्यायेषु 'पटोल्लः तिक्तकः पटुः'
इति पुल्लिङ्गतया दर्शितः । हारीतोपि— 'पालङ्कचापोतिकानालिकाकुसुम्भसुरसानिष्पावचणकादि श्राद्धे न दद्यात्'
इति । पोतिका सुताह्वया । वैजयन्त्यां 'पोतिका तु सुताह्वया दत्यिभधानात्। यस्याः पत्रशाकसेवा निद्रातिशयकारिणी

सा पोतिका ज्ञेया । ज्ञेपाणि प्राग्वचारूयातानि । जङ्कोपि—
कृष्णजाजी विदश्चैव शितपाकी तथेव च ।
वर्जयेष्ठवणं सर्वे तथा जम्बूफलानि च ॥
अवश्वतादाभिहतं तथा श्राद्धेपु वर्जयेत् ।

कृष्णजाजी कृष्णजीरकम्। विदः विदाख्यं छवणम्। शित-पाकी तु कीदृशीति चिन्त्यम् । छवणं कृतछवणं 'कृतं च छवणं सर्वे वंशाग्रं च विवर्जयेत्' इति तेनैवाभिधा-नात्। उशनाऽपि—

> नाळिकाशणछत्राककुम्धम्मालावृविद्वरान् । कुभ्भीकञ्चकवृन्ताककोविदारांश्च वर्जयेत् ॥ वर्जयेदृक्षनं श्राद्धे काञ्चिकं पिण्डमूलकम् । करक्षं येऽपि चान्ये वै रसगन्धोत्कटास्तथा ॥

इति । छत्राकं शिलीन्ध्रं 'छत्राके तु शिलीन्ध्रस्थात्' इति वैजयन्त्याम् । अलावूफलस्य पत्रादेरपि शाकत्वेन प्राप्तत्वात्प्रतिपेधः।
कुम्भी श्रीपणिका, खर्वकाष्मियफलं, 'श्रीपणिका कुमुदिकाकुम्भी कैटर्यकद्फलो दिल्यम्रासिंहेनाभिधानात् । कञ्चकं दृत्ताकारमलावुफलं 'दृत्तकुम्भ्यां तु कञ्चका' इति वैजयन्यामुक्तत्वात् । दृन्ताकं वृहतीसदृशस्थूलोद्भिदः फलं दृन्तः
भागेन सह फलशाकत्वेन प्रसिद्धम् । काञ्चिकमारनालकं धान्याम्लामिति यावत् । पिण्डमूलकं चिन्सम्। करअं चिरि-

विस्वफर्छ 'चिरिविस्वो नक्तमालः कराजिश्वकरञ्जके' इत्यमरः। गृञ्जनं पलाण्डुविशेषः। एतच ल्रशुनादीनां दशीवधपलाण्डु-विशेषाणामापि प्रदशनार्थे, ते च विशेषाः —

> लशुनं दीर्घपत्रश्च पिच्छगन्धो महौपधम् । फरण्डश्च² पलाण्डुश्च लतार्कश्च परारिका ॥ गृञ्जनं यवनेष्टं च पलाण्डोर्दश जातयः ।

इति वदन् दशविधावान्तरजातिष्वापि पलाण्डुशब्दः सामान्येन वर्तत इति दर्शयति । अत एवामरसिंहेन 'पलाण्डुम्तु सुक-न्दकः' इति सामान्यनामतयोक्तम् । अवान्तरजातिविशेषेऽपि पलाण्डुशब्दो वर्तते 'फरण्डश्च पलाण्डुश्च' इति विशिष्या-त्रैव प्रयुक्तत्वात् । पुराणेऽपि दशविधानां प्रदर्शनार्थं केचन विशेषा निषिद्धाः—

लगुनं गृअनं चैव पलाण्डुः पिण्डमूलकम् ।
कलम्वी यानि चान्यानि हीनानि रसगन्धतः ॥
पिप्पलं मरिचं चैव पटोलं वृहतीफलम् ।
वांशं करीरं सुरससर्जकं भूस्तृणानि च ॥
अवेदोक्ताश्च निर्यासा लवणान्यौपराणि च ।
श्राद्धकर्मणि वर्ज्यानि याश्च नार्यो रजस्वलाः ॥

इति । हरिद्रक्तकन्दिविशेषो गृञ्जनः । 'हरिद्रक्ते तु गृञ्जनः' इति वैजयन्त्यामुक्तत्वात् । श्वेतकन्दिविशेषः पलाण्डुः, 'पलाण्डौ तु

¹ वैजयन्त्याम् .

^१ करण्यश्च (पाठः)

श्वेतकन्दो मुकुन्दकः' इति तत्रैवोक्तत्वात् । लगुनाख्यस्य विशेषस्य भेदकथमीं वैद्यकादौ द्रष्ट्व्यः । वांशं करीरं वंशाङ्करः । 'वंशाङ्करे करीरोऽस्त्री' इसमरः । सर्जकः पीतसाल्लकः । 'अथो पीतसालके । सर्जकासनवन्ध्कपुष्पित्रयक्ती वकाः' इत्यमरः । अवेदोक्तिनिर्यासाः वेदे प्राह्यत्वेनोक्तिनर्यास्यविरिक्तिनिर्यासाः लोहितनिर्यासाः त्रश्चनप्रभवाश्चेति यावत्। 'अथो खलु य एव लोहितो यो वाऽऽत्रश्चनान्निर्येपति तस्य नाश्यं काममन्यस्य' इति श्रुतिः । लवणान्यौषराणि ऊषरप्रभवाणि कृतलवणानीति यावत् । याश्च नार्यो रजस्वलाः । त्रिरात्राः दूर्ध्वमप्यिनवृत्तरजस्काः । ताश्च वज्यी इत्यर्थः । क्षीरविशेषा अपि वज्यीः पुराणे दर्शिताः—

आविकं मार्गमौष्ट्रं च सर्वमैकशफं च यत्।
माहिपं चामरं चैव पयो वर्ज्यानि जानता॥
आविकं अवीनां पयः। मार्ग मृगीणां पयः। औष्ट्रं उष्ट्रीणां
पयः। एकशफा वडवादयः तासां पयः ऐकशफम्। चामरं
चमरीपयः। भरद्वाजोपि—

नक्तोद्धृतं तु यत्तोयं पत्वलाम्बु तथैव च । स्वत्पाम्बु कूक्ष्माण्डफलं वज्जकन्दं च पिष्पली ॥ तण्डुलीयकशाकं च माहिषं च पयो दिध । शिम्बिकानि करीराणि कोविदारं गवेधुका ॥ कुळुत्थशणजम्बीरकरम्भानि तथैव च ।

¹ ते सं. २-५-१

नीरसान्यपि सर्वाणि भक्ष्यभोज्यानि कानिचित् ॥
एतानि नैव देयानि सर्वस्मिन् श्राद्धकर्मणि ।
वज्रकन्दं कीदृशमिति चिन्त्यम् । शिम्विकानि शिम्वीधान्यानि
चणकादीनि । करम्भः द्धिमिश्रास्सक्तवः । 'करम्भो द्धिसक्तवः' इत्यमरः । माहिषं तु घृतं देयं, पयो द्धीति विशेषितत्वात् । सर्वस्मिन् श्राद्धकर्मणीति वचनात् यद्यपि कूश्माण्डफलादीनि निसश्चाद्धेऽपि न देयानीति प्रतिभाति, तथाऽपि
प्रतिदिनं श्राद्धीयान्नसंपादनस्यातिदुष्करत्वान्निसश्चाद्धेतरसर्वश्राद्धकर्मणीति व्याख्ययम् । अत एव रामायणेऽभिहितम्—
दक्षत्वेदर्गविन्तेः साम्म्वर्णयते पितन ।

इङ्गुदैर्वदरैर्विल्वैः रामस्तर्पयते पितृन् । यदत्रं पुरुषो भुङ्के तदन्नास्तस्य देवताः ॥ इति ॥ चतुर्विशतिमतेऽपि—

> यावनाळानपि तथा वर्जयन्ति विपश्चितः। तैल्रमप्यापदि पाज्ञाः सम्प्रयच्छन्ति याज्ञिकाः॥ कन्दमूलफलालाभे एवमाहुर्मनीपिणः।

तैल्लिमित्यत्रापि वर्जयन्तीति संवध्यते । यावनाळतैलादिनिषि-द्धमपि अनिपिद्धकन्दमूलफलालाभे याज्ञिकाः प्रयच्छन्तीत्येवं मनीषिण अहुरित्यर्थः । कन्दमूलफललाभे तु यावनाळादिकं न देयमिति व्यतिरेकाद्गम्यते । मृष्टाञ्चलाभे तु सुतरां न देय-मिति दण्डापूपनयाद्गम्यते । स्मृत्यन्तरे तु वर्ज्यमुक्तम्—

अतिशुक्तोग्रलवणं विरसं भावदूषितम् ।

राजसं तामसं चैव इव्यक्तव्येषु वर्जयेत् ॥ अतिशुक्तं अत्यर्थे स्वाभाविकरसत्यागेन कालवशात्कुत्सित-रसान्तरापन्नम् । उग्रलवणं लवणाधिक्येनासह्यम् । पुराणेऽपि–

आसनारूढमन्नाद्यं पादोपहतमेव च ।
अमेध्यादागतैरस्पृष्टं शुक्तं पर्युपितं च यत् ॥
दिस्तिवन्नं परिदग्धं च तथैवाग्रावलेहितम् ।
शर्कराकीटपापाणैः केशैर्यचाप्युपद्रुतम् ॥
पिण्याकं मिथतं चैव तथाऽतिलवणं च यत् ।
सिद्धाः कृताश्च ये भक्ष्याः प्रत्यक्षलवणीकृताः ॥
वाग्मावदृष्टाश्च तथा दुष्टैश्चोपहतास्तथा ।
वाससा चावधूतानि वर्ज्यानि श्राद्धकर्मणि ॥

इति । यद्त्रमवश्रयणान्तया पिचिक्रियया सिद्धं सन्मार्दवार्थं पुनरुदकं निनीयावश्रयणान्तमेव पच्यते तत् द्विस्त्विन्नं, न तु यित्सिर्द्धमेव पुनरोष्ण्यनिर्वाहार्थमग्नाविधिश्रयते । 'अत्युष्णं सर्वमन्नं स्थात्' इति वचनादौष्ण्यार्थं पुनराधिश्रयणाभ्यनु- ज्ञानात् । यस्य तु प्रथमपाकेन भक्षणयोग्यतेव न भवति तत्र पूर्वपाकस्थानिष्ठतत्वात् पुनरुदकं निनीय पाकेऽपि श्राद्धे निस्य- मोजनादौ च नास्ति प्रतिपेधः। यत्र भक्ष्याविशेषसिद्धचर्थमुद- कादिना पूर्वं पक्ता तैलादिना पाकः क्रियते तत्रापि न द्विस्तिवन्नता, विशिष्टभक्ष्यसिद्धिपलक्षपाचिक्रियाया उदके तैले च क्रियाया एकत्वात् । परिदग्धमतिदग्धम् । अग्रावलेहितं

यदर्थमुत्पादितं तिन्नर्वृत्तेः पागन्येन स्वादितम् । शर्करास्स्रक्ष्म पापाणवत्कदिना मृद्धिशेषाः । कीटोत्र क्रिमिरमेध्यसेवी । पापाणाः सूक्ष्मतरसर्पपादिकल्पाः । पिण्याकस्तौल्रिकयन्त्रे घनीभूततिलचुर्ण, 'तिलकलके च पिण्याकः' इत्यमरसिंहे नाभिधानात्। माथितं जलिमश्रणेन विना विलोडितं द्धि। 'तऋं ह्यदिश्विन्मथितं पादाम्ब्वर्धाम्बु निर्जलम्' इति तेनै-वाभिधानात् । सिद्धा भक्ष्याः स्वत एव भक्ष्यतया सिद्धा आमलकादयः । कृता भक्ष्या मापपिष्टादिना कृतवटकादयः। प्रत्यक्षलवणीकृताः प्रत्यक्षेण लवणेन लवणीकृताः सिद्धभक्ष्या-णां कृतभक्षाणां च प्रत्यक्षलवणीकृता इत्येतदिशेषणम्। प्रत्यक्षग्रहणं दध्यादिना वस्त्वन्तरेण प्रच्छादितलवणेन लव णीकृता ग्राह्या इति गम्यते । यद्यपि नित्यभोजने पर्युपि-तस्य प्रतिपिद्धत्वादत्रापि तद्वर्जनं सिद्धं, तथाऽपि तत्राभ्यनु-ज्ञातस्य यवगोधूमादिपिष्टविकारस्यापि पर्युपितस्य श्राद्धे व र्जनीयत्वार्थे पर्युपितप्रतिपेध इति मन्तव्यम् । अअर्थप्रचुरद्र-व्येषु कूक्ष्माण्डादिषु दोषश्रवणाभावे निवृत्तिर्न भवतीति दीपोपि समृयन्तरे दार्शतः—

कूरमाण्डं माहिपं क्षीरमाहक्यो राजसपेपाः। चणका राजमापाश्र घ्रन्ति श्राद्धं न संशयः॥ पिण्डालूकं च तुण्डीरं करमर्दाश्र नालिकाम्। कूरमाण्डं वहुंबीजानि श्राद्धे दत्वा व्रजन्त्यधः॥ पिण्डालूकतुण्डीरे कीदृशे इति चिन्से । करमर्दः कृष्णपाकफलः । 'कृष्णपाकफलावियसुपेणाः करमर्दके' इत्यमरः । वहुवीजानि मातुलुङ्गादीनि । पुरुषार्थतया प्रतिपिद्धस्य सर्वस्य श्राद्धपरिषेधः न सिद्ध इति श्राद्धेऽपि प्रतिषेधार्थमुक्तं पट्त्रिंशन्मते—

क्षीरादि माहिपं वर्ज्यमभक्ष्यं यच कीर्तितम् । आदिग्रहणान्माहिपं दिध गृह्यते । 'माहिपं च पयो दिधि' इति भरद्वाजस्मरणात् । माहिपं च मांसं गृह्यते—

माहिषाणि च मांसानि तथा श्राद्धे विवर्जयेत् । इति विष्णुपुराणेऽभिधानात् । पुरुपार्थतया प्रतिपेधकशास्त्रेषु यदभक्ष्यं प्रकीर्तितं तचः सर्वे श्राद्धे वर्ज्यं श्राद्धकर्मणि न देयीमत्यर्थः ॥

इति स्मृतिचिन्द्रिकायां श्राद्धकर्मणि वर्ज्यद्रव्याणि.

अथ प्रसङ्गानित्यभोजने वर्ज्यद्रव्यविषयाणि कानिचिद्रचनानि छिख्यन्ते.

तत्र देवलः —

अभोज्यं प्राहुराहारं शुक्तं पर्युपितं तथा । अन्यत्र मधुसक्तुभ्यां भक्षेभ्यस्सर्पिपो गुडात् ॥ अत्र शुक्तपदस्यार्थो वृहस्पतिना दर्शितः—

अत्यम्लं शुक्तमाख्यातं निन्दितं ब्रह्मवादिभिः। इति ॥ अस्त्रायमर्थः — यदोदनसूपादिकं स्वतोऽनम्लमीपदम्लं वा ह्यस्त- नमद्यतनं वा दीर्घकालास्थातिभ्यां वा निजरसं हित्वाऽसर्थम-म्लीभवति तदेव लोके शुक्तमाख्यातं निसर्गतोऽत्यम्लं का-ख्विकादिद्रव्यमिति । पर्युपितमित्रपकं सद्गात्र्यन्तिरतं सदा अभो ज्यं श्राद्धभोजन इव नित्यभोजनादावष्यभोज्यमित्यर्थः । मध्वा दिकं पर्युपितमिप भोज्यमिति । भक्षा अपूपादयः । मधुनोपि सुरसत्वाय गुडवदेव पाकः क्रियते न भोजनदिनादन्येद्युः पकं मधु पर्युपितं भवति ।

नाद्याच्छास्त्रनिषिदं तु भक्ष्यभोज्यादिकं द्विजः । इति । अयमर्थः—'नापणीयमत्रमश्रीयात्र द्विःपकं न पर्युपि तम् 'इति ॥

घृतं वा यदि वा तैलं विशो नाद्यान्नखच्युतम्।

यमस्तदगुचिं प्राह तुल्यं गोमांसभक्षणम् ॥

हस्तदत्ताश्च ये स्तेहा लवणं व्यञ्जनानि च।

दातारं नोपतिष्ठन्ति भोका भुञ्जति किल्विपम्॥

एकेन पाणिना दत्तं शुद्रदत्तं न भक्षयेत्।

घृतं तैलं च लवणं पानीयं पायसं तथा॥

इसेवमादिशास्त्रनिपिद्धमापणीयमन्नादिकं द्विजो नाद्यादिति।

'नापणीयमन्नमश्रीयात्' इत्युक्तस्य निषिद्धस्य क्विद्पवाद-

अपूपास्सक्तवो धानास्तक्रं दिध घृतं मधु । एतत्पण्येषु भोक्तव्यं भाण्डलेपो न चेद्भवेत् ॥

माह स एव-

इति। द्विःपकात्रानिषेधस्यापवादोषि—'यद्यद्विःपकं तत्सर्वं नाश्नीः यात्' द्विःपकं नाम तदुच्यने यत्मथमपाकत एव भक्षणयोग्यतया पकं सदिष मार्दवादिगुणान्तरं सम्पादियतुं पुनः पच्यते। एवश्च यत्तिके शाकादौ मथमपाकमात्रेण भक्षणयोग्यता न भवति किंतु सह्यतिक्तरसयुक्तो भवति तत्र मथमपाकस्थास मग्रत्वात्पुनः पाके कृतेऽपि न द्विःपकता भवति। यत्र भक्षवि शेषसिद्धचर्थे उद्कादिना पूर्वे पक्त्वा तैलादिनाऽपि पाकः कियते तत्रापि न द्विःपकता भवति विशिष्टभक्ष्यसिद्धिफल कपिचिकियाया उदके तैले च क्रियमाणाया एकत्वादिति मन्त्वयम्। न पर्युपितमश्चीयादित्यस्थापवादमाह यमः—

अपूपाश्च करम्भाश्च धाना वटकसक्तवः । शाकं मांसमपूर्वं च सूर्वं कृसरमेव च ॥ यवागूः पायसं चैव यचान्यत् स्नोहसंयुतम् । सर्वे पर्युषितं भोज्यं शुक्तं च परिवर्जयेत् ॥

अपूपाः यवगोधूमपिष्टविकारा मण्डकादयः। करम्भाः दिधि मिश्रितास्सक्तवः। धाना भृष्टयवतण्डुलाः। वटकाः मापिष्टम यास्तैलपकाः स्तोकतया कृताः प्रसिद्धाः। शाकं मांसं चान्येद्युः पकं, न पुनरन्येद्युराहृतं तावन्मात्रेण पर्युपितत्वायोगात्। एवश्चान्येद्युः पक्कमोदनं तिस्मन्नेव दिने संस्कारद्रव्याणि प्रक्षिप्य शाकविशेषतया कल्पितं पर्युपितमपि भोज्यमेवेत्यवन्गन्तव्यम् । सक्तवो भृष्ट्यवतण्डुलपिष्टानि । पुनरपूपग्रहणं

गोध्मेतरचणकादिपिष्टिविकारस्थापूपप्रायस्यापि परिग्रहणार्थम् ।
सूपो सुद्राहक्यादिकृतं व्यक्षनम् । कृसरं भृष्टातंस्रचूणीमश्रमोदनम् । यवःगः अल्पतण्डुस्रचूर्णीमेश्रं पेयरूपमत्रम् । पापसं पयसा शृतमत्रम् । यचापूपादिभ्य उक्तेभ्योऽन्यदोदनादिकं स्त्रेहसंयुतं दिधिष्टतादिना स्तेहद्रव्येणाभिघारितं सत्पर्यु
पितं सर्वे भोज्यं यावद्शुक्तं वर्तते । यदा तु पर्युपितमपूपा
दिकं स्त्रेहसंयुक्तमोदनादिकं वा शुक्तं जातं तदा तद्दि वर्ज
यदित्यर्थः । अभोज्यमित्यनुकृत्तौ वसिष्ठोपि—-'अत्रं पर्युपित
कामं तु दथ्ना ष्टतेन यदिभघारितसप्पयुक्तीत' इति । अत्रं
पर्युपितमिस्यत्रानुकृतेनाभोज्यमितिपदेन सम्न्वधः । दथ्ना घृतेन
वाऽभिघारितं सत्पर्युपितमन्नं कामसुपयुक्तीत अश्रीयादिसर्थः ।
अतप्रव मनः—

यत्किञ्चत् स्नहसंयुक्तं भक्ष्यभोज्यमगहितम् । तत्पर्युपितमप्याद्यं हिवक्शेषं तु यद्भवेत् ॥

उपयोजयेदिसनुष्टत्तावापस्तम्वोपि—' उदकेऽवधाय कृतात्तं पर्यु पितम्' इति । यदा तु कृतात्तं उदकेऽवधायरात्रौ स्थापितं तदा तदत्तं पर्युपितमप्युपयुक्षीतेत्यर्थः । एवं काक्षिकं सम्पा-द्यितुं तण्डुलक्षाळनोदके निहितस्यात्रनिस्सावस्य राज्यन्तारे तस्य पर्युपितत्वेऽप्यभोज्यत्वं नास्तीति तज्जातस्य कािक्षकः स्याभोज्यत्वं सुतरां नास्तीति मन्तज्यम् । अश्वीयादिसनुष्ट-त्तौ शक्षालिखतावापि—'न पर्युपितमन्यत्र द्धिगुडगोधूमयवः पिष्टिविकारेभ्यः १ इति । न पर्यपितिमसस्य अक्षीयादित्यनु-वृत्तेन पदेन सम्बन्धः । यद्यपि द्धि गुडवन्न पाकासिद्धमिति न पर्युपितं, तेन तस्यं पर्युदासो व्यर्थ इति प्रतिभाति। तथाऽपि नान्येद्यः पाकेन सिद्धत्वं पर्युपितत्वे प्रयोजकं किन्त्वदनीयतया साध्यत्विमाते दश्लोप्यदनीयतया साधितस्य पर्युपितत्वमस्तीति तत्पर्युदासोऽर्थवानेव । याज्ञवल्क्यस्तु 'पर्यु-षितं वर्जयेत्' इति स्वोक्तस्य प्रतिप्रसवार्थमाह—

असं पर्युपितं भोज्यं स्तेहाक्तं चिरसंस्थितम् । अस्त्रेहा आपि गोधूमयवगोरसविक्रियाः ॥

चिरसंस्थितमिति पदं चिरसंस्थिता इति विपरिणामेन गौधूम-यवगोरसिविकियाः इत्यत्रापि संबन्धनीयम् । अतएव मनुः--

> चिरस्थितमपि त्वाद्यमस्त्रेहाक्तं द्विजातिभिः। यवगोधूमजं सर्वे पयसां चैव विकियाः ॥

इति । गोधूमिवाक्रियाः मण्डकाद्यः । यवविक्रियाः सक्त्वाद-यः । गोरसः क्षीरं तद्विकाराः कूर्चिकाद्याः, 'कूर्चिका क्षीर-विकृतिः' इसमरसिंहेनोक्तत्वात् । गोरसविकृताविप 'शुक्तं चेत्परिवर्जयेत्' इति यमोक्तं द्रष्टव्यम् । भोज्यत्वेनोक्तस्य पर्युपितस्य सर्वस्यापि आद्धे वर्ज्यत्वं पूर्वस्मिन् प्रकरणेऽभिहि-तम् । तेन भोज्यत्वात् श्राद्धेऽप्यनिपिद्धिमिति भ्रमो न कार्यः। श्वस्तु शुक्तद्रव्येष्विप किञ्चिद्धाज्यमित्याइ—

द्धि भक्ष्यं च शुक्तेषु यचान्यद्धिसम्भवम् ।

ऋवीपपकं भक्ष्यं स्यात् सार्पेयुक्ति। स्थितिः। अनियकः ऊष्मा ऋवीपं, तेन पकं ऋवीपपकम् । धान्यराद्या दिगतोष्मपकामिति यावत् । तथाच 'नर्वीपपकस्याश्रीयात्' इत्यापस्तम्बस्त्रं व्याचक्षाणेन धूर्तस्वामिनोक्तं— 'अनियकः ऊष्मा ऋबीपं तत्पकस्य प्रतिपेधः क्रियते' इति ग्रन्थेन । ऋबीपपकं गुक्तमिप सार्पेपा युक्तं भक्ष्यं स्यात् । न तद्रहित्तिमसर्थः । दिधसम्भवं तक्रनवनीतादि । भक्ष्यं भक्षणाई मिसर्थः । यमस्त्वापदि गुक्तस्य प्रक्षाळ्नात् भक्षणाईता भव तीत्याह—

गुक्तानि हि द्विजोऽत्रानि न भुक्षीत कदाचन ।
पक्षाळितानि निर्दोषाण्यापद्धमी यदा भवेत् ॥
एवं पर्युषितस्यापदि प्रक्षाळनाद्गक्षणाईता भवति । अतएव
तस्य भोजनेऽभ्यनुज्ञा तेनैव कृता—

मस्रमापसंयुक्तं तथा पर्युपितं च यत्। तत्तु प्रक्षाळितं ऋत्वा भुक्षीत ह्यभिघारितम् ॥

इति । वीजभूतधान्यादिकं भोज्यमपि भाविबहुफल्रहेतुविनाश-स्यात्यन्तानुचितत्वात् अनापदि पर्युपितवत् नेापभुक्षीतेसाह देवलः—

> न वीजान्युपयुक्षीत रोगापित्तमृते बुधः। फळान्येपामनन्तानि वीजानां हि विनाशयेत्॥

इति । एपां वीजानामनन्तानि फलानि यस्मादुपयुङ्जानो वि-नाशयेत् तस्मादनापदि वीजानि नोपयुङ्जीतेत्यर्थः । स्वते। विशुद्धमप्याहारं मृतमक्षिकादिसंसर्गदृपितं वर्जयोदित्याह स एव-

> विशुद्धभि चाहारं मक्षिकािकिमिजन्तुभिः। केशलोमनखैर्वीऽपि दृषितं पारिवर्जयेत्॥

अनापदीति शेषः । अतएव सुमन्तुः—'केशकीटक्षुतवचोभि-हतं श्वभिराघातं प्रेक्षितं वाऽदाध पर्युपितं पुनिस्सद्धं च-ण्डालावेक्षितमभोज्यमन्यत्र हिरण्योदकैः स्पृष्टात्' इति । क्षुत-वचः क्षुतवशाज्जातो ध्वानः तेन अभिहतं उपहतम् । श्वभिरिति बहुवचनं येपामवघाणमेक्षणे दोषावहे तादशमाणिनां स्मृत्य-न्तरोक्तगवादीनां सङ्ग्हार्थम् । अदाध पर्युपितं पर्युदस्तदध्या-दिन्यतिरिक्तं पर्युपितम् । पुनिस्सद्धं द्विःपववम् । एतदुक्तं भवति—विशुद्धाहारं मिक्षकादिसंसर्गतो दुष्टं संयज्य अदु-ष्टाहारं भुञ्जीत असम्भवे तु मिक्षकादिमपास्याहारशुद्धचर्थं उद-केन मोक्षणं हिरण्यस्पर्शनं वा कृत्वा भुञ्जीतेति । अदुष्टाहारा-न्तरासम्भवेऽपि यदवश्यं वर्ज्यं तदाह देवलः—

अवलीढं श्वमार्जारध्वाङ्क्षकुकुटमर्कटैः । भोजने नोपयुक्षीत तदमेध्यं हि सर्वतः ॥ ध्वाङ्क्षः काकः । ब्रह्मपुराणेऽपि—

श्द्रभुक्तावशिष्टं तु नाबाद्धाण्डस्थितं कचित् ! इति । तेन भाण्डादुङ्गतमन्यस्मिन् पात्रे निक्षिप्य देयम् । शूद्रोच्छिष्टवल्लशुनादिसंस्पृष्टमिप नाद्यात् । तथाच भविष्य त्पुराणे—

> सुरालशुनसंस्पृष्टं पीयूपादिसमन्वितम् । संसर्गादुच्यते तद्धि शुद्रोच्छिष्टवदाचरेत् ॥

इति । पीयूपं नवप्रस्तायाः गवादेः क्षीरम् 'पीयूपोभिनवं पयः' इत्यमरेणाभिधानात् । आदिशब्देन छत्राकादिसंस्पृष्टं गृह्यते ! संसर्गदुष्ट्विज्जात्या दुष्टमिप शाकादिकं नाद्यात् । 'दृन्ताकनाळिकापोतकुष्ठम्भाश्मन्तकाश्चेति शाकानामभक्ष्याः' इति पैठीनसिस्मरणात् । दृन्ताकं वृहतीसदृशस्थूलोद्धिदं फलं दृन्तभागेन सह शाकत्वेनप्रसिद्धम् । नाळिका दीर्घनाळा शिरिस स्वल्पफलान्विता, तस्याः फलस्य नाळभागस्य च शाकत्वेन प्राप्तेः पतिषधः । पोतं पोतिका, 'पोतिका तु सुता ह्या' इति वैजयन्त्यामभिधानात् । यस्याः पत्रशाकसेवा नि द्रातिशयकारिणी सा सुताह्या क्षेया । अस्माकं त्वस्य स्वरूपं कीदृशमिति चिन्यम् । दृन्ताकं श्वेतमेवाभक्ष्यं—

गण्डूलं श्वेतवृन्ताकं कूश्माण्डं च विवर्जयेत् । इति देवलेन वृन्ताकविशेषस्य प्रतिपेधात् । विशेपप्रतिपेधश्च शेषाभ्यनुज्ञानार्थ इति न्यायेन श्वेतेतरवृन्ताकभक्षणाभ्यनुज्ञा गम्यते । गण्डूलं कण्डूलाफलं अत्यन्तकण्डूतिजनकं बहुरोम युक्तं वर्षाकालभवम् । अत एवामरसिंहेन 'कण्डूला पादृषा यणी ' इत्युक्तम् । कूश्माण्डं कुम्भवद्वर्तुलं अदीर्घालावुसदृशम् । कुसुम्भं कण्टकरहितमभक्ष्यं, अकण्टिकत्वविशिष्टस्य कुसुम्भस्य स्मृत्यन्तरे निषेधो विद्यत इति देवस्वामिनोक्तत्वात् । वृन्ताक-नाळिकापोतकुसुम्भानां च भक्षणे उज्ञनसा दोषो दर्शितः—

कुसुम्भनाळिकाशाकं द्वन्ताकं पोतिकं तथा।
भक्षयन् पतितस्तु स्यादपि वेदान्तगो द्विजः॥
इति । भविष्यत्पुराणे जातिदुष्टानां शाकानामुदाहरणतया कानिचिच्छाकान्युक्तानि—

लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च ।
वार्ताकनालिकालावु ह्यवेयाज्जातिदृषितम् ॥
लशुनादिकं द्रव्यं संसर्गेण विनाऽपि लशुनत्वादिजात्यैव दृ
षितमवेयाज्जानीयादित्यर्थः । जासा दृषितिमिति ज्ञानस्य फलं
अससपि दृष्टसंसर्गे निष्टत्तिः । लशुनाल्यिवशेषस्य भेदको धर्मो
वैद्यकादौ द्रष्टव्यः, लशुनगृञ्जनपलाण्डुकाः पलाण्डुविशेषाः।
तत्र इरिद्रक्तवर्णविशेषो गृञ्जनः । 'हरिद्रक्तो गृञ्जनः' इति
वैजयन्त्याम् । श्वेतकन्दिवशेषः पलाण्डुः, 'पलाण्डौ तु श्वेतः
कन्दो मुकुन्दकः' इति तत्रैवोक्तत्वात् । एतच लशुनादित्रिविधपलाण्डुविशेषाभिधानं—

ल्रशुनं दीर्घपत्रं च पिच्छगन्धो महौषधम् । वरण्यश्च पलाण्डुश्च लतार्कश्च परारिका ॥ गृञ्जनं यवनेष्टश्च पलाण्डोर्दश जातयः । इत्युक्तदशिवधपलाण्डूपलक्षणम् । महोषधवरण्यादीनामपि भेदो वैद्यादौ द्रष्टच्यः । कवकं छत्राकम् । वार्ताकं क्षुद्रवार्ताकसं-ज्ञकवृहतीफलं कण्टकारिकारूयवृहतीफलात् किञ्चित् स्थूलम् । कवकभक्षणे तु दोषा यमेन दार्शताः—

भूमिजं नृक्षजं वाऽपि छत्राकं भक्षयन्ति ये । व्रह्मघ्नांस्तान्विजानीयाद्वह्मवादिषु गहिंतान् ॥ इति । हारीतोपि दुष्टद्रव्यसंसर्गाभावेऽपि वर्ज्यानाह-—न वटप्रक्षोदुम्वरद्धित्थनीपमातुलुङ्गानि वा भक्षयेत्' इति । द्धित्थं कपित्थफलम् । नीपं कदम्वपत्रम् । शेषाणि व्यक्तानि । मनुरपि—

लोहितान् द्वक्षानिर्यासान् त्रश्चनप्रभवांस्तथा ।
रोलुं गव्यं च पीयूषं प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥
लोहितान् द्वक्षानिर्यासान् लाक्षादीन् । त्रश्चनप्रभवान् निर्यासानिष शाल्मलिनिर्यासप्रभृतीन् । लोहितग्रहणात् निर्यासत्वेऽिष
पाटलवर्णहिंग्वादेः श्वेतवर्णकर्पूरादेश्च न निषेधः । शेलुः श्लेष्माः
तकाख्या द्वशः । पीयूषोऽभिनवं पयः । गव्यपीयूषेतु विशेषो
ब्रह्मपुराणे दर्शितः—

घृतात्फेनं घृतान्मण्डं पीयूषमथवाऽऽर्द्रगोः। सगुडं मरिचाक्तं तु तथा पर्युपितं दिध ॥ दीर्णं तक्रमपेयं च नष्टस्वादुकफेनवत्।

अयमर्थः — घृतादुङ्ख्य तत्फेनमात्रं तदग्रमात्र च न पेयम् । तथा आईगोः पीयूपं यावदाईता सरजस्कता गांवे पस्नुतिसमये

योनौ पवृत्ताऽनुवर्तते तावत् क्षीरमपेयम् । तथा यद्यि गुड-मरिचिमिश्रं यत्पुर्युपितं तद्यपेयम् । तथा यत्तकं दीर्णं दवींघद्दनशून्यं अग्नितापादिना स्वतो वा स्फुटितं वहुदिनस्थि त्या संजातेन फेनेन युक्तं, अत्यर्थं शुक्ततया नष्टस्वादुक-मपेयामाते । याज्ञवल्क्योपि वर्ज्यक्षीरमाह—

संधिन्यानिर्दशावत्सगोपयः परिवर्जयेत् ।

इति । तत्रसन्धिन्याः गोः पयः परिवर्जयेदित्येतत्स्फुटमुक्तं हारीः तेन-- 'सन्धिनी वृषस्यन्ती तस्याः पयो न पिवेत तहतुमः द्भवति' इति । वृषस्यन्ती कामुकी मैथुनेच्छावतीति यावत्। तदीयं पयः ऋतुमद्भवति । ऋतुमत्याः सम्वन्धि भवतीत्य-र्थः । अनेन एतदुक्तं भवाती—यावति काले मैथुने च्छाड नुरुत्तिस्तावति काले तस्याः पयो न पिवेदिति । तेन मैथु-नेच्छानिवृत्तौ तस्याः पयो न निषिद्धमिति मन्तव्यम् । 'अनि-देशायाः पयः परिर्वर्जयेत् ' इत्यस्यायमर्थः -- प्रसवप्रभृत्यनि र्गतदशरात्रायाः पयः वर्जयेदिाते । एतच रजोनिवृत्तिका-लोपलक्षणार्थम् । तेन दशरात्रादर्वाग्रजोनिवृत्तौ नास्ति तत्र मतिपेधः । दशरात्रादुपर्यापे रजोऽनुवृत्तावस्ति मतिपेध इति बोद्धव्यम् । अतएव 'नवस्रतायाः पयः न पिवेत् सरजस्त्वात्' इत्युक्ता हारीतेनोक्तं- 'सप्तरात्रादित्येके दशरात्रादिखपरे मा सेनापीयूपं भवतीति धर्मविदः ' इति । नवस्तायाः पयः सप्तरात्रादुपर्यपि पीयूपं भनतीत्यके। दशरात्रादुपर्यपि पीयू-

पं भवतीत्यन्ये मन्यन्त इत्यर्थः । एतेषु सप्तरात्रादिपक्षेषु यथा रजोनिष्टात्ते व्यवस्था द्रष्टव्या। 'अवस्यायाः पयः परिव-र्जियत् इत्यस्यायमर्थः — अवत्सा चत्सश्चन्या मृतवत्सेति याः वत् । तस्याः पयः यावद्रत्सवियोगशोकानुवृत्तिः तावत् विवः र्जयेदिति । अतएव 'पयो न प्रिवेत्' इसनुष्टतौ हारीतेनोक्तं-' हतवत्सायाः शोकाविष्टत्वात् नवस्तायास्सरजस्त्वात् ' इति । न च वाच्यं शोकाविष्टत्वादित्यस्य हेतुविचगदरूपार्थवादत्वा-च्छोकनिष्टतावापि मृतवत्सायाः पयो न पिवेदिति । सरज-स्त्वादिति हेतुसमाभिन्याहारात्। अतो हेतुरेवायं शोकाित प्टत्वादिति, न हेतुवित्रगदार्थवादः । न च वाच्यं सरजस्त्वादि-त्यपि हेतुविन्नगदार्थवाद एव न तु हेतुरिति कथं तत्साहच-र्यादस्य हेतुत्वं निश्चीयत इति । हेतुविवक्षयैव सरजस्त्वा दित्यस्य प्रयुक्तत्वात् । यदि हेतुविवक्षया सरजस्त्वादिति न प्रयुक्तं स्वात् तदा दशरात्रात्प्रागृध्वं यदा रजोनि-वृत्तिः तदा नवमस्रतायाः पयः पेयमित्ययमर्थो यः प्रति-पादियतुमिष्टः सोत्रतिपादितो भवेत् । ततश्च 'सप्तरात्रादि-सेके दशरात्रादिसपरे मासेनापीयूपं भवतीति धर्मविदः' इसनन्तरोक्तस्य तदीयग्रन्थस्य अनिर्वाहस्त्वात् । तस्माद्धेतुत्वे-नैव सरजस्त्वादित्यस्वान्वयो नार्थवादत्वेन । तत्समभिव्या-हाराच्छोकाविष्टत्वादिसपि हेतुत्वेनैवान्वयो नार्थवादत्वेनेत्यलं बहुनाऽतिप्रसङ्गेन । धर्मविद्भहणं रजोनिवृत्तिसंदेहस्याप्यभा-

वस्तत्रेति ज्ञापनार्थ कृतम् । तेन यदा सप्तरात्राद्पि रजोनिदृत्तिनिश्चयः तदा तत्पयःपानेऽपि न धर्महानिः । गव्यपीयूपवदजामिहिष्योरपि पीयूपमपेयम् । तथाच वासिष्ठः— 'गो
महिष्यजानामिनिर्दशम्' इति । पयो न पेयामिति शेषः ।
गौतमोपि वर्ज्य क्षीरमाह— 'संधिनीयमस्स्यन्दिनीनां च'
इति । क्षीरं वर्ज्यमिति शेपः । स्यन्दिनी स्वतःपस्रवत्क्षीरस्तनी । यमसूः यमळपस्तिनी । वोधायनोपि— 'क्षीरमपेयं
विवत्साया अन्यवत्सायाश्च ' इति । श्रङ्कोपि 'सर्वासां दिस्त
नीनां क्षीरमभोज्यतया वर्ज्यम् ' इति । मनुरपि —

आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां महिपीं विना।

इति । महिपीं विना आरण्यमिहपीन्यतिरिक्तानामिस्रर्थः।

मृगाणामिस्रत्र पूर्वत्र श्रुतेन पय इति पदेन सम्बन्धः। वर्ज्यानीति अनेकावान्तरवाक्यशेषतया उत्तरत्र तिष्ठति। तेनास्यापि वर्ज्यत्वमिभधीयते । यद्यपि मृगाणामिति पुछिङ्गनिर्देशात्पुं व्यक्तयः प्रतीयन्ते, तथाऽपि पयःपदसम्बन्धायोग्यत्वपिरहा राय पुछिङ्गेन व्यक्तिमाश्रयेव विवक्षितिमिति प्रस्तेतव्यम्।

ततश्चायोग्यत्वानवगतेः पयःपदेन सम्बन्धो युज्यत एव।

गौतमोपि— 'नित्यमाविकमपेयमौष्ट्रमैकशफं च' इति नित्य
मभिनवदशायामनभिनवदशायां चेसर्थः। औष्ट्रं उष्ट्र्याः पयः।

ऐकशफमेकशफाया वडवादेः पयः। एवश्च गोमहिष्यजानामेव

पयः पेयं नान्यस्या इत्यनुसन्धेयम्। अत एव श्रङः—

माहिषं गव्यमाजं च भोज्यं क्षीरेषु निर्दिशेत्। आपस्तम्बस्तु ब्राह्मणव्यतिगिक्तस्य कपिछापयो वर्ज्यमित्याह-क्षात्रियश्चैव वृत्तस्थो वैश्यश्शूद्रोऽथवा पुनः।

यः पिवेत्कपिलाक्षीरं नरकानेत्यपुण्यकृत् ॥
तेन ब्राह्मणव्यतिरिक्तः कपिलागोक्षीरं प्रयक्षेन विवर्जयेदित्यभिप्रायः । ब्राह्मणस्यापि हृतशेपव्यतिरिक्तकपिलाक्षीरपाने
दोषो भविष्यपुराणे दर्शितः—

कापिलं यः पिवेच्छूदो नरकेन विपच्यते।

हतशेषं पिवेद्विमो विमस्त्यादन्यथा पशुः॥

इति । हतशेषे पीते विमस्य जन्मान्तरेऽपि विमत्वं भवाति।
अन्यथा हतशेषव्यतिरिक्तकपिलाक्षीरे पीते विमस्य जन्मान्तरे पशुत्वं भवतीत्यर्थः। क्षीरवर्जनविधानादेव तत्स्पृष्टःयापि
वर्जनं पीयूपस्पृष्टवर्जनवदुन्नेयम्। क्षीरवर्जनविधानादेव तद्दि
कारस्यापि कूर्चादेर्वज्येत्वं सिद्धं, कूर्चादिविकारे क्षीरस्य
सद्भावात्। अतएव क्षीरे वर्जायेतव्ये तद्रसवतोपि पायसादेन्
वर्जनं कार्यमिति मीमांमायां प्रतिपादितम् । अतएव नि
पिद्धक्षीरविकाराणां भक्षणे निपिद्धातिकमस्य कृतत्वात्प्राय-

क्षीराणि यान्यभक्ष्याणि तद्विकाराशने बुधः ।
सप्तरात्रव्रतं कुर्यात्मयव्रेन समाहितः ।
इति । भक्ष्यव्रीह्यादिविकारस्यापि देवताभ्यो निवेदनार्थं वैदिः

श्चित्तमाह शङ्खः---

कमार्गेण लोकिकमार्गेण वेषिकित्यतस्य निवेदनात्प्रागपाज्यत्व-मुक्तं याज्ञवल्क्येन—

देवतार्थं हिवाईशयुलोहितत्रश्चनांस्तथा ।

इति । यथा संधिन्यादिपयः परिवर्जयेत् तथा देवतार्थं देवताभ्यो निवेदनार्थं लोकिकमार्गेण परिकल्पितमन्नं हिवः
वैदिकमार्गेण परिकल्पितं पुरोडाशादिकं शियुादिकं च परिवर्जयेदिसर्थः । एवश्च सन्धिन्यदिपयोवद्यद्यपि देवतार्थान्नस्य
पुरोडाशादिहविषश्च सदा परिवर्जनं प्रतिभाति । तथाऽपि
देवतानिवेदनात्मागेव प्रतिषेधो वेदितव्यः । अतएव पित्रादिदेवतार्थमुदाहत्योक्तं यमेन—

भक्ष्यं भोज्यं तथा पेयं यिकिञ्चित्पच्यते ग्रहे।
न भोक्तव्यं पितॄणां तद्निवेद्य कथञ्चन ॥
इति । शिग्रुः शोभाञ्जनः। स च रक्तकुसुमः परिवर्जनीयोन श्वेतकुसुमः। स्मृत्यन्तरेऽपि 'रक्तशिग्रुं वर्जयेत्' इति वि

शिष्टस्येव निषेधो विद्यत इति देवस्वामिनाऽभिधानात् । शिः य्वादिजातिगहितवदाश्रयगहितमपि वर्जनीयं, तथाचाङ्गिराः—

द्विविधं गर्हितं शोक्तं निसमन्नं मनीषिभिः । जातितो गर्हितं चैव तथैवाश्रयगर्हितम् ॥ अभोज्यानां विजानीयादत्रमाश्रयगर्हितम् । छशुनादिकमत्रं यत्तज्ज्ञेयं जातिगार्हितम् ॥ इति । अभोज्यानामन्नं यत्तदाश्रयगर्हितं विजानीयात् । य छशुनगृञ्जनच्छत्राकादिकमन्नमद्नीयं दुष्टद्रव्यसंसर्गेण विनाऽिप छशुनत्वादिजातिनयैव मन्वादिभिर्निपिद्धं तज्जातिगर्हितं ज्ञेय-मिसर्थः। याज्ञवल्क्यस्तु प्रातिपद्येनाश्रयगर्हितमाह—

कद्येवद्धचोराणां क्लीवरङ्गावतारिणाम् ।
वैणाभिशस्तवाधुष्यगणिकागणदीक्षिणाम् ॥
चिकित्सकातुरकुद्धपुंश्वलीमत्तविद्विपाम् ।
कूरोग्रपतितव्रायडाम्भिकोच्छिप्भोजिनाम् ॥
अवीरस्वीस्वर्णकारस्वीजितग्रामयाजिनाम् ।
शस्त्रविक्रयिकर्मारतन्तुवायश्वष्टत्तिनाम् ।
नृशंसराजरजककृतव्रवधजीविनाम् ॥
चेलधावसुराजीवसहोपपतिवेश्मनाम् ॥
पिशुनानृतिनोश्चैव तथा चाकिकवन्दिनाम् ।
एपामन्नं न भोक्तव्यं सोमविक्रयिणस्तथा ॥

इति । यो लोभाद्विद्यमानमिप धनं न भुङ्को न ददाति स कद-र्यः । तथाच स्मृतिः—

> आत्मानं धर्मकृत्यं च पुत्रदारांश्व पीडयेत्। लोभाद्यः पितरौ भृत्यान् स कदर्य इति स्मृतः॥

वद्धो निगळितः, असिद्धो वा । चोरक्टीवाँ प्रसिद्धौ । रङ्गा-वतारी पछादिः । वैणो वीणावादी । आभेशस्तः पतनीय-कर्मकरत्वेनाभियुक्तः । वार्धुष्यं निधिद्धवृद्धचुपजीवनं तेन तद्धान् लक्ष्यते । गणिका वेश्या । गणः सङ्घः । दीक्षी दी- क्षणीयेष्ट्यादिजनितदीक्षाख्यसंस्कारवान् । दीक्षाख्यसंस्कारवत्तं चावभृथेष्टेः प्रागेव अवभृथेष्ट्या तत्संत्कारापगमात् एवञ्च दीक्षणी येष्ट्यनुष्ठानप्रभृति अवभृथेष्ट्यनुष्ठानपर्यन्तं दीक्षितस्याभोज्या न्नत्वमनया स्मृत्या प्रतिपादितिमिति यद्यपि प्रतिभाति । तथाऽपि— 'सांस्थितेऽग्नीपीमीये यजमानस्य गृहेऽशितव्यम् ' इत्यादिश्रुत्या सत्यपि दीक्षाख्यसंस्कारे अग्नीषोमीयपश्चयागसमाप्तेः प्रागेव अभोज्यान्नत्वमनया स्मत्याऽप्युक्तमिति मन्तव्यम् । चिकित्सको भिपक् । आतुरः पापरोगग्रस्तः । पापरोगाश्च देवलेन दिश्चताः—

वातव्याध्यक्षमरीकुष्ठमेहादरभगंदराः । अर्शस्संग्रहणीत्यष्टौ पापरोगाः प्रकीर्तिताः ॥

वातव्याधिः पक्षमारकादिः । अदमरी मूत्रकुच्छ्म् । मेहो मधुमेहादिः । उदरं जंलोदरादिः । इतरे प्रसिद्धाः । कुद्धो धृताभ्यन्तरकोपः । पुंश्रली असती । मत्तो धनादिगर्वितः । परिधकारशीलः । विद्धिद् शत्रुः । कूरो निर्देयः । उग्रः परदुः-खोत्पादनपरः । पतितो महापातकी । त्रात्यः पतितसावित्री-कः । डाम्भिकः ख्यातिलाभादिपयोजनानुसन्धानेनैव धर्मानुः ष्टाता । उच्छिष्टभोजी परभुक्तोज्झिताझभोजनशीलः । अवीरस्त्री निष्पतिस्रुता । अवीरा निष्पतिस्रुता । इत्यमरिसंहेनाभिधानात् । स्वर्णकारः कटकमकुटादिस्वर्णविकारकारी । स्त्रीजितः सर्वकार्यपु स्त्रीवश्वर्तो । ग्रामयाजी अनेकग्रामयाजकः शस्त्रविः

ऋयी खड्गादिविक्रयजीवी। श्वष्टितः श्वष्टत्तवान् सेवक इति यावत् । नृशंसो घातुकः । राजा जनपदपुरपालकः रजको वस्त्रादिरागकर्ता। यः प्राणिववधेन जीवाते स वधजीवी। चेलधावः वस्त्रप्रसाळकः । सुराजीवः सुराविक्रयी । सहोपपतिवेदमा भार्याः जारसहितष्टहः । एषां कदर्यत्वादिदोपदुष्टानां त्रैवर्णिकानामन्नं सोमलताविक्रयादिदापदुष्टस्य त्रैवार्णकस्यात्रं कद्र्यत्त्रादिदोपदु-ष्टस्वामिसम्बन्धात् परम्परया दुष्टमत्रं न भोक्तव्यमित्यर्थः। यद्यपि दीक्षितात्रस्याश्रयकृतदुष्टत्वाभावः, तथाऽपि वचनवलादे वाभोज्यत्वम् । अन्यदापि त्रैवाणिकात्तं स्वाश्रयगींहतमभोज्यं वचो-भङ्गचा पैठीनसिराह—'सांवत्सारिकघण्टिकग्रामकूटात्रं विपं परिवित्तिपरिविविदानीवद्धप्रजननवृपछीपतिदिधिपूपतिपुनर्भू पु-त्राणां रुधिरम्' इति । सांवत्सरिको ज्यौतिपिकः । घाण्टि-को निचण्टुकारेण निरूपितः—'राज्ञां प्रवोधसमये चण्टाशि-ल्पस्तु घाण्टिकः ' इति । ग्रामकूटो ग्रामेऽनन्याधीनतक्षकः 'कूटतक्षोऽनधीनकः' इत्यमरः । विषं विषवदभक्ष्यम् । य-स्मिन् अकृतदारे ज्येष्ठे कनिष्ठेन दारपरिग्रहः क्रियते स ज्येष्ठः परिवित्तः। य आधानानि ज्येष्ठेनाकृतानि करोत्यः सौ कनिष्ठः परिविविदानः । विद्धपजननो विद्धिशिक्षः। दिधिपूपतिः पुनर्भूपति । रुधिरं रुधिरवद्भक्ष्यम् । यमोपि-

चकोपजीवी गान्धर्वः कितवस्तस्करस्तथा । ध्वजी दारोपजीवी च शुद्राध्यापकयाजकौ ॥

कुलालश्चित्रकर्मा च वार्धुषिश्चर्मविक्रयो । इति । अभोज्यान्न इति रोषः । चक्रोपजीवी शाकटिकः । ध्वजी मद्यविक्रयी । कुलालः कुम्भकारतृत्त्युपजीवी । रोषाणि प्रसिद्धानि । समुखन्तरेऽपि—

तथा राजभृतस्यात्रं चोरस्यात्रं तथैव च ।
स्तके मृतके चात्रं स्वर्गस्थमापि पातयेत् ॥
अवलिप्तस्य मूर्खस्य दुष्टवृत्तस्य दुर्मतेः ।
अन्नमश्रद्दधानस्य यो भुङ्के श्रूणहा स वै ॥

इति । राजभृत्यादीनामन्नमयन्तगर्हितं, तेन यन्नाद्वर्ज्यमित्यभि-प्रायः । अविष्ठिप्तो गार्वेतः । सांवत्सिरिकघाण्टिकादीनामपि त्रैवर्णिकान्तर्गतानामेवान्नं प्रतिषिध्यते । न तु श्रुद्रादिजात्यन्तर्ग-तानां, तेषां स्वरूपेण प्रतिषेधात् । तथाच समृयन्तरे—

> बाह्मणस्य सदाऽश्रीयात् क्षत्रियस्य तु पर्वसु । प्रकृतेष्वथ वैश्यस्य शुद्रस्य न कदाचन ॥

पक्तेषु प्रस्तुतेषु विवाहादिषु महोत्सवेष्वित्यर्थः । ब्राह्मण-स्वेत्यादिषु अन्नीमित शेषो द्रष्टव्यः। एवंच क्षत्रियाणामन्नं पर्वसु भोक्तव्यम् । कद्यादिक्षत्रियाणामन्नं पर्वस्विप न भोक्तव्यम् । वैश्यानामन्नं विवाहादिमहोत्सवादन्यत्र न भोक्तव्य-म् । कद्यादिवैश्यानामन्नं विवाहाद्युत्सवेष्विप न भोक्तव्य-मित्यनुसन्धेयम् । श्द्रस्य न कदाचनेत्यनेनैव श्द्राज्ञघन्यस्य प्रतिलोमस्यान्नं सुतरां नाश्रीयादिति गम्यते । याज्ञवल्क्यः श्र्रेष्विप केपाञ्चिद्नं भोज्यमिसाह— श्र्रेषु दासगोपालकुलिमत्रार्थसीरिणः। भोज्यान्ना नापितश्चैव यश्चात्मानं निवेद्येत्॥

दासः क्रीतकादिः। गोपालो गवां पालयिता। कुलिमत्रं पिद्यपितामहादिक्रमागतः सखा। सीरो लाङ्गलं, तेन कृषिफलं लक्ष्यते, ततथ कृषिफलं अर्धसीरपदेनोक्तम्। नापितो वप नादिकर्मकर्ता शुद्रः। एते दासादयः शुद्रेषु शुद्राणां मध्ये भोज्यान्नाः। यश्च शुद्रः क्रीतबिद्वजायात्मानं निवेदयित तवा-हिमिति समर्पयित सोपि भोज्यान्न इत्यर्थः। दासादयश्चात्र स्वकीया एव विवक्षिताः। अतएव देवलः—

स्वदासो नापितो गोपः कुम्भकारः कृषीवलः। ब्राह्मणरपि भोज्यात्राः पञ्चेते शृद्रयोनयः॥

एवश्च यदीया दासाद्यस्तस्यैव तेषामत्रं भोज्यं नान्यस्येति मन्तव्यम् । दासाद्व्यितिरिक्तशूद्रात्रभोजने दोपमाह दक्षः—

श्द्रात्ररसपुष्टाङ्गस्त्वधीयानोपि नित्यशः । जुद्दन्वाऽपि जपन्वाऽपि गतिमृध्वी न विन्द्ति ॥ वसिष्टोपि—

श्द्रान्नेनोदरभ्थेन योपि गच्छति मैथुनम् । यस्यानं तस्य तत्पुत्रः अन्नाच्छुक्कं प्रवर्तते ॥ हारीतोपि—

> श्र्दान्नेन तु भुक्तेन जटरस्थेन यो सतः। स वेसरत्वमुष्ट्रत्वं श्र्द्रत्वं चोपगच्छाते॥

अङ्गिरा अपि-

षण्मासं यो द्विजो भुङ्के शूद्रस्थात्रं विगर्हितम् । स च जीवन् भवेच्छूदो मृतश्र श्वार्शभजायते ॥

अतं पक्तमामं च । यत्तु सुमन्तुनोक्तम्—
गोरसं चैव सक्तंश्च तैलं पिण्याकमेव च ।
अपूपान् भक्षयेच्छूद्रात् यच्चान्यत्पयसा कृतम् ॥
यदिष हारीतेन—

कन्दुपकं स्नेहपकं पायसं दिध सक्तवः।
एतान्यश्रुद्रात्रभुजो भोज्यानि मनुरत्नवीत्॥
अपूपादिपचनार्थे परिमण्डलतया कृतमयोमयं पात्रं कन्दुः,
तत्र पकं कन्दुपकम्। स्नेहेन तैलादिद्रव्येण पकं स्नेहपकम्।
अश्रुद्रात्रभुजो द्विजस्य। यदण्यिङ्गरसा—

पात्रान्तरगतं ग्राह्यं श्र्दात्स्वग्रहमागतम् ॥

इति । अन्नमिति शेषः । यदपि विष्णुपुराणे—

सम्मोक्ष्य विद्वान् गृह्णीयाच्छूदान्नं गृहमागतम् ।

इति । यतु शङ्खेन-

गृहात्परार्थे भूम्यर्थे गवार्थेषु विशेषतः ।
श्रोत्रियेण तु भोक्तव्यं श्र्द्राणां तु यमोऽत्रदीत् ॥
तदेतत्सर्वमापद्विषयम् । एवमित्रिविहीनस्थात्रमप्यापद्विषय एव
भोज्यं, 'अग्निहीनस्थ नात्रमद्यादनःपदि' इति याज्ञवस्वयस्मः
रणात् । ससप्यधिकारे श्रौतस्मार्तादिपारेग्रहमकुर्वतो विधानेः

नोत्सृष्टाग्नेश्चात्रमनापदि न भुझीतेत्यर्थः। अनेनार्थादाग्निहीनस्या-न्नमापद्यद्यादित्युक्तं भवति । आपद्यपि यतिवानपस्थयोरत्नं नाद्यात्। तथाच श्लोकापस्तभ्वः—

हावेवाश्रमिणौ भोज्यो ब्रह्मचारी तथा गृही । मुनेरत्नमभोज्यं स्यात्सर्वेषां लिङ्गिनां तथा ॥ इति । भोज्यौ भोज्यान्नौ । मुनिः वानप्रस्थो यतिश्च । लिङ्गिन् नां अवेदोक्तलिङ्गिनाम् ।

> इति स्मृतिचिन्द्रिकायां नित्यभोजने मांसव्यतिरिक्तः वर्ज्यद्रव्यविषयाणिः

अथ नित्यभोजने वर्जनीयमांसद्रव्यविषयाणि कानिचिद्रचनानि लिख्यन्ते.

तत्र मनुः---

एतदुक्तं द्विजातीनां भक्ष्याभक्ष्यमशेषतः । मांसस्थातः प्रवक्ष्यामि विधि भक्षणवर्जने ॥

मांसस्य भक्षणे वर्जने च विधि प्रवक्ष्यामीत्यर्थः । तत्र मांस भक्षणे प्राप्ते विधिकथनं निषेधकथनेन विना न सम्भवतीति प्रथमं मन्कमेव निषेधवचनं प्रदर्श्यते—

> नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते कचित्। न च प्राणिवयस्खर्ग्यस्तस्मान्मांसंुविवर्जयेत्॥

समुत्पत्तं च मांसस्य वधवन्धौ च देहिनाम् ।

प्रसमिक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥

इति । प्राणिहिंसा मा भूदिति सर्वस्माद्रागप्राप्तमांसभक्षणान्नि वर्तेत, न तु प्रत्यवायभयादित्यर्थः । अत्रोक्तं तेनैव—

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।

प्रवृत्तिरेषा भूनानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥

इति । अनेन मांसभक्षणे प्रस्वायाभावाङ्कोकविद्वेषाभावाच्च फलार्थित्वाभावे मांसं भक्षयेदिति विधिर्थादुक्त इति मन्त व्यम् । निवृत्तेस्तु महाफलसाधनत्वं च तेनैवोक्तम्—

फलपूलाशनैर्मध्येर्मन्यन्नानां च भोजनैः ।

न तत्फलमवामोति यन्मांसपरिवर्जनात् ॥

इति । एवम्रक्तफलार्थिनामिष केषु चिद्विषयेषु मांसं मक्षितव्य
मित्याह स एव—

मोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणस्य च काम्यया ।
यथाविधि नियुक्तश्च प्राणानामेव चासये ॥
प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं कतौ पश्ववयवभूतं हृद्यादिमांसं इष्टि
शिष्टं भक्षयेत् । ब्राह्मणस्य च काम्यया निमान्त्रतब्राह्मणस्येच्छया मांसं भक्षयेत् । इष्टैस्सहोपभुज्यतामिति स्वेच्छाः
पूर्वकोक्तचनुज्ञातं श्राद्धशिष्टं मांसं श्राद्धकर्ता भक्षयेदिति
यावत् । यथाविधि नियुक्तश्च विधिवच्छाद्धे निमन्त्रितो ब्राह्मणः
पित्राद्युदेशेन त्यक्तं मांसं भक्षयते । प्राणानामेव चात्यये

मांसं भक्षयेत्। भेषजत्वेन दुभिक्षादावन्नालाभेन वा यत्र मां-समक्षणमन्तरेण प्राणधारणमशक्यं तथाविधविषयेऽपि मांसं भक्षयेत्। एवं च प्रोक्षितादिविषयचतुष्ट्यादन्यत्र फलाधिनां मांसभक्षणं वर्जनीयम्। फलाधित्वाभावे तु नावश्यं वर्जनीय-मिति सिद्धम्। यत्पुनस्तेनोक्तम्—

असंस्कृतान् पश्नुन् मन्त्रेनीद्याद्विमः कदाचन । इति तदापे फल्लाथिविषयम् ।

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।

इति वाक्यत्रयं यत्र प्रातिपद्येन निषेधो न विद्यते तद्विपयम्।

प्रातिपद्येन निषेधविधिषु सत्सु पुरुषस्य निवृत्तिसिद्ध्यर्थं

निषद्धकरणे दोषकल्पनस्यावश्यकत्वात्। तेन परस्तीगमने

वेश्यागमने वा नानाविधदोषसद्भावात् प्रातिपद्येन निषिद्धमां
सभक्षणेऽपि नानाविधदोषाः सन्त्येव। अतएव शेह्वन प्राति
पद्येन निषिद्धमांसभक्षणे प्रायिश्वत्तमुक्तम्— विद्वराहग्रामकुक्कुट
कुम्भिकभक्षणे द्वादशरात्रं पयः पिवेत्' इति। विद्वराहादि
मांसभक्षणे निषेधो मनुना प्रातिपद्येन दर्शितः—

ऋव्यादान् शकुनीन् सर्वान् तथा ग्रामिनवासिनः।
अनिर्दिष्टांश्चैकशफान् टिट्टिभं चैव वर्जयेत्॥
कलिवङ्गं प्रवं हंसं चक्राङ्गं ग्रामकुकुटम्।
सारसं रज्जुदालं च दात्यूहं शुकशारिके॥
प्रत्युदान् जालपादांश्च कोयष्टिनखाविष्किरान्।

निमज्जतश्च मत्स्वादान् सौनं वल्लूरमेव च ॥ वकं चैव वलाकां च काकोलं खञ्जरीटकम्। मत्स्यादान् विदूराहांश्च मत्स्यानेव च सर्वशः ॥

इति । ऋव्यं मांसं, तदत्तीति ऋव्यादः । ये ऋव्यादाः श कुनयस्तान् युधादीन् वर्जयेत् । ग्रामवासिनः श्रुनयः। पारावतप्रभृतयः, तानपि वर्जयेत् । अनिर्दिष्टान् अज्ञातान् अज्ञातावान्तरजातिविशेषान्, मृगपक्षिण इति शेषः। 'अज्ञा-तांश्र सगद्विजान् 'इति याज्ञवल्क्यस्मरणात् । एकशफान-श्वादीन् वर्जयेत् । निष्ठुरशब्दभाषी पक्षिविशेषः टिट्टिभः । तथाच वैजयन्यामुक्तम्—' टिट्टिभस्तु कटुकाणः' इति । कल विङ्कश्चटकः । प्रवो जलकुकुटः । हंसः प्रसिद्धः । चक्राङ्गश्च-कवाकः। कुकुटः प्रसिद्धः। सारसः पुष्कराह्वयः। स च दीर्घगळजङ्घो नीलाङ्गः पिक्षविशेषः। रज्जुदालो द्वक्षकुद्धः। दात्यूहः कालकण्टकः स च जलसमीपचरः। शुकः प्रसिद्धः। तस्य स्त्री शारिका । चञ्चा पत्युद्य भक्षयन्तीति पत्युदाः क्येनादयः । जालपादा जालाकारपादाः । कोयष्टिः कीदर्श-इति चिन्त्यः । नसैविंकीर्य भक्षयन्तीति नस्वविष्किराः चकोरादयः। निमज्जतश्च मत्स्यादाः निमज्ज्यनिमज्ज्य म-त्स्यान् भक्षयन्तीति तान् । सूना हिंसास्थानं, तत्र हतस्य मांसं सौनम् । वल्लूरं शुष्कमांसम् 'उत्तप्तं शुष्कमांसं स्या-त्तद्वरुरं त्रिलिङ्गकम् ' इत्यमरः। वकवळाके प्रसिद्धे। का- कोलः गिरिकाकः । वृद्धकाको वा । यो मेघपर्यन्तमाकाशारो-हणं लीलया करोति स च खल्लरीटः । मत्स्यादान्, अनि-मज्जतोपि । विद्वराहाः ग्रामस्कराः । मत्स्यानेव च सर्वशः सर्वप्रकारान् मत्स्यान् वर्जयेत् । अनन्तरोक्तस्यापवादमाह स एव—

पाठीनरोहितावाद्यौ नियुक्तौ हव्यकव्ययोः ।
राजीवास्सिहतुण्डाश्च सशक्काश्चैव सर्वशः ॥
पाठीनो वहुदंष्ट्रो मत्स्यः, 'सहस्रदंष्ट्रः पाठीनः' इत्यमरः ।
रोहितो रक्तवर्णः । एतौ पाठीनरोहितौ हव्यकव्ययोर्नियुक्तौ निवेदितौ दत्तौ निमन्त्रितेनाद्यौ भक्ष्यावित्यर्थः । राजीवाः पद्मवर्णाः, राजिमन्तो वा । सिंहतुण्डाः सिंहमुखाः ।
सह शक्तैश्युक्तचाकारैः पृष्ठभागतो वर्तन्ते इति सशक्काः ।
एतेषु सिंहतुण्डादयः सर्वशः निमन्त्रितैरानिमृन्त्रितैश्च भक्ष्याः ।
सशक्कानां भक्ष्यत्वं वेदाध्ययनहीनपुरुषाभिष्रायेणोक्तं—

मत्स्यान् सञ्चलकान् सर्वान् वै वेदाध्यायी विवर्जयेत्। इति यमस्मरणात्। देवछोपि पातिपद्येन निपेधमाह—

उल्लेकुररवेनगृद्भकुकुटवायसाः।
चकोरकोिकलौ रज्जुदालकश्चापमहुकौ॥
पारावतकपोतौ च न भक्ष्याः पिक्षणः स्पृताः।
उल्लेको घूकः । योन्तिरिक्षे चरन् जलान्तर्वितनं मत्स्यादिकं
इयेन इव निपसादत्ते स कुररः। चकोरः चन्द्रिकास्वादकः।

यः राकुनसूचकत्वेन प्रसिद्धो हरितपीतवर्णः सर्वकायः पिक्ष विशेषः स चापः। मद्गुः जलकाकः 'मद्गुस्तु जलवायसः' इति वैजयन्त्याम्। शेषाः प्रसिद्धाः। एवं यत्र यत्र प्रातिप-येन प्रतिषेधस्स्मर्यते तत्र निषेधविधिमतिक्रम्य भक्षणे कृते प्रस्वायो न मांसमात्रभक्षण इत्यनुसन्धेयम्। अत एव शक्वे-नाप्रतिषिद्धानां मांसं भक्ष्यमिति दशियतुं केचन पिक्षमृगाणा-मप्रतिषिद्धानामुपलक्षणतयोक्ताः।

> तित्तिरिं च मयूरं च लावकं च कपिअलम्। वार्घीणसं वर्तिकं च भक्ष्यमाह यमस्सदा॥

लावकः स्वजातीयैस्सह कलहकारी पक्षिविशेषः। किपञ्जलः शरुः। स च चित्रवर्णपक्षः। 'चित्रपक्षे शरुकिपञ्जले' इति वैजयन्सामिधानात्। वार्श्वीणसः खङ्गाख्यो स्गः 'गण्डके खङ्गखिङ्गनौ, वार्श्वीणसो गणोत्साहः' इति तत्रैवाभिधानात्। वितिकः पक्षिविशेषः। शेषाः प्रसिद्धाः। वार्श्वीणसग्रहणमः प्रतिपिद्धपश्चमृगाणां प्रदर्शनार्थम्। अतएव मनुः—

श्वाविधं शल्यकं गोधां खङ्गकूर्मशशांस्तथा । भक्ष्यान्पञ्चनखेष्वाहुरनुष्ट्रांश्वेकतोदतः ॥

श्वावित् श्वभक्षको व्याघ्रविशेषः। न तु श्रत्यः, पौनरुक्तचा-पत्तेः। श्वाविच्छ्व्दः श्वभक्षकव्याघ्रविशेषेऽपि प्रसिद्धः। अत-एवापरार्केण सेघा श्वावित् इति व्याख्याय स च श्वभक्षको व्याघ्रविशेष इत्युक्तम्। श्रत्यकः श्रत्यः, स च श्रत्यास-Smrit Cha.—Vol. V. 32 विभतनूरुहशाली मृगविशेषः। गोधा विलेशया ईपन्नकुलसदशी। इतरे प्रसिद्धाः। अनुष्ट्रांश्चेकतोदतः पश्नां मध्ये उष्ट्रव्यति रिक्तान् । एकतोदतः महिपमेपप्रभृतीन् भक्ष्यानाहुरिति सम्बन्धः । उष्ट्रग्रहणं गवादीनामपि प्रदर्शनार्थम् । अतएव देवलः—

अभक्ष्याः पशुजातीनां गोखरोष्ट्राश्वकुञ्जराः । सिंहो व्याघश्च शरभसपीजगरकास्तथा ॥ आखुमूपकमाजीरनकुलग्राम्यसूकराः । श्वसगालदृकद्वीपिगोलाङ्गलकमर्कटाः ॥

इति । व्याघ इति पूर्वमुक्तत्वात् द्वीपिशब्दो व्याघ्यविशेषपरः।
गोलाङ्गलो वानरविशेषः। मर्केटग्रहणं पञ्चनखानामुपलक्षणम्।
अतएव न भक्षयेदित्यनुद्वत्तौ मनुनोक्तं 'सर्वान् पञ्चनखांस्तथा' इति । सर्वान् भक्ष्यत्वेन पूर्वोक्तश्वाविच्छल्यकगोधाखङ्मकूर्वशशब्यतिरिक्तानित्यनुसन्धेयम्। शङ्घोषि भक्ष्यमांसमाह-

माहिषं त्वाजमीरभ्रं मार्ग रौरवमेव च । भक्ष्यमांसं समुद्दिष्टं यच्च वै पार्षतं भवेत् ॥ वराहांश्च तथा भक्ष्यानाहारण्यनिवासिनः॥

उरभ्रो मेपः, तस्य मांसमौरभ्रं, मृगो हरिणः तस्य मांसं मार्गे, रुकः कृष्णसारिवशेषः 'रुक्षेहान् कृष्णसारः' इति वैजयन्यां, तस्य मांसं रौरवं, पृषतः अतिस्थूलविन्दुप्रमाणक-शुक्कवर्णतन्हहरूतमण्डलश्रोतिशित्रोतो हरिणविशेषः, तस्य मांसं पार्षतं, तथाऽरण्यिनवासिनो वराहान् भक्ष्यानाहेत्यन्वयः । एवम्रक्तभक्ष्यमांसप्रतिपादकवचनैर्भक्षणीयेषु भक्षणमात्रेण प्रत्यः वायो नास्तीति गम्यते, न तु भक्षणाय प्राणिवधे कृतेऽपीति । प्राणिवधमकृत्वा मांसार्जनसम्भवात्, 'न हिंस्यात्सर्वो भूताः नि' इति हिंसाप्रतिपेधाच ।

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।
स जीवंश्च मृतश्चेव न कचित्सुखपेधते।
स वसेत्रस्के घोरे दिनानि पशुरोमभिः।
सम्मितानि दुराचारो यो हन्सविधिना पशुन्॥

इति मनुयाज्ञवल्क्यस्मरणाच । यत्तु मनुनोक्तम्— अनुमन्ता विशिक्षता निहन्ता क्रयविक्रयी । संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चैत्र घातकाः ॥

इति, तत्र क्रयविक्रियखादकादेर्घातकत्वाभिधानं हन्तृणां क थिक्चत्मेरकभूतस्य न त्दासीनस्येति मन्तव्यम्, उदासीनस्य कथिक्चदिप हननकर्तृत्वाभावात् । अतएव देवलः—

पञ्च पञ्चनला भक्ष्याः धर्मतः परिकीर्तिताः ।
गोधा कूर्मदशशक्ष्याविच्छल्यकश्चेति ते स्प्टताः ॥

हिंसामन्तरेण विक्रयाद्यैरुपादाय पञ्चनखाः भक्ष्याः परिकीतिता इत्यर्थः । यद्यप्यत्र पञ्चग्रहणमवधारणार्थः, तथाऽपि
'श्वविधं शल्यकं गोधां खडुकूर्मशशांस्तथा' इति मानवे खडुनमांसस्य भक्ष्यत्वाभिधानमिवरुदं, भिन्नविषयत्वात् । नित्य-

> अथ श्रादे तृप्तचातिशयहेतुभूतद्रव्यविषयाणि कानिचिद्रचनानि लिख्यन्ते.

तत्र मनुः—

हविर्यचिररात्राय यचानन्त्याय कल्पते । पितृभ्यो विधिवद्दत्तं तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥

यद्धिः पितृभ्यो विधिवद्दत्तं चिररात्राय करुपते चिर-कालानुस्यूतिपतृतृप्तये, यज्ञानन्त्याय अत्यन्ताचिरकालानुस्यूत-पितृतृप्तये करुपते, तथाभूतहविरिदानीं प्रवक्ष्यामीसर्थः, तत्र तावत्प्रतिक्षातं क्रमेण यज्ञिररात्राय करुपते तदाह स एव—

तिलेबीहियवैर्मा पैरद्भिर्मूलफलेन वा ।

दत्तेन मासं प्रीयन्ते विधिवतिपतरो नृणाम् ॥
तिलादिचतुष्ट्यग्रहणं ग्राम्यौपधीनां सप्तानामुपलक्षणार्थम् ।
तत्र ग्राम्याभिरोपधीभिः मासं पीयन्ते । तासां पुष्कलानामभावे किञ्चिद्नसहितैरवादिभिर्मासं प्रीयन्त इसर्थः ।
तथाच कात्यायनः— 'ग्राम्याभिरोपधीभिर्मासं तृप्तिः, तदः

लाभे मूलफलेरद्भिर्वा सहान्नेनोत्तरास्तर्पयन्ति' इति। उत्तरा मूलफलापः, तास्सहैव किञ्चिदन्नेन मासं तर्पयन्ति, न केव-ला इत्यर्थः। मार्कण्डेयोपि—

> गोधूमैरिक्षभिर्मुद्गैस्सतीनैश्चणकैरपि । श्राद्धेषु दत्तेः भीयन्ते मासमेकं पितामहाः ॥

सतीनाः कलायाः 'कलायस्तु सतीनकः' इत्यमरः । चणकः वर्तुलाकारश्रणकः चणकशब्देनैव प्रसिद्धः हिरमन्थकाख्यः, 'चणको हिरमन्थकः' इति तेनैवाभिधानात् । गोधूमादिः विकारैग्न्यैः श्राद्धेषु दत्तैरेकं मासं प्रीयन्त इत्यर्थः । अतएव 'हिरतमुद्गकृष्णमाषश्यामाकिषयङ्गगोधूमेश्चविकारांश्च द्यात्' इति प्रचेतसोक्तम् । द्यात् मासपर्यन्तं पितृतृप्तये इति शेपः। एवं च न साक्षाद्रोधूमादयो देयाः, किंतु तद्विकारा मण्टकाद्यः । विष्णुरपि 'शाकश्यामाकनीवारिप्यङ्गमुद्दैर्मासं प्रीयन्ते' इति, मार्कण्डयस्तु मासपर्यन्तप्रीतिजनकानि शाकानि प्रपञ्चयति

विदार्या चावरूढेश्च विसैक्जृङ्गाटकैस्तथा।
केचुकेश्च तथा कन्दैः कर्कन्ध्यवद्रैरिप ॥
पालेवतैरारुकेश्चाप्यक्षोटैः पनसैस्तथा।
काकोलैः क्षीरकाकोलैस्तथा पिण्डालुकैक्शुभैः॥
लाजाभिश्च सधानाभिः त्रपुषोर्वारुभिर्भिदैः।
सर्पपाराजशाकाभ्यामिङ्गुदै राजजम्बुभिः।

पियाळामळकेर्मुंख्यैः फल्गुभिश्च हालावुकैः । वेत्राङ्कुरैस्तालकन्दैश्चिकिकाक्षीरिकावचैः ॥ मोचैस्समोचैर्लकुचैस्तथा वै वीजपूरकैः । मुझातकैः पद्मफल्लेर्भक्ष्यभोज्येस्सुसंस्कृतैः ॥ रागपाडवचोष्येश्च त्रिजातकसमन्वितैः । दत्तैस्तु मासं पीयन्ते श्राद्धेषु पितरो नृणाम् ॥

इति । विदारी कुष्णवर्णा, भूकूइमाण्डफलंम् । विसं पद्मक-न्दोपरिस्थिततन्तुपुअयुक्तं भक्ष्यावयवः। शृङ्गाटकं जलजं त्रि कण्टकम् । केचुकः खर्जूराख्यं शाकम् । कन्दः सूरणः । 'अ-र्शोब्रस्सूरणः कन्दः ' इसमरः। वदरं वदरीफलम् । बदर्यः वान्तरविशेषः कर्कन्धूः, तत्फलं कर्कन्धूशब्देनोक्तम् । अ-क्षोटो गिरिसम्भवः पीलुः। पनसः प्रसिद्धः। काकोलक्षी-रकाकोली गौडदेशे पसिद्धौ । उर्वारुः स्वादुकर्कटी । भिदः तिक्तकर्कटी। सर्पपः प्रसिद्धः। सर्पपेतिस्त्रीालेङ्गतया निर्देश इछान्दसः । राजशाकं राज<mark>व</mark>ैक्षाख्यं शाकं कृष्णसर्पप इति यावत् । इङ्गदस्तापसतरुः । राजजम्बूः जम्बूविशेषः । प्रियाळो राजादनारूयो रक्षः, 'राजादनं पियाळ्स्यात्' इत्यमरः । मु-ख्यान्यामलकानि स्थूलामलकानि । फल्गूनि <mark>श्वद्रामलकानि</mark> । वेत्राङ्करः प्रसिद्धः । तालकन्दः भूम्यन्तर्निहिततालप्रभवमार-ग्वधफलाकारं पाण्ड्यदेशादौ भक्ष्यत्वेन प्रसिद्धं मूलम् । च्-क्रिका आम्छिका तिंत्रिणी चिश्वा इति यावत् । श्लीरिका

फलाध्यक्षं 'राजादनपलाध्यक्षे क्षीरिकायाम्' इत्यमरः। मो-चा कदळी। 'कदळी वारणबुसा रम्भा मोचांशुमत्फला ' इति तेनैवाभिधानात् । लकुचो लिकुचः । 'लकुचो लिकुचो डहुः' इत्यमरः । स च जम्बीरफलतुल्यखर्वफलवान् गुल्मविशेषः । वी-जपूरो मातुलुङ्गः 'फलपूरो वीजपूरो रुचको मातुलुङ्गकः' इत्यमरः । पद्मफलं पद्मवीजकोशः, कींणकेति यावत् । राग-षाडवाः पानकविशेषाः । त्रिजातकं लवङ्गैलापत्राणां समा हारः । शेषाण्यसन्तप्रसिद्धानि । मत्स्यपुराणेऽपि-अतं तु सद्धिक्षीरं गोघृतं शर्करान्वितम्।

मासं पीणाति वै सर्वान् पितृनित्याह केशवः ॥

इति । द्विमासादिसंवत्सरतृप्तिहेतुभूतान्याह मनुः--द्रौ मासौ मत्स्वमांसेन त्रीन् मासान् हारिणेन तु। औरभ्रेणाथ चतुरः शाकुनेनेह पश्च वै ॥ छागमांसेन षण्मासान् पार्षतेनेह सप्त वै। अष्टावैणेयमांसेन रौरवेण नवेव तु॥ दशमासांस्तु तृष्यन्ति वराहमहिपामिषैः। शशकूर्भयोस्तु मांसेन मासानेकादशैव तु॥ संवत्सरं तु गव्येन पयसा पायसेन च।

इति । हरिणः कुरङ्गः, तस्य मांसं हारिणम् । उरभ्रो मेषः, तस्य मांसं औरभ्रम् । शकुनिः पक्षी, तस्य मांसं शाकुनम् । पूपतिश्चित्रमाः तस्य मांसं पापतम् । एणी मृगी तस्या मांसं ऐणेयम् । रुरुर्महान् कृष्णसारः तस्य मांसं रौरवम् । पयोग्र-हणं पयोविकाराणामुपळक्षणम् । अत एव विष्णुः—'संवत्स-रं तु पयसा तद्विकारेर्वा' इति । यद्यपि पायसेनत्यत्र पयो-विशेषः न श्रुतः, तथा अपि गव्यपयस्सिन्निधानात्तत्पयः सिद्धमिति गम्यते । यत्तु प्रीणातीयनुवृत्तौ पैठीनिसनोक्तं 'पायसेनं तु पण्मासान् ' इति तदगोपयस्सिद्धपायसविषयम् । द्वादशसं-वत्सरपर्यन्ततृतिकरद्रव्यमाह मनुः—

वार्त्राणसस्य मांसेन तृप्तिर्द्धादशवार्षिकी ।
इति । पितृणां भवतीति शेषः । वार्त्राणसोत्र पारिभाषिको
वेदितव्यः । न तु खङ्गमृगः, तस्यातिदीर्घकालतृप्तिकरद्रव्येषु
मनुनैव वक्ष्यमाणत्वात् । कः पुनरसौ पारिभाषिको वार्त्राणस इत्यपेक्षिते विष्णुधर्मोत्तरम्—

त्रिपिवं त्विन्द्रियक्षीणं यूथस्याग्रचरं तथा । रक्तवर्णं तु राजेन्द्र छागं वार्घाणसं विदुः ॥

इति । त्रिभिः मुखेन कर्णाभ्यां च पिवतीति व्युत्पत्त्या त्रिपिवः, अयन्तलम्बक्णः । यद्यपि न कर्णाभ्यां पिवति । तथाऽपि तटाकादिगतोदकपानसमये कर्णावपि लम्बितौ मुखवज्जलसं-स्पांशनौ भवत इत्यौपचारिकस्विपिवशब्दो युक्तः । इन्द्रियक्षीणः संभोगाक्षमः । रक्तवर्णग्रहणं श्वेतवर्णस्यापि प्रदर्शनार्थम् ।

त्रिपिवं त्विन्द्रियक्षीणं श्वेतं वृद्धमजापतिम् । वार्घाणसं तु तं पाहुः याज्ञिकाः पितृकर्मणि ॥ इति निगमेनाभिधानात् । पक्षिविशेषो वार्घाणसः । तथाच तत्रैवोक्तम् —

कृष्णग्रीवो रक्तशिराः श्वेतपक्षो विहङ्गमः।
स वै वार्ध्राणसः मोक्त इत्येषा वैदिकी श्रुतिः॥
इति । यद्रव्यमानन्याय कल्पते तद्षि मनुना दर्शितम्—
कालशाकं महाशलकखङ्गलोहामिषं मधु ।
आनन्त्यायैव कल्पन्ते मुन्यन्नानि च सर्वशः॥

कालशाकं कीदशमिति न विद्यः। महाशलकः पृष्ठभागेऽतिस्थूलशक्तिसदशबह्णस्थिशकलान्वितो मत्स्यः। खड्गः खड्गाल्यमृगः।
लोहः लोहितवर्णश्लागः। अतिदीर्घकालतृप्तिकरद्रव्येषु
'लोहश्लागस्तथैव च' इति यमेन स्पष्टमुक्तत्वात्। आमिषमिति महाशल्कादिपु प्रत्येकं सम्बध्यते। ततश्चायं वाक्यार्थः—
कालशाकं महाशल्कामिषं खड्गामिषं लोहितच्लागामिषं मधु
नीवाराद्यण्यधान्यप्रभवं सप्तविधमन्नं चात्यन्तचिरकालानुस्यूतपितृतृप्तये कल्पत इति। एवमुक्तातिदीर्घकालपर्यन्ततृप्तितारतम्याभिधायकस्मृतीनां तत्त्ततारतम्यानुसारेण श्राद्धकर्तुः फलेऽ
पि तारतम्यं भवतीसेतत्पर्यन्तं तात्पर्यमवगन्तव्यम्। अत्रण्व
हारीतेनैकमुदाहृत्योक्तम्—

मधुना परमितास्तर्वान् कामान् दिशन्ति वै। इति। नच वाच्यं 'आनन्यायैव करुपन्ते' इति मन्वादि-भिरभियानान्निया तृप्तिः कालशाकादिना भवति, न कदाचि-Smritt Cha.—Vol. V तस्या विनाश इति । कार्यभूतायास्तृप्तेनित्यत्वायोगात् ।
तेन नित्यवद्तिदीधिकालतृप्तिर्वचोभङ्गचा ज्ञाप्यत इति मन्त
व्यम् । अतएव पितृगीतायां गाधायामुक्तम्—
कालशाकं महाशलकं मांसं वाश्रीणसस्य च ।
विपाणवर्जा ये खङ्गा आसूर्यं तांस्तु भुञ्जमहे ॥
इति । सूर्यो यावित काले तिष्ठिति तावन्तं कालं कालशाकादिपदार्थं भुञ्जमहे इसर्थः।

इति स्मृतिचिन्द्रिकायां श्राद्धकाण्डे पितृतृप्तच-विशयहेतुभूतद्रव्यविषयाणिः

एवं मसक्तानुमसक्तं परिसमाप्याधना मकृतस्य पूर्वाह्मकृत्यस्य शेषमुच्यते.

तत्र मार्कण्डेयः---

अह्रष्पर्सु मुहूर्तेषु गतेषु त्वथ तान् द्विजान् ।
प्रत्येकं त्रेपयेत्पेष्यान् प्रदायामलकोदकम् ॥
द्वादशघटिकाभ्य ऊर्ध्व निमन्त्रितब्राह्मणानां स्नानार्थं परिचारकाणां इस्तेष्वामलककरुकं प्रदाय निमन्त्रितब्राह्मणेभ्मः
प्रत्येकं दीयतामिति तान् द्विजान् प्रति ब्राह्मणान् प्रेषयेदित्यर्थः । एतदामलककरुकदानं प्रतिपिद्धतैलासु तिथिषु द्रष्टच्यम् । तास्वप्यमावास्याच्यतिरिक्तासु देयं 'धात्रीफल्लेरमावास्वायां न स्नायात्' इत्यामलकोदकस्नानस्याप्यमावास्यायां

निषेधात् । अनिषिद्धतैलायां तु द्वितीयादितिथौ स्नानार्थे तैलादि देयमित्याह कासायनः—

तैलमुद्धतेनं स्नानं दन्तथावनमेव च ।
कृत्तरोपनखेभ्यस्तु दद्यात्तेभ्योऽपरेऽहिन ॥
उत्तरेषुः पूर्वाक्के कृत्तरोपनखेभ्यो निमन्त्रितभ्यस्तैलादिकं स्नानसाधनं दन्तधावनसाधनं च काष्ठादिकं दद्यादित्यर्थः । यतु
प्रचेतसोक्तम्—

तैल्रमुद्धर्तनं स्नानं दद्यात्पूर्वाह्न एव तु । श्राद्धभुग्भ्यो नखक्ष्मश्रुच्छेदनं न तु कारयेत् ॥ तत्र नखादिच्छेदननिपेधो निपिद्धक्षुरकर्मतिथिविषयः । तैल्ला-दिदाने विशेषमाह देवलः—

> तैलमुद्रर्तनं स्नानं स्नानीयं च पृथग्विधम् । पात्रैरौदुम्बरैर्दद्याद्वैश्वदैविकपूर्वकम् ॥

उदुम्वरं ताम्रम् । दृद्धशातातपस्तु कृत्यान्तरमाह—' समूलान् दर्भानाहरेत्' इति । पितृकर्मार्थमिति शेपः । अतएव यमः—

समूलस्तु भवेदभः पितृणां श्राद्धकर्मणि ।

इति । दभः कुशः । स एव श्राद्धकर्मणि मुख्यः । तदभावे

काशादिकमाहरणीयम्, 'कुशाभावे कुशस्थाने काशान् दृवीं

वा दद्यात्' इति विष्णुस्मरणात् । काशाद्यभावे तु गोभि
छेनोक्तं-'वर्हिरुपमूललूनं पितृभ्यस्तदलाभे श्कृतृणशरवल्वजवर्जे

सर्वतृणानि' इति । यद्यपि वर्हिश्शब्दस्तृणमात्रे वर्तते । तथाऽपि

तृणविशेपविहितकुशकाशद्वास्वेव पर्यवस्यति, तेन तदलाभ इसस्य कुशकाशद्वालाभ इत्यथेडिवगन्तव्यः । उपमूललूनं मूल-समीपे लूनम् । श्कृत्वणं श्क्षधान्यतृणम् । शरः पुण्ड्रः, सुगन्धितृणामिति यावत् । वल्वजाः मुझसद्दशानि तृणानि । वहिरुपमूललूनामित्यस्य 'समूलस्तु भवेदर्भः' इति यमोक्तेन सह विकल्पो वेदितव्यः । वहिराहरणवद्यवाद्याहरणमपि कर्त-व्यं, अतएव पुराणेडभिहितम्—

> उपमूलं कृत्तमूलान् कुशांस्तत्रोपकलपयेत् । यवांस्तिलान् व्रुसीः कांस्यमपदशुद्धेरस्माहृताः ॥ पाणराजतताम्राणि पात्राणि स्युः समिन्मधु । पुष्पधूपसुगन्धादि श्लौमसूत्रं च मेक्षणम् ॥

इति । तत्र श्राद्धदेश इयर्थः । ब्रुसीः निमन्त्रितब्राह्मणानाष्ठपवेशनार्थान्यासनानि । 'व्रतिनामासनं व्रुसी' इत्यमरः । निमनित्रता अपि ब्रह्मचर्यादिव्रतग्रहणाद्भतिन इति तद्धांसने प्रि
मुख्य एवायं शब्दः । कांस्यं कांस्यमयं भाजनम् । पाणं
पर्णमयम् । क्षौमसूत्रं दुकूलसूत्रम् । मेक्षणं काष्ट्रमयी द्वीं ।
कांस्यपाणराजततास्रभाजनेषु यथासामर्थ्यमुपकल्पनम् । प्रतिव्राह्मणं ब्रुस्युपकल्पनं भाजनोपकल्पनं च । सुगन्धादीसत्रादिग्रहणादक्षतदीपाच्छादनादिकं गृह्यते । तिलास्सति सम्भवे
वन्या एवोपकल्पनीयाः—

जितलास्तु तिलाः मोक्ताः कृष्णवर्णा वने भवाः।

इति सस्रवतेनाभिधानात् । एवंरूपास्तिलाङ्शादे ग्राह्यतया मोक्ता इसर्थः। जर्तिला अकृष्टभूमो जातास्तिलाः।

जितिलाश्चेव ते ज्ञेया अकृष्टोत्पादितास्तु ये। इति तेनैवाभिधानात्। जितिलानामसम्भवे तु तिद्वतरितला उ-पकल्पनीयाः। प्रशस्तानामलाभे गुणिलोपन्यायेन जातिमात्र-शालिनामुपादेयत्वात्। यन्वापस्तम्बेनोक्तम्—

अटन्यां ये समुत्पन्ना अकृष्टफलितास्तथा।

ते वै श्राद्धे पवित्रास्त्युक्तिलास्ते न तिलाक्तिलाः ॥
इति, न तिला इति 'अपश्चो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः, असत्रं
वा एतयदछन्दोमम्' इसादिवदर्थवादमात्रिमिति मन्तव्यम् ।
अपरार्केण तु न तिलाक्तिला इत्येतदन्यथा व्याख्यातं— 'ग्राम्याक्तिला न तिलाः तिलकार्यकरा न भवन्तीत्यर्थः' इति ।
तदसत् तेषामपि श्रार्द्धे जर्तिलासम्भवे तिलकार्यकरत्वात्।
अतएव ब्रह्माण्डपुराणे—

यतिस्त्रिदण्डी करकं राजतं पात्रमेव च ।
दौहित्रः कुतपः कालक्छागः कृष्णाजिनं तथा ॥
गौराः कृष्णास्तथा ऽऽरण्यास्तथैव त्रिविधास्तिलाः ।
पितृणां तृप्तये सृष्टा दशैते ब्रह्मणा स्वयम् ॥
इति । त्रिदण्डीति यतेर्विश्लेषणम् । राजतिमाति पात्रस्य । कुतप इति कालस्य । गौरास्तिलाः कृष्णास्तिलाः आरण्यास्तिला
इति गुणानुरक्तरूपेण त्रयः पदार्थाः । एवश्च दशसङ्ख्या घटते

दौहित्रपदं दृद्धशातातपेन व्याख्यातम्—
दुहित्रं खडूतृत्रः तु ललाटे यत्तदुच्यते ।
तस्य शृङ्गस्य यत्पात्रं दौहित्रमिति कीर्तितम् ॥
कुतपपदं तु स्मृत्यन्तरे व्याख्यातम्—
अह्रो मुहूर्ता विख्याताः दश पञ्च च सर्वदा ।
तत्राष्ट्रमो मुहूर्ता यस्स कालः कुतपस्स्टतः ॥

इति । प्रकृतमुख्यते—ब्रुसीपु विशेषमाह मनुः—'कुतपं चासने दद्यात् ' इति । कुतपशब्दस्यानेकार्थाः स्पृत्यन्तरे दर्शिताः—

मध्याहः खङ्गपात्रं च तथा नेपाळकम्वळम् । रूप्यं दर्भास्तिला गावो दौहित्रश्चाष्टमस्समृतः ॥ पापं कुत्सितमिखाहुः तस्य सन्तापकारिणः । अष्टावेते यतस्तस्मात्कृतपा इति विश्रुताः ॥

इति । कुतप्राब्दार्थेष्वष्टसु नेपाळदेशप्रभवमेषादिलोमिनिर्मित-कम्बळलक्षणः कुतपो मनुनोक्तः । तस्यैवासनाख्ये कार्ये यो ग्यतमत्वात् । तदसम्भवे कम्बळमात्रमिप पीठाद्यपेक्षया प्रश स्तम् । आसनोपकल्पनं भोजनार्थोपवेशनस्थानेषु कार्यम् । उपक्लप्तासनेषु दर्भास्तरणं च कार्यम् ।

आसनेषु सदर्भेषु विविक्तेषूपवेशयेत्। इति पूर्वोपक्लप्तेष्वासनेषूपवेशनविधानात् । शुद्धेराहर्तभिस्स माहृता इत्यपां विशेषणं निषिद्धानामपामुपकल्पननिषेधज्ञा पनार्थम् । तेन— दुर्गिन्धि फेनिलं वर्ज्य तथा वै पल्वलोदकम् । न लभेद्यत्र गौस्तृप्तिं नक्तं यचैव गृह्यते ॥ यच सर्वाय नोत्सृष्टं यचाभोज्यिनपानजम् । तद्वर्ज्यं सलिलं तात सदैव पितृकर्मणि ॥

इसादिवचनिनिपद्धं सिलिलं नोपकरूपयेत् । यच सर्वाय नोत्सष्टं सर्वप्राण्यपजीवनार्थं कूपादिकर्तृभिर्यन्नोत्सष्टं तदिष वर्ज्यम्।
निपानं कूपसमीपे कृतः पश्वादीनामुदकपानार्थो जलाशयः कांस्यपाणराजतताम्रपात्राण्यर्घ्योदकधारणार्थानि सर्वाण्यपक।
रूप्यानि । भोजनार्थानि च महान्ति । पाणभाजनं पलाशपर्णरूपतिरिक्तपर्णकृतं भोजनार्थं नोपकरूपनीयम्—

न मृत्मयानि कुर्वीत भोजने दैविष्टिययोः ।
पलाशेभ्यो विना न स्युः पार्णपात्राणि भोजने ॥
इस्रत्र प्रतिषेधात् । भोजने इति विशेषितत्वात् अर्घ्यपात्रे तु नायं
प्रतिषेधः । अतएव वैजवापेनोक्तम्—

खादिरौदुम्वराण्यर्ध्यपात्राणि श्राद्धकर्मणि । अप्यञ्ममृन्मयानि स्युरपि पर्णपुटास्तथा ॥

इति । पुष्पेपूपकल्पनीयानि ब्रह्माण्डपुराणे दर्शितानि— शुक्कास्सुमनसद्भेष्ठाः तथा पद्मोत्पल्लानि च । गन्धरूपोपपन्नानि यानि चान्यानि कृतस्त्रद्याः ॥

सुमनसः पुष्पाणि । मार्कण्डेयपुराणेऽपि — जात्यश्च सर्वा दातव्या माह्यकाः श्वेतयूधिकाः ।

जलोद्धवानि सर्वाणि कुसुमानि च चम्पकम् ॥ जात्यो मालत्यः । 'सुमना मालती जातिः' इत्यमरः । श्वेतयूधिका हेमपुष्पिकाव्यतिरिक्तगणिका । 'गणिका यूधिकाऽम्बष्ठा सा पीता हेमपुष्पिका' इति तेनैवाभिधानात् । वर्ज्यान्यपि कुसुमानि ब्रह्माण्डपुराणे दर्शिताति—

जपादिकुसुमं भण्डी रूपिका सकुरण्टका । पुष्पाणि वर्जनीयानि श्राद्धकर्मणि निसदाः ॥

जपा रुद्रपुष्पं । 'रुद्रपुष्पं जपा' इत्यमरः । आदिग्रहणेन जपाकुमुमवद्रक्तानां करवीरादिकुसुमानां वर्जनीयत्वमुक्तम् । भण्डी मिलिष्ठा । 'मिलिष्ठा विकसा जिङ्गी समङ्गा कालमेपिका । मण्डूकपणी भण्डीरी भण्डी योजनवल्लचिपि' इत्यमरः । रूपिका मिसदा । कुरण्टकः पीतपुष्पोऽम्लानः । 'अम्लानस्तु महासहा । तत्र शोणे कुरवकस्तत्र पीते कुरण्टकः ' इत्यमरः । भण्ड्यादीनां पुष्पाणि वर्ज्यानि । शङ्कोपि वर्ज्यान्याह—

उग्रगन्धीन्यगन्धीनि चैत्यवृक्षोद्भवानि च । पुष्पाणि वर्जनीयानि रक्तवर्णानि यानि च ॥ चैत्यवृक्षः इमशानवृक्षः । रक्तपुष्पेषु प्रतिप्रसवः तेनैव दार्शतः—

जले द्वानि देयानि रक्तान्यपि विशेषतः।
इति । विष्णुनाऽपि सह प्रतिप्रसवेन वर्ष्यान्युक्तानि—'न कण्टिकिजं दद्यात्कण्टिकिजमपि शुक्कसुसन्धि यत् तद्द्यात्' इति।
यक्त्विङ्गरसोक्तम्—'न जातिकुसुमानि न कदळीपत्रम्' इति,

अत्र कदळीपत्रं भोजनपात्रतया प्राप्तं निषिध्यते । जाति कुसुमानिषेधो न नित्यः। नित्यनिषेधे 'जात्यश्च सर्वो दातव्याः ' इति मार्कण्डेयवचनस्यानिर्विषयत्वापत्तेः। यदिष क्रतुनोक्तम्

असुराणां कुले जाता जातिः पूर्वपरिग्रहे । तस्या दर्शनमात्रेण निराशाः पितरो गताः ॥

इति । पूर्वपरिग्रहे पूर्वजन्मिन देहपरिग्रहात्रसरे । यद्यपि 'त्रीणि ह वै यज्ञस्योदराणि गायत्री वृहत्यनुष्टुप्, अत्र होवावपन्ति,
अत एवोद्वपन्ति ' इत्यत्र वर्तमानापदेशतयाऽर्थवादसरूपे वाक्येऽर्थवादत्वनिर्वाहार्थं गायत्र्यादिष्वावापोद्वापविधिकल्पनवदत्रापि निन्दार्थवादरूपे वाक्ये निषेधविधिः कल्प्यते । तथाऽपि
पाक्षिक एवायमपि प्रतिषेध इति न मार्कण्डेयवचनं निर्विषयम्,
किन्त्वनिषिद्धपुष्पान्तरालाभविषयम् । प्रतिषेधवचनद्वयं तु तलाभविषयमिति मन्तव्यम् । मत्स्योपि वर्ज्यानाह—

पद्मविस्वार्कदुत्तूरपारिभद्राटरूपकाः। न देयाः पितृकार्येषु पयश्चैवाविकं तथा॥

दुत्त्रः कनकाह्यः। पारिभद्रो मन्दारः रक्तपुष्पस्तवकयुक्तः। अटरूपः सिंहाऽस्यः ' हृपोऽटरूपिंसहास्यो वासको वाजिदन्तकः ' इसमरसिंहेनाभिधानात्। स्मृत्यर्थसारे तु तुलस्यपि वर्ज्येत्युक्तं, तत्र मूलं चिन्सम्, प्रसिद्धस्मृतिसमुचयेषु तुलसीनिषेधस्या- दर्शनात्। धूपद्रव्येषूपकल्पनीयानि विष्णुधर्मोत्तरे दर्शितानि-

दृपेषु गुग्गुलो देयस्तथा चन्दनसारजः। SMRITI CHA.—Vol. V. अगरुस्त्वथ कर्षूरः तुरुष्कः त्वक् तथैव च॥ तुरुष्कः सल्लकीनृक्षत्वगादिना सम्पादितं धूपद्रव्यम् । त्वक् स्ठवङ्गाख्यं धूपद्रव्यम् । मरीचिरपि धूपद्रव्याण्याह—

चन्दनागरुणी चोभे तमालोशिरपद्मकम् ।

इति । उशीरं वीरणाख्यगन्धतृणमूलम् । 'स्याद्वीरणं वीरतरं
मूलेऽस्योशीरमिस्त्रयाम्' इत्यमरः । तमालपद्मके स्वशब्देनैव
प्रासिद्धे । विष्णुना तु वर्ज्यधूपद्रव्यमुक्तम्—'जीवजं च सर्वं न
धूपार्थम्' इति । जीवजं मृगविशेषादिरूपप्राणिजं कस्तूर्यादिकं
धूपार्थं न ग्राह्यमित्यर्थः । अनुलेपनार्थेषु सुगन्धिद्रव्येषूपकलपः
नीयानि मरीचिनोक्तानि—

कर्पूरकुङ्कमोपेतं सुगन्धि हरिचन्दनम् । दैविकेऽप्यथवा पित्र्ये गन्धदाने प्रशस्यते ॥ विष्णुनाऽपि-'चन्दनकुङ्कुमकर्पूरागरुपद्मकान्यनुलेपनार्थानि' इति। दीपार्थस्नेहद्रव्येपूपकल्पनीयान्याह मरीचिः—

घृताद्वा तिल्रेतैलाद्वा नान्यद्रव्यात्तु दीपकम्। इति । अन्यद्रव्यमत्र वसामेदोरूपं विवक्षितं, न पुनरेरण्डकुसुः म्भातसीवीजादिसम्भवं स्नेहद्रव्यं, यत आह शङ्कः—

 मेदश्शब्देन लक्ष्यते । मेदश्शब्दोऽकारान्तोप्यस्ति, मेदिनीया-दिषु दर्शनात् । आच्छादनेषु फलविशेषार्थमुपकल्पनीयानि स्मृत्यन्तरे दर्शितानि—

आच्छादनं तु यो दद्यादहतं श्राद्धकर्माण ।
आयुः पाकाम्यमैश्वर्य रूपं च लभते शुभम् ॥
कौशेयक्षौमकार्पासं दुकूलमहतं तथा ।
श्राद्धेष्वेतानि यो दद्यात्कामानामोति पुष्कलान् ॥
इति । कौशेयं किमिकोशोत्थतन्तुजम् । क्षौमं अतसीत्वक्समभवतन्तुनिर्मितम् । दुकूलमितसूक्ष्मं वस्त्रं प्रसिद्धम् । अहतं
काश्यपेन निरूपितम्—

अहतं यत्त्विर्मिक्तमुक्तं वासः स्वयंभुवा ।

इति । एतत्तु न श्राद्धे देयम्, यतोऽनन्तरमाह स एव—

शस्तं तन्माङ्गळिक्येषु तावत्कालं न सर्वदा ।

इति । माङ्गळिक्यं विवाहादिकम् । श्राद्धे देयं त्वहतं प्रचेतसोक्तम्—

ईपद्धौतं नवं श्वेतं सदशं यन्न धारितम् । अहतं तिहिजानीयात्सर्वकर्मस्र पावनम् ॥ इति । ईपद्धौतं स्वेनैवेति शेषः । अतएव वृद्धमनुः— स्वयंधौतेन कर्तव्याः क्रिया धम्यी विपश्चिता । न तु नेजकधौतेन....॥ इति ॥ नेजको रजकः । स्वयंग्रहणादेव नेजकिनवृत्तौ सिद्धायामिप पुनर्नेजकप्रतिपेधोन्येनापि ब्राह्मणादिना धौतेन क्रिया कार्येति ज्ञापनार्थः । क्षौमसूत्रोपकरुपनं वस्त्रालाभे यज्ञोपवीतस्थाने दा-नार्थीमंति मन्तन्यम् । मेक्षणं तु होमसाधनत्वादुपकरुपनीयत-योक्तम्, तेन यज्ञियद्वक्षसम्भवं ग्राह्मम् । एवं दभीदिमेक्ष-णान्तं सर्वमुपकरुप्य कर्माङ्गस्तानं च तन्त्रेण कृत्वा शुक्रं वस्त्रं च परिदध्यात्—

स्नातोऽधिकारी भवति दैवे पिश्ये च कर्मणि। श्राद्धकुच्छुक्कवासास्त्यात्। इति स्मरणात्।

इति स्मृतिचिन्द्रिकायां श्राद्धदिनपूर्वोह्नकृत्यशेपः

अथ श्राद्धितापराह्यकृत्यम्

तत्र मार्कण्डेयः--

स्नातस्त्नातान् समाहूतान् स्वागतेनार्चयेत्पृथक् ।

इति । कातान् द्विजान् पेष्येस्समाहृतान् अपराह्ने स्वगृहः
मागतान् स्वागतेनार्चयेत्पृथक् उत्थाय कृताञ्जलिः पृथक् पृथक्
स्वागतिमिति बूयादित्यर्थः । तथाच श्रञ्चः— 'प्रयतोऽपराह्ने
शुचिव्शुक्रवासा दर्भहस्तः स्वागतिमिति बूयात्' इति । प्रयतः
शुचिरिति पदद्वयं वाह्याभ्यन्तर्रूपद्विविधशुद्धियुक्तो यथा
स्यादित्येवमर्थम् । अपराह्मशब्दोत्र द्वेधा विभक्तस्याह्म आवर्त-

नादुपरितनभागे प्रयुक्तः, एवम्भूत एवापराहः श्राद्धविषये ग्राह्य इत्यपराह्णीनर्णये प्रागेव समर्थितत्वात् । अत्रापि सा-याह्रव्यतिारिकापराह्णो ग्राह्यः ।

> ऊर्ध्व ग्रहूर्तात्कुतपात् यन्ग्रहूर्तचतुष्टयम् । मुहूर्तपञ्चकं ह्येतत्स्वधाभवनमिष्यते ॥

इति स्मृत्यन्तरानुरोधात् । सुस्वागतिमति बाह्मणैः प्रतिवचनं कर्तव्यं, प्रश्नस्योत्तरापेक्षितत्वात् । यमोपि—

ततस्त्रात्वा निवृत्तेम्यः प्रत्युत्थाय कृताञ्जलिः । पाद्यमाचमनीयं च सम्प्रयच्छेद्यथाक्रमम् ॥

पत्युत्थाय कृताञ्जिलः स्वागतिमत्युक्ता मार्गभवोपहितशुद्धचर्थं पादमक्षाळनार्थमुदकमाचमनार्थमुदकं च क्रमेण प्रयच्छेदित्यर्थः। तत ऊर्ध्वं यद्यत्पित्र्यमनुष्ठीयते तत्तददक्षिणं प्राचीनावीतिना चा-श्राद्धसमाप्तरनुष्ठेयम्। तथाच मनुः—

> प्राचीनावीतिना सर्वमपसव्यमतन्द्रिणा । पित्र्यमा निधनात्कार्यं विधिवद्दर्भपाणिना ॥

अपसन्यं अपदक्षिणं आ निधनादा श्राद्धसमाप्तेः। पित्रयग्र-हणादिपित्रये वैश्वदैविके कर्मणि यज्ञोपवीतिना प्रदक्षिणं च सर्वे कार्यमिति द्योतितम्। स्वागतप्रत्युत्थानादौ तु यज्ञोपवीतिना कार्यमित्यादि सामान्यधर्म एव, तेषां श्रेष्ठोपचारत्वेन श्राद्धाङ्ग-त्वाभावात्। ब्रह्माण्डपुराणेऽपि दैविके पैतृके च विशेष उक्तः— उदङ् मुखस्तु देवानां पितॄणां दक्षिणामुखः । पदचात्पार्वणश्राद्धे देवपूर्वं विधानतः॥

इति । कासायनोपि विशेषमाह —

दक्षिणं पातयेज्ञानुं देवान् परिचरन् सदा । पातयेदितरं जानुं पितृन् परिचरन् सदा ॥

बोधायनोपि--

पदिक्षणं तु देवानां पितॄणामप्रदक्षिणम् । देवानाम्हजवो दर्भाः पितॄणां द्विगुणास्तथा ॥

द्विगुणाः मध्यभङ्गेन द्विगुणीकृत्येसर्थः । तथाच शौनकः— 'दर्भान् द्विगुणभुग्नानासनं प्रदापयेत्' इति । आसनग्रहणं दर्भसाध्यीपतृकर्भापलक्षणार्थम् । दैवे पिष्ये च साधारण-धर्माः ब्रह्माण्डपुराणे दर्शिताः—

> नात्रोक्षितं स्पृशेत्किञ्चिदैवे पित्र्ये तथा पुनः । उच्चावचादश्राद्धधर्मास्साधारण्यात् प्रकीर्तिताः ॥

उच्चावचा अनेकप्रकाराः शाद्धदेशसंस्कारगोमयानुरुपनपरिश्र-यणाद्यः । समागतब्राह्मणेष्वाचमनार्थवारिसमर्पणानन्तरं यत्क-र्तव्यं तदाह शङ्कः---

संमार्जितोपालिप्ते तु द्वारि कुर्वीत मण्डलम् । इति । द्वारि द्वारसमीपे गृहस्याङ्गणप्रदेश इति यावत् । तथा च मत्स्यपुराणे —भवनस्याग्रतो भुवि ।
गोमयेनोपलिप्तायां गोमूत्रेण तु मण्डलम् ॥
इति । कर्तव्यमिति शेषः । गोमूत्रेण गोमयसहितेन । केवलेन वक्ष्यमाणोदक्ष्यवणादिसिद्धचसम्भवात् । गोमयसहितेन
कथं कर्तव्यमिस्रपेक्षिते शङ्कः—

उद्वप्नममुदीच्यं स्थात् दक्षिणं दक्षिणप्रवम् । इति । उदीच्यं मण्डलमुद्वप्नप्रवं उदक्पवणम् । दक्षिणं मण्डलं दक्षि-णप्नवं दक्षिणाप्रवणं यथा भवति तथोक्तक्रमेण कर्तव्यमिसर्थः। मण्डलकरणानन्तरं कर्तव्यमाह स एव—

उत्तरेऽक्षतसंयुक्तान् पूर्वाग्रान् विन्यसेत्कुशान् । दक्षिणे दक्षिणाग्रांस्तु सातिल्ञान् विन्यसेहिजः ॥ इति । अत्राप्युक्तक्रमेण कर्तव्यम् । अक्षतग्रहणं तु पुष्पाणामपि प्रदर्शनार्थम् । अतएव मत्स्यपुराणे—

अक्षताभिस्सपुष्पाभिस्तदभ्यच्यापसव्यवत् ।
विप्राणां क्षाळयेत्पादावभिवन्द्य पुतःपुनः ॥
अपसव्यवत् प्रदक्षिणं, उदीच्यमंडले प्रथमं पुष्पाक्षताभिरचैनं पश्चादक्षिणमण्डल इति यावत् । मण्डलकरणं कुशादिन्यसनं पादप्रक्षाळ्नं च पदार्थानुसमयेन कार्यं, न तु काण्डानुसमयेन । पदार्थानुसमये हि सर्वपदार्थानां प्रधानप्रत्यासित्तरवैपम्येण भवति, न काण्डानुसमये । तेन पदार्थानुसमयेनानुष्ठानमुत्सर्गसिद्धं भवति । वचनवलात् कचित्काण्डा-

नुसमयेनानुष्ठानमुपरिष्ठाद्रक्ष्यते । पादमक्षाळने विशेषो ब्रह्मसि-द्धान्तनिरुक्ते दर्शितः—

पाद्यं चैव तथैवाद्यं दैव आदौ प्रयोजयेत्।
रांनो देवीति मन्त्रेण पाद्यं चैव प्रदापयेत्॥
पाद्यार्घयोर्दैवपूर्वकत्वाभिधानं निमन्त्रणादीनां सर्वानुष्ठेयानां
प्रदर्शनार्थम्। शं नो देवीति मन्त्रान्ते पुरूरवार्द्रवसंक्षिका विश्वेदेवा इदं वः पाद्यामित्युक्ता वैश्वदैविकत्राह्मणपादयोः पाद्योदकं
प्रक्षिप्य तत्पादप्रक्षाळनं कुर्यात् । एवं पित्रर्धब्राह्मणपादमक्षाळनं शं नो देवीति मन्त्रान्ते पितरमुकगोत्र देवदत्तर्शमिन्नदं
ते पाद्यं पितामहामुकगोत्र यज्ञदत्तरामिन्नदं ते पाद्यं प्रपितामहामुकगोत्र विष्णुमित्ररामिन्नदं ते पाद्यमिति तु विशेषः। पाद्यादि
समर्पणे पितृणां गोत्रं नाम च वक्तव्यम्—

नाम गोत्रं पितॄणां तु प्रापकं हव्यकव्ययोः।

इति मत्स्यनाभिधानात्। हव्यकव्यग्रहणं समर्प्याणां पाद्यादीनामपि पदर्शनार्थम्। अतएवाश्वलायनेनार्घ्यसमर्पणे 'पितिरदं
ते अर्घ्यं पितामहेदं ते अर्घ्यं प्रपितामहेदं ते अर्घ्यम् ' इत्युक्तम्। एवं पादप्रक्षाळनं स्वयमेव कुर्यात्—

पादपक्षाळनं कुर्यात्स्वयमेव विनीतवत् । इति यमस्मरणात् । पादपक्षाळनानन्तरं कर्तव्यमाह क्रतुः— दर्भपाणिर्द्विराचम्य छघुवासा जितेन्द्रियः । परिश्रिते थुचौ देशे गोमयेनोपलेपिते ॥ दक्षिणाप्रवणे सम्यगाचान्तान् प्रयतान् श्रचीन् । आसनेषु सदर्भेषु विविक्तेषूपवेशयेत् ॥

इति । विविक्तेषु परस्परमसंस्पृष्टेषु देशेषु । उपवेशने क्रममाह विष्णुः -- 'विप्रान् स्वागतान् स्वाचान्तान् यथाभूयोविद्यं कुशोत्तरेष्वासनेपूपवेशयेत् ' इति । आसनेपु कम्बळपीढादिपु कुशात्तरेषु पूर्वमेवोपरिनिहितकुशेषु यथाभूयोविद्यं विद्या-तारतम्यानुसारेण वैश्वदेवब्राह्मणपङ्कौ च प्रथमद्वितीयानुसारे णोपवेशयेदित्यर्थः। पूर्वोपक्लप्तासनेष्वसत्सु स्मृत्यन्तरेर्शभहितम्-

तत्रासनानि देयानि तिलाश्चेव कुरोस्सह । पृथक्पृथगासनेषु तिल्तैलेन दीपिकाः॥

इति । स्थापनीया इति शेषः । तत्र श्राद्धदेशे दीपिकास्याप-नानन्तरं भोजनपात्रस्थापनस्थानेषु नीवारादिपिष्टैश्चतुरश्राणि मण्डलानि कुर्यात्। तथाच तत्रैव---

मण्डलानि तु कार्याणि नीवारैश्रणकैश्शुभैः। गौरमृत्तिकया वाऽथ प्रणीतेनाथ भस्मना॥ प्रणीतेन मण्डलार्थ शुभचूर्णतया निर्मितेन । पापाणचूर्णेन तु न मण्डलानि कार्याणि—

पाषाणचूर्णसङ्कीर्णमाहृतं तत्र वर्जयेत्। इति तत्रैवाभिधानात्। आहृतमापादितमिसर्थः। मण्डलकर-णानन्तरं विप्रानासनेषु पूर्वीक्तप्रकारेणोपवेशयेत् । एतद्पि तत्रै-वानन्तरमुक्तम्---

पाणिपादमुखार्द्राश्च स्वाचान्तास्सुसमाहिताः । तेष्वासनेषु संस्थाष्याः विष्ठास्तेन क्रमेण तु ॥ येन क्रमेणोपवशने कृते मान्यानितकमः तेन क्रमेणेसर्थः । अतएव पैठीनसिः—

विद्यातपोधिकानां वै प्रथमासनमुच्यते ।

एकपङ्कचुपविष्टानां भोजनादि समं स्टतम् ।
इति । हारीतोपि—

सन्तिष्ठमानेष्वईत्सु योऽनहींऽग्रासनं श्रयेत्। गृह्णाति स मलं पङ्केरायुषा च विहीयते॥

तस्मान्यानितक्रमेणेवासनिवशेषं संश्रयेदित्यभिप्रायः । पू-वीपक्लसेष्वासनेषु विभोपवेशनपक्षे तूपिवष्टेषु दीपिकास्थापनं मण्डलकरणं च पूर्वे।क्तपकारेण कार्यम् । आसनेपूपवेशनश-कारमाह यमः—' असनं संस्पृशन् अपसन्येन पाणिना दक्षिणेन ब्राह्मणमुपसंगृह्य समाध्वमिति चे।पवेशयेत्' इति । आस्वतामित्युक्ता वोपवेशयेत्।

आस्यतामिति तान् ब्रूयादासनं संस्पृशन्निप । इति स्मृत्यन्तरेऽभिधानात् । उपसंग्रहणस्थाने जान्वारम्भणं, पित्रर्थब्राह्मणानामुपवेशने मन्त्रं चाह धर्मः—

जान्वारभ्य ततो देवानुपवेश्य ततः पितृन् ।
समस्ताभिव्योहतिभिरासनेपूपवेशयेत् ॥
जान्वारभ्य दैविकब्राह्मणानवास्यतामित्यासनेपूपवेश्य पेतृकः

ब्राह्मणान् जान्वारम्भणपूर्वकं 'भूभुवस्त्वः' इत्युक्त्वाऽत्रास्य-तामित्युपवेशयेदित्यर्थः। अत्र पुराणम्—

> विप्रौ तु पाक् मुखौ देव्यौ द्वौतु पूर्व निवेशयेत् । उत्तराभिमुखान् विपान् त्रीन् पितुभ्यश्च सर्वदा ॥

इति । दैविकौ विभौ माङ्कुलौ सर्वदा निवेशयेत् । पित्र-र्थान् विमान् सर्वदा उदङ्कुलान्निवेशयोदित्यर्थः । द्वौ त्रीनिति स्मृत्यन्तरोक्तत्राह्मणसङ्ख्योपस्रक्षणार्थम् , अतएव याज्ञवस्वयः ।

द्वी दैवे प्राक् त्रयः पित्र्ये उदगकैकमेव वा ।

मातामहानामप्येवं तन्त्रं वा वैश्वदैविकम् ॥

प्राक् पाङ्कुलावुपवेशनीयो। उदक् उदङ्कुला उपवेशनीयाः। माता
महानामप्येविमत्यस्यायमर्थः—मातामहार्थब्राह्मणानामपि यथो
क्तसङ्ख्याविकल्पो वक्ष्यमाणानिर्देशसिद्धो वेदितव्य इत्यनु
सन्धेय इति । तन्त्रं वा वैश्वदैविकमिस्रत्र वाशब्दार्थः प्राति
योगिपक्षान्तरप्रदर्शनमुखेन मरीचिना स्पष्टीकृतः—

तथा मातामहश्राद्धं वैश्वदेवसमन्वितम् । कुर्वीत भक्तिसम्पन्नस्तन्त्रं वा वैश्वदैविकम् ॥

इति । वैश्वदेवसमिन्वतं मातामहश्राद्धं भक्तिसम्पन्नः आष्टतं कुर्वीतेत्यर्थः । अत्र प्राप्ताप्ताप्तविवेकेन वैश्वदेवमाद्यतं कुर्वीते-त्युक्तं भवति । वैश्वदेवेतराङ्गोपेतप्रधानावृक्तेन्य्रायत एव सिद्धत्वात्, वैश्वदेवे तु तन्त्राद्यती पूर्वमसिद्धे इदानीमेव प्र-

तिपादनीये । एतच्च वाक्यमेवं व्याख्येयं, अन्यथा तन्त्रं वा वैश्वदैविकमिति पक्षान्तराभिधानाघटनात् । तथाहि पूर्ववाक्ये आवृत्तियक्षे अनुक्ते पक्षान्तर्तया तन्त्राभिधानमनुपपन्नमेव । तन्त्रं वा वेश्वदेविकामिसस्यायमर्थः — वैश्वदेविककर्मानुष्ठानं पितृ-मातामहश्राद्धद्वयार्थे तन्त्रेण वा कर्तव्यं सकुद्वा कर्तव्यामाति । अयं तु तन्त्रानुष्टानपक्षः साङ्गयोः पितृमातामहश्राद्धयोः एक-प्रयोगविधिप्रयोज्यत्वे भवितुमहीति, न भिन्नप्रयोगविधिप्रयोज्य-त्वे, 'भिन्नप्रयोगविधिमयोज्येष पदार्थेषु न तन्त्रता' इति तन्त्रचिन्ताध्याये प्रतिपादितत्वात् । ततश्च तन्त्रपक्षोक्तचैव पितृमातामहश्राद्धयोरेकशयोगविधिशयोज्यत्वमध्यक्तम् । एकप्रः योगविधिपयोज्यत्वं चैकाधिकारापूर्वसाधकत्वे भवति, एका-धिकारापूर्वसाधकत्वमप्यस्मादेव वाक्यादनयोज्ञीयते । एतेन चै-काधिकारापूर्वसाधकत्वमनयोः पालिकमिति वाशब्दात् ज्ञायते । तेन भिन्नाधिकारापूर्वसाधकत्वमप्यस्तीति वाशब्दादेवावगन्त-व्यम् । ततश्च प्रथमं पैतृकश्राद्धं संकल्पनभाति ब्राह्मणविसर्ज-नान्तं कृत्वा पश्चान्मातामहश्राद्धं संकल्पप्रभृति ब्राह्मणविसर्ज-नान्तं कार्यमियस्मादेववाक्यात् ज्ञायते । न च वाच्यं भक्ति-संम्पन्न इति वचनात् भक्तचभावे मातामइश्राद्धं न कर्तव्यिमाति।

पितरो यत्र पूज्यन्ते तत्र मातामहा ध्रुवम् । अविशेषेण कर्तव्यं विशेषात्ररकं त्रजेत् ॥ इति स्मरणात् । अतएव श्राद्धद्वयेऽपि यथा सामर्थ्यमवैषम्येण विषसंख्यादिकं पुराणे दर्शितम्—

पञ्चभिः पञ्चभिविषेः द्वाभ्यां द्वाभ्यामथापि वा । श्राद्धद्वयं त्रिभिर्वा स्वादेकैकेनाय वा पुनः ॥ साङ्गप्रधानस्य पृथकपृथगनुष्ठानपक्षे यदा पित्र्ये श्राद्धे द्वौ विभौ दैवे, पित्र्ये त्रीन् विपानुपवेशयेत् तदा मातामहश्राद्धे तथैवोपवेशयेत्। यदा तु पित्र्ये श्राह्ये एकं विषं दैवे पित्र्ये चैकं विप्रमुपवेशयेत्, तदा मातामहश्राद्धे तथैवोपवेशयेत्। यदा तु श्राद्धद्रयस्य सहानुष्ठानपक्षः तदा वैश्वदैविकत्राह्मण-द्वयालाभे एकमेव ब्राह्मणं श्राब्द्वयवैश्वदेवार्थमुपवेश्य तदर्थ-परिशिष्टमन्नं विश्वान् देवानुद्दिश्य सक्तदेव साज्यं, यदा तु श्राद्धद्वरार्थमेकस्यैव बाह्मणस्य लाभः तदावर्गद्वयार्थमुपवेश्य श्राद्धदयाङ्गभूतवैश्वदैविकार्थमत्तं पात्रे समुद्धत्य वैश्वदैविकब्रा-ह्मणस्थाने निधाय पूर्ववस्याज्यम्। न तु पिश्यश्राद्धे माता-महश्राद्धे ब्राह्मणसंख्यादिना वैपम्यं सर्वथा कार्थमिति वच-नस्य तात्पर्यार्थः प्रत्येतन्यः। एवं श्राद्धद्ये उपवेशनायोक्त-सङ्ख्यानुसारेणेव निमन्त्रणकाले ब्राह्मणनिमन्त्रणं कार्यम्, तथाच दृद्धवसिष्ठोपि —

श्राद्धद्रयं करिष्यंस्तु दश वा चतुरोपि वा । त्रीन्वा निमन्त्रयेद्विशान् द्वावेकं ब्रह्मवादिनम् ॥ इति । उपवेशनायोद्यक्तान् ब्राह्मणान् प्रत्याह यमः— दक्षिणासंस्था आसीरन्नस्पृशन्तः परस्परम् । इति । दक्षिणासंस्था इसस्य न दक्षिणासंस्थापरत्वं, किन्तु पाक् संस्थापरत्वमवसेयम् । पाक् संस्थत्वेऽभिधित्सितेऽपि द क्षिणासंस्थेत्युक्तिः पित्रर्थवाह्मणविषयतां द्योतियतुं कृता। अत एव स्मृत्यन्तरम्—

पश्चार्धात्समुपक्रम्य प्राच्यां निष्ठा यथा भवेत्।
दक्षिणासंस्थता ह्येपा पितृणां श्राद्धकर्मणि ॥
इति । निष्ठा समाप्तिः । वैश्वदंविकत्राह्मणांस्तु प्रत्याह वोधायनः—'प्रदक्षिणं तु दैवानाम्' इति । दैवानां बाह्मणानां
प्रदक्षिणं दक्षिणादिक्पक्रममुद्गपर्गं च यथा भवति तथा
आसीरिवित्यर्थः । उभयार्थव्राह्मणान् प्रति समृत्यन्तरेऽभिहितम्—

पितत्रपाणयस्सर्वे ते च मौनत्रतान्विताः ।

उच्छिष्टोच्छिष्टसंस्पर्शे वर्जयन्तः परस्परम् ॥

इति । ते विपास्सर्वे देवार्थाः पित्रश्रीश्च पितत्रपाणयो मौन नत्रतान्विताः प्रमादसम्भवं परस्परमुच्छिष्टोच्छिष्टसंस्पर्शे व-जर्यन्तः आ भोजनसमाप्तेर्वेतेरित्तित्यर्थः ! चग्रब्दाच्छाद्धकर्ताऽपि

पवादमाह यमः—

त्रसोद्याश्च कथाः कुर्युः पितृणामेतदीप्सितम् ।
इति । पैठीनसिरप्युपवेशनायोद्यक्तत्राह्मणान् प्रसाह—
नानियुक्तोग्रासनं गच्छेत्पङ्कचा हरति दुष्कृतम् ।
इति । अत्रास्यतामिति श्राद्धकत्री न नियुक्तो योसावनियुक्तः।

मौनव्रतान्वितो वर्तेतेति गम्यते । मौनव्रतान्वयस्य कचिद-

अग्रासनं प्रथमासनम् । अनुपविष्टदशायामपि परस्परसंस्पर्शो यथा न भवति तथा वार्तितव्यमित्याह गौतमः—

पग्स्पर्शे भवेत्पापमेकपङ्किनियोगतः । हीनदृत्तादिपङ्कौ तु युक्तं तस्माद्विवेचनम् ॥

इति । अत्र यमः---

भिक्षुको ब्रह्मचारी वा भोजनार्थमुपस्थितः । उपिवष्टेष्वनुप्राप्तः कामं तमीप भोजयेत् ॥

इति । भिक्षुकोयतिः । तथाच छागलेयः— पूजयेच्छ्राद्धकालेऽपि यतिं सब्बद्धचारिणम् । विपानुद्धरते पापात्पितृन् मातृगणानपि ॥

रुद्धशातातपोपि-

आतिथ्यरहिते श्राद्धे भुझते ये वुधा द्विजाः। वृथा तेनान्नपाकेन काकयोनिं वजन्ति ते॥

इति । आतिथ्यरीहते अतिथिळक्षणळिक्षितिविष्ठागमने ऽपि तत्पू-जाराहिते । तस्मादुपविष्ठवाद्मणैस्सह सखवकाशे तत्समीपे भिक्षुको ब्रह्मचारी अतिथिश्च पित्रर्थविष्ठानुप्रवेशेनैव भोज-यितव्यः । तथाच पुराणे निमन्त्रितव्राह्मणभोजनं विधायाभि-हितम्—

शेपान्वित्तानुसारेण भोजयेदन्यवेश्मानि । इति । शेपान् निमन्त्रितव्यतिरिक्तानतिथिपभृतीन् । एतचाति । थिभोजनमतिथिस्रक्षणस्रक्षिते आगते साति द्रष्टव्यं, न पुनः 'काकयोनिं व्रजानित ते' इति दोपश्रवणात् कल्पयित्वाऽप्य-तिथिः कर्तव्यः । यस्त्वतिथिछक्षणहीनो भोजनयाचनादिना श्राद्धविध्रं करोति तस्य दोपमाह हारीतः—

चतुर्णा दुष्कृतं हरित ब्राह्मणो विघ्नकारकः। अन्नस्यात्रपतेः पङ्कोर्भोजनाकाञ्झिणां तथा॥ इति । भोजनाकांक्षिणः कृते श्राद्धे भोजनाकांक्षिणः। श्राद्ध-कर्तुर्वान्धवा इति यावत्।

इति स्मृतिचिन्द्रकायां निमन्त्रितब्राह्मणोपवेशनम्

अथावान्तरसङ्कल्पादिकृत्यम् .

तत्र पुराणम् --

श्राद्धभूमौ गर्या ध्यात्वा ध्यात्वा देवं गदाधरम् । ताभ्यां चैव नमस्कृत्य ततः श्राद्धं प्रवर्तयेत् ॥ श्राद्धावान्तरसङ्कर्षं कुर्यादित्यर्थः । अत्रावान्तरसङ्करपः उप-विष्टबाह्मणानुज्ञालाभार्थे, तथाच तत्रैवोक्तम्—

उभौ हस्तौ समौ कृत्वा जानुभ्यामन्तरे स्थितौ ।
समश्रयश्चोपविष्टान् सर्वान् पृच्छेत् द्विजोत्तमान्॥
नमस्काराञ्जलिकरणादुभौ हस्तौ समौ जान्वोरन्तरे यथा स्थितौ
स्यातां तथा कृत्वा सप्रश्रयः नमस्कारांजलिवन्धनादिविनय
सम्पन्नो निमन्त्रितानुपविष्टान् द्विजोत्तमान् सर्वान् पृच्छेदिन्
त्यन्वयः। कथं पृच्छेत्कथं च तैरुत्तरं देयमित्यपेक्षिते तत्रैवोक्तं—

श्रादं करिष्ये इत्येवं प्रच्छेद्विपान् समाहितः । कुरुष्वेति च तैरुक्तो दद्याइभीसनं तदा ॥ इति । दर्भासनदानात्पूर्वं 'देवताभ्यः पितृभ्यश्व' इति मन्त्रः त्रिरावर्तनीयः । तथाच ब्रह्माण्डपुराणे-

> देवताभ्यः पितभ्यश्च तथा योगिभ्य एव च। नमस्स्वधायै स्वाहायै नित्यमेव भवत्विति ॥ आद्यासने तु श्राद्धस्य त्रिराष्ट्रत्तं जपेत्सदा । पठ्यमानमिदं श्रुत्वा श्राद्धकाल उपस्थिते ॥

पितरः क्षिप्रमायान्ति राक्षसाः श्रद्धवन्ति च ।

चशब्दादसुराः पिशाचाः पद्रवन्तीति सुचितम् । राक्षसादी-नामपनुत्तये कर्तव्यान्तरमाह निगमः—'अपहता इति तिलान् विकिरेत्' इति।

अपहता असुरा रक्षांसि पिशाचा ये क्षयन्ति पृथिवीमन्। अन्यत्रेतो गच्छन्तु यत्त्रैपां गतं मनः ॥ इति मन्त्रलिङ्गादसुरादीन।मपहसर्थमनेन मन्त्रेण तिलविकिरणं कर्तव्यमिति गम्यते । श्राद्धे दैवपूर्वकं सर्वमनुष्टानं राक्षसा चपनुत्तये कर्तव्यमियाह ऋतुः—

सदैवं भोजयेच्छादं तत्पूर्व च प्रवर्तयत् । अन्यथा ह्यवलुम्पन्ति सदैवासुरराक्षसाः॥ सदैवं श्राद्धं वैश्वदैविककर्मो पेतम् । सदैव सर्वदैव । मनुरापि — देवकार्याद्विजातीनां पितृकार्यं विशिष्यते । SMRITI CHA.—VOL. V. 36

दैवं हि पितृकार्यस्य पूर्वमाप्यायनं स्मृतम् ॥ तेपामारक्षभूतं तु दैवं पूर्वं नियोजयेत् । रक्षांसि विष्रकुम्पन्ति श्राद्धमारक्षवर्जितम्॥

इति । देवकार्यात्पितृकार्यं विशिष्यते, देवकार्यस्याङ्गत्वात्पित्वकार्यस्य प्रधानत्वादित्यभिप्रायः । पूर्वमाप्यायनं दैवं कर्म पूर्वानुष्ठेयं पितृकार्यस्थोपवृंहकं उपकारि तदङ्गमिति यावत्। एवञ्च कुरुष्वेत्यनुज्ञानन्तरं 'देवताभ्यः पितृभ्यश्च' इति मन्त्र- मुक्ता 'अपहताः' इति मन्त्रेण श्राद्धभूमौ तिलान् विकरिय प्रधमं वैश्वदैविकत्राह्मणासनार्थं दर्भासनं द्यादित्यनुष्ठानक्रमो वेदितव्यः। दर्भासनदानं च ब्राह्मणहस्ते अप आसिच्य कार्यम्।

पाणिप्रक्षाळनं दत्वा विष्टरार्थान् कुशानापि । आवाहयेदनुशातो विश्वे देवास इत्युचा ॥

इति याज्ञवल्क्यस्मरणात् । विष्टरार्थान् कुशान् आसनार्थान् कुशान् । यद्यपि पाणिप्रक्षाळनार्थमुदकं ब्राह्मणहस्ते दत्वा विष्टरार्थान् कुशानपि तत्रैव दत्वा आवाहयेदिति शब्दब छात्प्रतिभाति । तथापि विष्टरार्थान् कुशानासने दत्वेति विष्टरार्थपदसामर्थ्यादर्थः प्रत्येतव्यः । अत एव प्रचेताः—

दर्भाश्चैवासने दद्यात्र तु पाणौ कदाचन । इति । यत्तु तेनोक्तम्—

> देवानामृजवो दर्भाः प्रदातव्याः पृथक् पृथक् । धर्मोसीत्यथ मन्त्रेण गृह्णीयुस्ते तु तान् कुशान् ॥

इति । तस्यायमर्थः — पूर्वोपकलप्तासनेपूपिवष्टा आसनान्तरानाकांक्षा अपि धमोंसीति मन्त्रमुच्चार्य तान् कुशानप्यासनार्थतया मनसा स्वीकुर्युः, न तु पाणिनेति । अतो न पूर्वापरः
विरोधः । देवस्वामिनाऽप्यविरोधार्थमेवमुक्तं — 'पाणौ दर्भदानप्रतिषेध आसनास्तरणार्थद्रभविषयः, मन्त्रेण ग्रहणविधानसामर्थ्याद्याज्ञवल्क्यवचनाच विष्टरार्था दर्भाः पाणावेव देयाः '
इति, तद्युक्तम् — आसनास्तरणार्थदर्भाणामासने प्रक्षेप्तव्यानां
इस्ते दानाप्रसक्तेस्तत्र प्रतिषेधानवकाशात्,

आसने चासनं द्द्याद्वामे वा दक्षिणेऽपि वा।
इति विष्टरार्थदर्भीणामासने निधानविधायकादिपुराणवचनवि-रुद्धत्वाच । अत्र वाम इति पित्रर्थब्राह्मणासनदानविषयम्। दक्षिणं इति देवार्थब्राह्मणासनदानविषयम् । तथाचानन्तर-मुक्तं तत्रैव—

पितृकर्मणि वामे वै दैवकर्मणि दक्षिणे ।
इति । वामे आसनस्य वामभागे । दक्षिणे दक्षिणभागे ।
दैविककर्मणि यवसहितं दर्भासनं दद्यात्, 'देवानां सयवा दर्भाः' इति काठकेऽभिधानात् । आसनस्य दक्षिणे भागे पुरूर-वार्द्रवसंज्ञकानां विश्वेषां देवानाभिद्मासनिमति दर्भासनं द्यात् ।
तथा च श्लोकसङ्ग्हकारः—

अक्षय्यासनयोष्पष्ठी द्वितीयाऽऽवाहने स्पृता । अन्नदाने चतुर्थी स्यात् शेपास्सम्बुद्धयस्स्मृताः ॥ इति । दर्भासनदानानन्तरं गद्यसङ्ग्रहकारः—'ततः पुनरपो दत्वा देवे क्षणः कियतामिति कर्ता, ओं तथिति विमो ब्रूयात् । प्रामोतु भवानिति कर्ता पुनर्बूयात् । प्रामवानीति विपः पुनर्बूयादिति । एततु निमन्त्रणं ब्राह्मणहस्तमङ्गृष्ठव्य-तिरिक्तं गृहीत्वा कर्तव्यं—

निरङ्गुष्ठं गृहीत्वा तु विश्वान् देवान् समाह्वयेत् । इति पुराणेऽभिधानात् । निरङ्गुष्ठं गृहीत्वा निमन्त्रणे कृते सत्यनन्तरं विश्वान् देवान् समाह्वयेदित्यर्थः । आवाहनप्रका रमाह यमः—

> यवहस्तस्ततो देवान्विज्ञाप्यावाहनं प्रति । आवाहयेदनुज्ञातो विश्वेदेवास इत्युचा ॥ विश्वेदेवाक्गृणुतेमं मन्त्रं जघ्वा ततोऽक्षतान् । ओपधय इति मन्त्रेण विकिरेत्तु प्रदक्षिणम् ॥

इति । श्राद्धकर्ता गृहीतयवः पुरूरवार्द्रवसंज्ञकान् विश्वान् देवानावाहियिष्यामीति विशेषनाम्ना सामान्यनाम्ना च देवा-नामावाहनं वैश्वदेवब्राह्मणेभ्यो विज्ञाप्य तैरावाहयेखनुज्ञातो 'विश्वदेवास आगत' इत्यन्या ऋचा विश्वान् देवान् ब्राह्मणेष्वावाह्य यवान् ब्राह्मणस्य दक्षिणपादे सन्यपादे दक्षिणजानुनि सन्यजानुनि दक्षिणेसे सन्येंसे शिरिस च समारोप्य ब्राह्मणेषु विश्वान् देवानागतान् ध्यात्वा 'विश्वे देवाञ्गृणुत' इति मन्त्रं जिपत्वा प्रदक्षिणं दक्षिणपादादि- मस्तकान्तं 'ओपधयः प्रतिमोदध्वम्' इति मन्त्रेणाक्षतान् विकिरेत् आरोपयेदित्यर्थः । एवमुक्तो यवाक्षतारोपप्रकारः प्रचेतसा पुष्पारोपणमुदाहृत्य दक्षितं—

पादमभृति मूर्धान्तं देवानां पुष्पपूजनम् ।

इति । अनुज्ञापनानुज्ञानप्रकारः कात्यायनेन सामान्यनाम्ना दार्शितः 'विश्वान् देवान् आवाहयिष्यामीति पृच्छत्यावाह-यत्यनुजानाति' इति । विशेषनाम्नाऽनुज्ञापनप्रकारस्तु 'पुरूर-वार्द्रवसंज्ञकान्' इत्येवंरूपः स्वयमूह्यः । विशेषनामानि च वृहस्पतिना दार्शितानि—

> क्रतुर्दक्षो वसुस्सत्यः कालः कामस्तथैव च । धुरिश्च रोचनश्चैव तथा चैव पुरूरवः ॥ आर्द्रवश्च दशैते तु विश्वे देवाः प्रकीर्तिताः ॥

श्राद्धेषु विभज्येति शेषः। तथाच शहः— इष्टिश्राद्धे क्रतुर्दक्षः संकीत्यौँ वैश्वदैविके। नान्दीमुखे सत्यवस् काम्ये तु धुरिलोचनौ॥ पुरूरवाईवौ चैव पार्वणे समुदाहतौ। नैमित्तिके कालकामावेवं सर्वत्र कीर्तयेत्॥

इति । इष्टिश्राद्धं यागादिकर्माङ्गं, श्रौतस्मार्तकर्मणामाधानसो-मयागपुंसवनसीमन्तादीनामादौ तदङ्गत्वेनानुष्ठीयमानं श्राद्धमिति यावत् ।

निषेककाले सोमे च सीमन्तोन्नयने तथां॥

ज्ञेयं पुंसवने श्रादं कर्माङ्गं वृद्धिवत्कृतम् ॥ इति कर्माङ्गश्राद्धल्लणमभिद्धता पारस्करेणेव वृद्धिवत्कृत मिस्रभिधानात् कर्माङ्गश्रादं वृद्धिश्राद्धादन्यदिति दर्शितम् । नान्दीमुखं नान्दीमुखसंज्ञकिपतृदेवताकं वृद्धिश्राद्धिमिति यावत्।

> एवं प्रदक्षिणीकृत हुद्धौ नान्दीमुखान् पितृन्। यजेत....।

इति याज्ञवल्क्येन दृद्धिश्राद्धे नान्दीमुखसंज्ञकापितृणां देवता स्वेन विधानात्। दृद्धिश्राद्धं च दृद्धवसिष्ठेन निरूपितम्—

पुत्रजन्मविवाहादौ वृद्धिश्राद्धसुदाहृतम्।

इति । पुत्रजन्मविवाहादौ कियमाणमाभ्युदियकं श्राद्धं दृद्धि श्राद्धिमिति व्यपिदिश्यत इसर्थः । आदिशब्देन गर्भाधानपुं सवनसीमन्तव्यितिरिक्तानामत्रप्राश्चनचूडाकरणादिसंस्कारकर्मणां सङ्ग्हणं, गर्भाधानपुंसवनसीमन्तेषु कियमाणाभ्युद्यिकश्राद्ध-स्य कमीङ्गश्राद्धकोटिमविष्टत्वात् । काम्यं फलकामनयाऽनुष्टेयं महालयादिश्राद्धम्,

पुत्रानायुस्तथाऽऽरोग्यमैश्वर्यमतुलं तथा।
प्राप्नोति पश्चमे दत्वा श्राद्धं कामांश्व पुष्कलान् ॥
इति पश्चमपक्षे कन्यागते सूर्ये महालयाख्यश्राद्धस्य पुत्रादिकाम्यफलसाधकत्वस्मरणात् । पार्वणश्राद्धं सर्वश्राद्धप्रकृतिभूतममावास्याश्राद्धम् । तथाच ज्ञातातपः —

दर्शश्रादं तु यत्त्रोक्तं पार्वणं तत्पकीर्तितम्।

इति ।

एकोदिष्टं तु यच्छ्राद्धं तत्रैमित्तिकमुच्यते । इतिवचनाक्नैमित्तिकपदेनात्रैकोदिष्टश्राद्धमुक्तमिति यद्यपि प्रति भाति । तथाऽपि तद्वचनोत्तरार्धे,

तद्प्यदैवं कर्तव्यमयुग्मानाशयेद्विजान् ।

इति पूर्वार्धोक्तेकोद्दिष्टश्राद्धे वैश्वदैविकानिष्धेन तत्र कालकामसंज्ञया विश्वेषां देवानां निर्देशः कार्य इति विध्यसंभवात्
योगरूढ्या मतीयमानमेकोद्दिष्टं हित्वा निमित्ते भवं नैमि
त्तिकमिति योगमाश्रित्य नैमित्तिकपदेन नवान्नलाभादिनिमित्ते
सति पितृभ्यो भक्तचा कियमाणं श्राद्धमुक्तमित्यवगन्तव्यम् ।
अथवा—नैमित्तिकपदेनैकोद्दिष्टाभिधायकेन सपिण्डीकरणं ल्लाक्ष्मण्या निर्दिश्यते, सपिण्डीकरणे एकोद्दिष्टस्यापि सद्भावात्।
एवश्च—सपिण्डीकरणे विश्वेषां देवानां आवाहनार्थं कालकामसंज्ञया निर्देशः कार्यः। 'एवं सर्वत्र कीर्तयेत्' एवमु
करित्या सर्वश्राद्धेषु नामग्रहणस्थाने कीर्तयेदित्यर्थः। आ
दिपुराणे विशेषनामानि दर्शितानि—

विश्वेदेवौ ऋतुर्दक्षः सर्वास्विष्टिषु कीर्तितौ । निसं नान्दीमुखश्राद्धे वसुससौ च पैतृके ॥ नवान्नलम्भने देवौ कालकामौ सदैव हि । अपि कन्यागते सुर्ये श्राद्धे च धुरिलोचनौ ॥ पुरूरवार्द्रवौ चैव विश्वेदेवौ च पार्वणे । इति । सर्वास्विष्टिषु सर्वेषु कर्माङ्गश्राद्धेषु नवान्नस्रम्भने पैतृके नवान्नस्रामरूपिनिमत्ते साति, नवान्नभोजनोपकमात् पूर्व पितृभक्तचा नवान्नेन कियमाणश्राद्धवत्। तच्च निमित्ताधिकारेण कियमाणानां विश्वेदेवसमन्वितानां श्राद्धानामुपस्रभणार्थम् । कन्यागते सूर्ये श्राद्धे पुत्रादिफस्रकामनया कियमाणमहास्रयाख्य इत्यर्थः । एतच्च सर्वकाम्यश्राद्धोपस्रभणतयोक्तम् । पार्वणे अमावास्थायां कियमाणे पार्वणश्राद्धे इति । कतुद्धसत्थादीनां च दक्षप्रजापतेर्दुहितरि विश्वाख्यायां स्रोकविश्रुतायामुत्पत्ति स्समभूदित्युत्पत्तिमपि ज्ञात्वा आवाहनं कार्यम् । अत्एवैषामुत्पत्तिः पुराणेऽभिहिता—

दक्षस्य दुहिता साध्वी विश्वा नाम परिश्रुता ।
तस्याः पुत्रा महात्मानो विश्वे देवा इति श्रुताः ॥
एवमुक्तोत्पित्तरावाहनसमये ज्ञातव्येत्याभिष्ठायः । अतएवं ऋतुदक्षादिसंज्ञां दक्षदुहितुरुत्पित्तं च ये न विदुः तेपामनुकल्पमाह
शक्वः—

नाम चैव तथोत्पात्तं न विदुर्ये द्विजातयः। श्लोकमेतं पठेयुस्ते त्राह्मणानां समीपगाः॥ आगच्छन्तु महाभागा विश्वेदेवा महावछाः। ये ह्यत्र विद्तिताइश्राद्धे सावधाना भवन्तु ते॥

इति । आगच्छन्तु महाभागा इति मन्त्रं वैश्वदैविकबाह्मणः समीपस्थाः 'विश्वे देवाक्ष्णृणुतेमम्' इति मन्त्रजपानन्तरं जपे युरिसर्थः । तथाच पुराणम्—

तथा मन्त्रं जपेन्मौनी विश्वेदेवास आगत । विश्वेदेवाश्कृणुतेति द्वितीयं तद्नन्तरम् ॥ तृतीयं तु जपेन्मन्त्रं आगच्छन्त्वित्यतःपरम् ।

इति । विश्वेदेवास इत्यनया ऋचा प्रथमनावाद्य तद्नन्तरं विश्वेदेवाक्शुणुतेति मन्त्रं जपेदिसन्वयः। यद्यपि कर्माङ्गश्रा द्धादिषु न कापि दश विश्वेदेवा देवतात्वेन स्मृतिपुराणा भ्यामभिहिताः, किन्तु द्वौद्यावेकैकस्मिन् श्राद्धे देवतात्वेनोक्ता । तथाप्यावाहनादौ पुरूरवाईवसंज्ञकान् विश्वान् देवानावाहिय-ष्यामीत्येवं वहुवचनान्ततयेव प्रथागः कार्यः 'विश्वान्देवाना-वाहियामीति निरङ्गप्तं गृहीत्वा विश्वान् देवान् समाह-येत्' इत्यादिसमृतिपुराणेपु वहुवचनान्ततयैव प्रयोगदर्शनात्। यथा एकस्मिन् पितरि पितामहे पपितामहे वा आवाह नादिसर्वोपचारेषु पितरः पितामहाः प्रपितामहा इदं व आ-सनमित्यादिवहुवचनान्तोषि प्रयोगः पूजार्थं यथा नानुपपन्नः तथा द्रयोरिप पूजार्थ बहुवचनान्तप्रयोगो युक्त एव । वैश्व-दैविकत्राह्मण।नामनेकत्वेऽपि न प्रतित्राह्मणमावाहनावृत्तिः, सः कृदावाहनेनैवानेकब्राह्मणाधिष्ठानदेवताध्याससम्भवात् । आवा-हनाद्ध्वं तु प्रतिब्राह्मणं देवताध्यासात् ब्राह्मणभेदे सति तदुपाधितो देवताया अपि भेदो भवति, तेनावाहनोत्तर-काले यद्यदेवताराधनं कियते यवारोपणादि सन्निपत्योपका-रकं तत्पुरोडाशमदानादिवत्मतिवाह्मणमावर्तनीयं, सन्निपत्योप- कारकेष्वावृत्तिं विना बाह्मणान्तरे कार्यासिद्धेः । विश्वेदे-वादशृणुतेमम् १ इति मन्त्रजपस्त्वावाहनोत्तरकाले क्रियमाणोपि नावर्तते, सक्वज्जपेनैव जपसाध्यादपृसिद्धेः॥

> इति स्मृतिचन्द्रिकायां अवान्तरसङ्कल्पादि वैश्वदैविकावाहनान्तकृत्यम्

अथ वैश्वदैविकार्चनविधिः.

तत्र याज्ञवल्क्यः---

यवेरन्ववकीर्याथ भाजने सपवित्रके ।

शक्तो देव्या अपः क्षिष्ट्वा यवोसीति यवांस्तथा ॥

इति । अयमर्थः—वैश्वदैविकत्राह्मणयोः पादाद्यङ्गेषु यवान्
समारोप्य 'विश्वदेवाक्गृणुत' इसादिकं जिपत्वा अर्ध्यभा
जने द्वे उत्ताने निधाय तत्रैकैकस्मिन् भाजने द्विदर्भमेकैकं
पवित्रं प्राग्रमुदगग्रं वा निधाय 'शक्तो देवीरिभष्टये' इत्पृचा
प्रतिपात्रं जलं निषिच्य

पूरवेत्पात्रयुग्मं तु स्थाप्य दर्भपितत्रके ॥ इति ॥
प्रचेतसा त्वन्त्यपादत्रयस्चार्थः स्पष्टमुक्तः—
एकैकस्यापि विशस्य अर्ध्य पात्रे विनिक्षिपेत् ।
यवोसीति यवान् क्षित्वा गन्धपुष्पैससुपूर्णितम् ॥
अर्ध्यमर्घ्यार्थं जलां, तदेकैकस्य विशस्य, एकैकस्मिन् पात्रे
मन्त्राष्ट्रस्या विनिक्षिपेत्, तदैव यवान् क्षित्वा गन्धपुष्पैससुपूर्णातं कुर्यादित्यर्थः । अर्ध्यपात्रे विशेषमाह कासायनः—
'सौवर्णराजते।दुम्बरखड्गमणिमयानामन्यतमेषु यानि विद्यन्ते
पत्रपुटादिषु वा, इति । औदुम्बरं ताम्नं, खड्गं खड्गम्गमयं,
माणिमयं मरकतादिरत्नमयं, यानि वा कांस्यादितेजसानि

राजतानि प्रशस्तानि पित्र्ये हैंमानि दैविके। अपि वा ताम्रपात्राणि दैवे पित्र्येऽर्ध्यकर्माणे ॥ उत्तरार्धेऽपि प्रशस्तानीत्यनुपज्यते । राजतानि तु पात्राणि दैवे निन्दितानि, तथाच राजतं पात्रमधिकृत्य मत्स्वेनोक्तम्—

विद्यन्ते तेषु वेति शेषः। वैजवापीपि-

शिवनेत्रोद्भवं यस्मादतस्तित्पतृबद्धभम् ।
अमङ्गळं तद्यत्नेन देवकार्येषु वर्जितम् ॥
शिवनेत्रोद्भवं शिवनेत्रजलप्रभवं, तथाच श्रुतिः—'सोऽरोदीद्यदेरादीत्तद्भद्रस्य रुद्रत्वं यदश्वशीयत तद्रजतं हिरण्यमभवत्'
इति । अमङ्गळं तदिस्रत्राश्रुपभवत्वादिस्रभिप्रायोऽवसेयः । अद्येपात्रान्तर्धायकपावित्रे प्रत्यद्येपात्रं भेदेन कार्ये इति चतु-

विंशतिमते 5 भिहितम्—' हेद्रे शलाके देवानां पात्रे कृत्वा पयः क्षिपेत्' इति । दर्भादिषु साग्रेषु शलाका शब्दो वर्तते । हेहे इति वीप्सया प्रतिपात्रं हेहे शलाके निधातव्ये इति दर्शितम् । पवित्रकरणप्रकारमाह याज्ञवल्कयः—

पित्रते स्थ इति मन्त्रेण हें पित्रते च का येत्। अनन्तर्गर्भे क्शच्छिन्ने काँशे पादेशसम्मिते॥ कुशच्छिन्ने कुशमन्तर्थाय छिन्ने काँशे कुशमये पित्रिते स्थ इति मन्त्रेण 'पित्रते स्थो वष्णत्री। वायुर्वी मनसा पुनातु दिति मन्त्रेण। यज्ञ-पार्श्वीपि—-

ओषधीमन्तरे क्रत्वाङ्गुष्ठाङ्गुळिपवेणोः ।
छिन्द्यात्प्रादेशमात्रं तु पवित्रं विष्णुदेवतम् ॥
न नखेन न काष्ठेन न छोहेन न मृन्मयात् ।
नखेन तु भवेद्वचाधिः काष्ठेनार्थो न सिध्यति ॥
अग्रयसेन भवेन्मृत्युः मृन्मये कछहो ध्रुवम् ।
इति । गन्धपुष्पैः सुपूजितकरणानन्तरं गार्ग्यः—
स्वाहेति चैव देवानां होमकर्मण्युदाहरेत् ।

स्वाहात चव दवाना हामकमण्युदाहरत्।
होमशब्दोत्र त्यागसद्भावसामान्याद्दाने वर्तते। ततश्चायमर्थः—
देवानामर्ध्यदानकर्मणि करिष्यमाणतया प्रस्तुते देवेभ्योऽध्यं
निवेद्यितुं स्वाहेत्युदाहरेत्। 'स्वाहाऽध्यम्' इत्युचार्य विष्य
समीपे अध्यपात्रं स्थापयेदिसर्थः। स्थापनानन्तरं याज्ञवल्वयः—

या दिव्या इति मन्त्रेण हस्तेष्वध्यं विनिक्षिपेत् । इति । 'या दिव्या आपस्सुहवा भवन्तु' इति मन्त्रेण मन्त्रान्ते पुष्क्रवार्द्रवसंज्ञिका विश्वेदेवा इदं वो अध्यीमित्युक्ता वैश्वदैविक-ब्राह्मणस्येकस्य हस्ते दक्षिणे अध्येपवित्रेणान्तार्हते एकपात्रस्थ-सुदकं कृत्स्तं द्यादिसर्थः ।

दत्वा इस्ते पवित्रं तु इस्तेष्वर्ध्य विनिक्षिपेत् ।
इति गार्ग्यस्मरणात् । यद्यप्यत्रोपक्रमोपसंहारगतवचनयोविरोधः
प्रतिभाति । तथाऽप्यनुपजातिवरोधित्वादुपक्रमानुरोधेनैवोपसंहारस्य वर्णनं कार्यमिति न्यायेन बहुवचनमत्र श्लोकिसः
द्वयर्थं प्रयुक्तमिति वर्णायतव्यम् । एवश्च याज्ञवल्क्यवचनेऽपि
'हस्तेष्वर्ध्य विनिक्षिपेत्' इसत्र हस्तेष्विति बहुवचनं श्लो
कसिद्धयर्थं कृतं, हस्तस्याधिकरणत्वप्रतिपादनमात्रे तु ताल्पर्यमिति मन्तव्यम् । ब्राह्मणहस्तेष्वर्ध्यसेचनानन्तरं याज्ञवलक्यः—

दत्वोदकं गन्धमाल्यं धूपदानं सदीपकम् ।
इति । गन्धमाल्यधूपदीपदानानि प्रसेकमुदकमादौ दत्वा कार्याणीत्यर्थः । तथाच गौतमः 'भिक्षादानमप्पूर्व ददातिषु
चैवम्' इति । आपः पूर्व दत्ता यस्माद्भिक्षादानात्तदप्पूर्व, दः
दातिषु भिक्षातो वस्त्वन्तरदानेष्यप्येवमप्पूर्व दानं कार्यम् ।
वैश्वदैविकदानेषु समर्पणाय प्रयोक्तव्या मन्त्रा ब्रह्मपुराणे
दार्शताः—

इदं वः पाद्यमध्यं च पुष्पदानिविलेपनम् ॥

अयं दीपप्रकाशश्च विश्वेदेवास्समर्प्यते ॥ इति । विश्वेदेवा इदं वः पाद्यं विश्वे देवा इदं वो अर्ध्य इति नपुंसकलिङ्गनिर्देशेन पाद्यादिकं, विश्वे देवा एप वो ध्पः विश्वे देवा अयं वो दीपप्रकाशे इति पुछिङ्गिनिर्देशेन धूपादिस्स-विश्वेभ्यो देवेभ्यस्समर्पणीयमित्यर्थः । गन्धदाना-दावेवं प्रयोगः- ब्राह्मणहस्ते उदकं निनीय पुरूरवार्द्रवसं-ज्ञका विश्वेदेवा अयं वो गन्ध इति गन्धं ब्राह्मणहस्ते दद्यात्। पूर्ववद्दकं निनीय पुरूरवार्द्रवसंज्ञकविश्वेदेवा इदं वो माल्यं इति माल्यं दद्यात् । पूर्ववदुदकं निनीय पूर्ववत्तेषां नाम गृ-हीत्वा अयं वो धूप इति धूपार्पणं, पूर्ववदुदकं निनीय देवता नामगृहीत्वा अयं वा दीप इति दीपार्पणम्, पुनरापा दत्वा नःम गृहीत्वा इदं व आच्छादनमिति वस्नतन्मूल्ययज्ञोपवीतेषु यथालाभमेकं दद्यात् । अर्चनं सर्वे सम्पूर्णमस्त्विति कर्ता ब्रू-यात् । अस्तु सम्पूर्णमिति विषो ब्रूयात् । सङ्करपिसिद्धरास्त्व-ति भवन्तो ब्रुवन्त्विति कर्ता ब्रूयात् । अस्तु सङ्करपीसद्धि-रिात विशो ब्रूयात् । आसनादौ सर्वत्र स्वासनं स्वर्ध्य सुग न्धः सुमारुषं सुधूपः सुदीपः स्वाच्छादनं इति विभो बूयात् । एतत्सर्व गद्यसङ्गहकारेणोक्तम्। देवपित्रर्चनार्थं यानि गन्ध-पुष्पधूपदीपाच्छादनान्युपादेयााने वज्यानि च तानि पागुपक ल्प्यद्रव्यकथनावसरे कथितानीतीह नोक्तानि । तेनोपकल्प्यद्रव्य-कथनावसरोक्तानीहोपादेयानि ॥

इति स्मृतिचिनद्रकायां वैश्वदैविकार्चनविधिः.

अथ पैतृकार्चनविधिः.

तत्र देवलः---

द्विजातयो यथाप्रोक्ता नियतास्स्युरुदङ्मुखाः। पूजयेद्यजमानस्तु विधिवदक्षिणामुखः॥

याज्ञवल्क्योपि —

अपसन्य ततः कृत्वा पितॄणामप्रदक्षिणम् ।

इति । वैश्वदेवार्थमुपवीतत्वेन स्थितं यज्ञस्त्रं ततो वेश्वदैविकार्चनानन्तरमपसन्यं प्राचीनावीतं कृत्वा पितॄणामुपचारभूतासनादिपदार्थानपदक्षिणं कुर्यादित्यर्थः । यद्यपि वैश्वदैविकासनदाः
नानन्तरं पैतृकासनदानं वेश्वदैविकावाहनानन्तरं पैतृकावाहः
निमस्तेवं पदार्थानुसमयेनैवासनावाहनार्ध्यगन्धपुष्पधूपदीपाच्छाः
दनाष्ट्याः पदार्थाः वैश्वदैविकाः पैतृकाश्च अनुष्टेयाः, न तु
वैश्वदैविकासनाद्याच्छादनान्तपदार्थकाण्डाद्ध्वं पैतृकासनादिः
पदार्थानां पदार्थानुसमयेनानुष्ठानम्, अन्याय्यत्वात् । तथाऽप्यत्र
वैश्वदैविकपदार्थानां काण्डानुसमयेनानुष्ठानस्य वाचिनिकत्वाः
चौथवानुष्ठानं कार्यः, वाचिनिकत्वं च 'अपसन्यं ततः कृत्वा'
इसादिना वचनेन वैश्वदेविकार्चनपदार्थकाण्डाद्ध्वं पैतृकार्चनविधानात्सद्धम् । कथं पुनः पैतृकार्चनिमत्यपेक्षिते स एवाह—

द्विगुणांस्तु कुशान् दत्वा उश्चन्तस्त्वेत्यृचा पितृन्। आवाह्य तदनुज्ञातो जपेदायन्तु नस्ततः॥ द्विगुणान् तिलान्, 'पितृणां द्विगुणांस्तिलैः' इति स्मर-णात्। कुशान् त्रिपश्चादिविषमसङ्ख्याकान् 'पित्रचे ऽयुग्मांस्तयैव च' इति स्मरणात् । दत्वा आसनस्य वामभागे 'प्रद्धा दासने दर्भान न तु पाणौ कदाचन। पितृकर्माण वामे स्यात्' इति स्मरणात्। आसनदानात् पूर्व पश्चाच त्राह्मण हस्ते अपामासेचनं कार्य 'अपः प्रदाय दर्भान् द्विगुणान् आसनं प्रदायापः प्रद्यात् इति शौनकस्मरणात् । 'पितृ-नावाहयेत्' इत्यत्र पितृशब्देन कर्तुरतिताः पूर्वपुरुषाः पितृ-पितामहप्रितामहा उक्ताः, तेषां श्राद्धकर्मणि हविःप्रत्युद्देश्यः तया देवतात्वेन आवाह्यत्वात् । तथा चायस्तम्वः- 'अथैतन्मनुः श्राद्धशब्दं कर्म प्रोवाच प्रजानिक्श्रेयसाय तत्र पितरो दे-वता ब्राह्मणस्त्वाहवनीयार्थे' इति । श्राद्धशब्दं कर्म श्राद्ध-नामधेयं कर्म । प्रजानिक्त्र्रेयसाय पुत्रपात्रादिसन्ततिश्रेयःप्राप्तच र्थम् । तत्र श्राद्धनामधेये कर्मणि । पितरो देवताः श्राद्धकर्तुः पितृपितामहप्रपितामहा लोकान्तरगताः सम्पदानत्वेन हविः-प्रत्युदेश्या, न तु ब्राह्मणास्संपदानत्वेन हिनःप्रत्युदेश्याः। किन्त्वाहवनीयार्थे देवतोदेशेन त्यक्तस्य हविषः पक्षेष्यमाणस्य धारणरूपे आहवनीयकार्ये केवलं वर्तन्त इत्यर्थः । तत्कार्ये वर्तनं च 'ब्राह्मणस्य इस्ते होतव्यम्' इतिवद्त्र वचना भावात्र हस्तद्वारा, किंतु-

द्रौ दैवे पितृकृत्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा।

भोजयेदिति वचनात् त्यक्ताच्याशनद्वारेति गम्यते । पितृकृत्ये यजगानस्य पितृपितामहमापितामहानुदिश्य त्यक्तान्नभोजनकृत्ये। अत एव ब्रह्मपुराणे—

पितृन् पितामहन् यक्ष्ये भोजनेन यथाक्रमम्।
प्रिपतामहान्वे सर्वाञ्च तित्पतृं इचानुपूर्वशः ॥
तित्पतृन् प्रिपतामहस्य पितृपितामहप्रिपतामहान् । पिण्डदान-समये हस्तल्लग्नेन लेपनेन यक्ष्ये इत्यर्थः । वैजवापिनाऽपि यजमानस्य पितृपितामहप्रिपतामहानां श्राद्धदेवतात्वमभिधाय सुस्पष्टं तेषामेवावाहनमुक्तं—'तिष्ठन् पितृन् आवाहियिष्ये' इत्यामन्त्र्य 'उशन्तस्त्वा, इत्यनया यजमानस्य पितरं पिता-महं प्रिपतामहं नामिसावाह्यं इति । पुराणेऽपि श्राद्धकर्तुः पूर्वपुरुपाणामेव श्राद्धदेवतात्वमभिसंधाय सुस्पष्टं तेपामेव कव्यभागित्वमुक्तं—

या तु पिण्डिकिया तत्र ब्राह्मणानां तु भोजनम् ।

यजमानस्य पूर्वेषां तत्तु गच्छिति नान्यथा ॥

तत्र श्राद्धकर्मणि या पिण्डिकिया आद्यीपण्डिकिया पितृसम्बन्धिनी कृता 'ब्राह्मणानां तु भोजनं, यथासुखं जुपः
ध्वम्' इति यद्यदन्नं ब्राह्मणभोजनाय निवेदितं तिहृविधः
मत्रं यजमानस्य पूर्वेषां श्राद्धकर्तृः पितृपितामहप्रपितामहानाः
मुपभोगाय गच्छिति नान्यथा नान्येषामुपभोगाय गच्छितीत्यर्थः ।

कथं पुनस्सर्वेषां पुरुषाणां प्रातिस्विकशुभाशुभकर्मवशेन स्व
SMRITI CHA.—Vol. V

र्गनरकादिगतानां दूरस्थकव्यभोकृत्वसामर्थ्यरहितानामुपभोगाय नेतृपुरुपश्चन्यमचेतनमन्नादि द्रवं गच्छतीत्यनुपपित्तिनराकरणा र्थमुक्तं तंत्रैव—

यथा गोपु प्रणष्टेषु वत्सो विन्दति मातरम् ।
एवं श्राद्धेऽत्रमुद्दिष्टं मन्त्रः प्रापयते पितृन् ॥
मन्त्रो मन्त्रसाप्तर्थ्यम् । मन्त्रसापर्थ्यमपि ब्राह्मणभोजनादिना
नष्टमत्रं कथं प्रापयतीसनुपपत्तिनिराकरणाय मत्स्येनोक्तं—

नाम गोत्रं पितृणां तु प्रापकं हव्यकव्ययोः। नाममन्त्रास्तथाऽऽदेशाः भवान्तर्गतानपि ॥ प्राणिनः प्रीणयन्त्येते तदाहारत्वमागतान् । देवो यदि पिता जातक्शुभकर्मनियोगतः ॥ तस्यात्रममृतं भूत्वा दिव्यत्वेऽप्यनुगच्छति । देवत्वे भोग्यरूपेण पशुत्वे तु तृणं भवेत् ॥ श्राद्धान्नं वायुरूपेण नागत्वेऽप्युपगच्छति । पानं भवति यक्षत्वे गृधत्वे तु तथाऽऽमिषम् ॥ दनुजत्वे तथा मांसं वेतत्वे रुधिरोदकम् । मानुष्ये त्वन्नपानादि नानाभोगकरं तथा ॥ रतिशक्तिः स्त्रियः कान्ता भोज्यं भोजनशक्तिता। दानशक्तिस्सविभवा रूपमारोग्यमेव च ॥ श्राद्धपुष्पिदं मोक्तं फलं ब्रह्मसमागमः। इति। नामानि देवदत्तयज्ञदत्तादीानि। मन्त्राः 'पृथिवी ते पात्रम् ' इत्याद्यः । आदेशा इदमन्नादिकममुष्मे भवात्वत्येवमाद्यो निर्दे-शाः।तदाहारत्वमागतान् तत्तज्जात्युचिताहारत्वं प्राप्तान् । तस्यान्नं तत्तदुद्देशेन त्यक्तमन्नं अमृतं भूत्वा यत्रासौ स्थितः तत्र मन्त्रसामध्यात्तत्तद्धोगयोग्यं द्रव्यान्तरं भूत्वाऽनुगच्छाते भोग साधनं भवति । दिव्यत्वे दिविस्थितत्वे देवत्वे । भोग्यक्षपेण दिवोऽन्यत्र लोकान्तरे वर्तमाने देवत्वे स्थिते देवोचितभोग्य-रूपेण । इदं स्वकर्मानुसारिशरीरोचितान्नादिक्षपेण भोगसाध-नत्वं, श्राद्धकर्मणः पुष्पं अवान्तरफलम् । ब्रह्मसमागमा ब्रह्मः लोकपाप्तः परमफलं प्रोक्तमिसर्थः । अत्रावान्तरफलप्राप्तिः कालादिविशेषलाभे भवति । तथाच हारीतः—

काले न्यायागतं पात्रे विधिना प्रतिपादितम् । प्राप्नोत्यत्रं यथादत्तं जन्तुर्यत्रावतिष्ठते ॥ इति । परमफलप्राप्तिस्तु गयादिदेशविशेपलाके भवीत ।

यन्नाम्ना पातयेत्पण्डं तं नयेद्वस शाश्वतम् । इति गयादिदेशिवशेपकृतस्य श्राद्धस्य फलत्वेन श्रवणात्।शाश्वतं ब्रह्म नयेत् ब्रह्मणा सह ब्रह्मशाप्तचापादकं ब्रह्मलोकं नये-दित्यर्थः । एवमापस्तम्बादिवचनैः श्राद्धकर्मणि न ब्राह्मण उद्दे-श्यः । किंतु श्राद्धकर्तुः पितृपितामहप्रपितामहा लोकान्तरगता उद्देश्या इति सिद्धम् । तेपूद्देश्यपित्रादिषु वस्वादिद्धपतया उद्देशार्थं यथाक्रमं वस्वादिवुद्धिः कार्येत्याह शातातपः---

वसवः पितरो ज्ञेयाः रुद्रा ज्ञेयाः पितामहाः।

प्रवितामहास्तथाऽऽदित्या इसेपा वैदिकी श्रुतिः॥
एवं ज्ञात्वा श्राद्धे कृते वस्वादीनामपि प्रीतिर्भवतीत्याह
पैठीनसिः— 'वसवः पितरो रुद्राः पितामहा आदिसाः प्रिप्
तामहा य एवं विद्वान पितृन् यजते वसवो रुद्रा आदिसाश्चास्य
प्रीता भवन्ति' इति । पित्रादिष्वेव वस्वादिरूपमनुसन्धायानुष्ठितेन श्राद्धेन पीता वस्तादयः श्राद्धजनितप्रीतिशालित्वेन श्राद्धेवताभूतिपत्रादिकल्पाः पुत्रादिदत्तान्ननिदानकस्थामताद्यन्नपानान्तस्य प्राप्तिं नामगोत्रमन्त्रादिवस्तुसामध्येन कुर्वतां
मनुष्याणां पितृन् श्रुभाश्चभकर्मारब्ध्वशरीरान्तरगतान् प्रीणयनतीत्थर्थः। तेन पुत्रादिभिरवद्यं नामगोत्रमन्त्राद्यचारणवद्वस्वादिरूपेण पित्रादयो ध्यातव्याः। तथाऽऽह याज्ञवल्वयः—

वसुरुद्रादितिसुताः पित्ररुगाद्धदेवताः ।
प्रीणयन्ति मनुष्याणां पितृन् श्राद्धेन तर्पिताः ।)
अदितिसुता आदित्याः । एवञ्चापस्तम्बादिवचनानां शातातपादिवचनानां च न परस्परिवरोथः । तेन श्राद्धकर्तुः पूर्वपुरुषा एव लोकान्तरगताः श्राद्धदेवता इति सिद्धम् । यतु
देवलेनोक्तं—

वसवः पितरो ज्ञेयाः रुद्रा ज्ञेयाः पितामहाः । प्रापतामहास्तथाऽऽदित्याः श्रुतिरेपा सनातनी ॥ प्रेतानुद्दिश्य यत्कर्म क्रियते मानुपैरिह । तुष्यन्ति पितरस्तेन न प्रेताः पितरस्स्मृताः॥ इति । अयमर्थः —-मानुषैः पुत्रादिभिरिह मनुष्यलोके यच्छ्रा-द्धाख्यं कर्म मेतान् परलोकमतान् पित्रादीन् श्राधे उद्धे-रयभूतान् वस्वादिरूपेण ध्यातानुद्दिश्य क्रियते तेन तथाकृतेन कर्मणा तस्मिन् कर्मणि वस्त्रादिरूपेण ध्यात्वोद्दिष्टाः पितरः पित्रादयस्तुष्यित् न पुनस्खरूपेणोद्दिष्टाः यतो न प्रेताः परलो-कगताः स्वरूपमात्रेण श्राद्धदेवताभूताः पितरस्स्मृता इति । अतः अनेनापि सह आपस्तम्वादिवचनानां न विरोधः । एवं निरूपितं श्राद्धकर्तुः पित्रादीनां देवतात्वं मातृपितामहादि-साहितानामेव न तु केवलानामित्याह शातातपः—

> एकमूर्तित्वमायाति सपिण्डीकरणे कृते । पत्नी पतिपितॄणां तु तत्तदंशेषु भागिनी ॥

एतद्रचनं पित्रादिदैवत्ये श्राद्धे तत्पत्नीनां सहमावेन देवतात्वं वोधयति । ततश्च सपत्नीकाः पितरो देवता इत्येषोऽधे उक्तो भवति । एवंच पार्वणादिश्राद्धे पित्रादीनां सपत्नीका-नां च तृप्तिर्भवति न एनः केवलानामिति मन्तन्यम् । अत एव वृहस्पतिः—

स्वेन भर्ता समं श्राद्धे माता भुक्के सुधामयम्।
पितामही च स्वेनैव स्वेनैव प्रापतामही ॥
इति । एवमेव वस्वादिरूपेण मातामहादीनामपि श्राद्धदेवः
तात्वं तत्पत्नीनां च सहभावेन देवतात्वमवगन्तव्यं, 'मातामहानामित्येवम्' इति याज्ञवलक्यादिभिरुक्तत्वात्। एवं निरू

पितश्राद्धदेवताऽ वाहने विशेषः पुराणे दर्शितः—
अपसन्यं ततः कृत्वा तिलानादाय मंयतः ।
पितृनावाहयामीति पृच्छेद्रिपानुदङ्शुखान् ॥
आवाहयेत्यनुज्ञात उशन्तस्त्वेत्यृचा पितृन् ।
ततः क्षिप्वाऽपसन्यं च पितृन् ध्यायन् समाहितः ॥
जपेदायन्तु न इति मन्त्रं सम्यगशेषतः ।

इति । उशन्तस्त्वेत्यृचा पितृतिसादेरयमर्थः — उशन्तस्त्वेत्यृचा पितृपितामहप्रपितामहानावाह्य अनन्तरमप्रदक्षिणं पूर्वोपात्तांक्तिलान् 'नमो वः पितरः' इति मन्त्रेण शिरःप्रभृति पादान्तं
क्षिप्ता पितृन् ध्यायन् 'आयन्तु नः' इति मन्त्रं जपेदिति ।
तथा प्रचेताः —

शिरः प्रभृति पादान्तं नमो व इति पैतृके ।
पैतृके कमिणि 'नमो वः पितरः' इति मन्त्रेण शिरः प्रभृति
पादान्तमप्रदक्षिणं पुष्पतिलादिभिः पूजनं कुर्यादित्यर्थः ।
वैजवापेनाष्यावाहने विशेषो दर्शितः—''तिष्ठन् पितृनावाहपिष्यामीत्यामन्त्रयोशन्तस्त्वेयनया यजमानस्य पितरं पितामहं प्रपितामहं नामभिरावाह्य 'आयन्तु नः पितरः'' इति ज्ञष्वा'
इति । नामभिः द्वितीयादिविभक्तचन्तैः । तथा च श्लोकसकृहकारः—

अक्षय्याऽऽसनयोष्पष्ठी द्वितीयावाहने तथा । अन्नदाने चतुर्थी स्याच्छेपास्सम्बुद्धयस्समृताः ॥ इति । एतासु पष्टचादिविभक्तिषु सर्वत्र एकवचनवहुवचन योर्विकल्प एव स्पृतिपुराणगृह्यादिषु पितृपितामहप्रपितामहा-दिशब्दानां कचिदेकवचनान्ततया कचिद्धहुवचनान्ततया च तत्र तत्र प्रयोगदर्शनात् । एवञ्चासनदानावाहनयोरेवं प्रयोगः---पाचीनावीती उदङ्मुखतया प्रथमोपविष्टविष्रहस्ते जलं नि-नीय कुशासनयुग्मान्मध्यभक्ततो द्विगुणीकतान् सतिलान् गः हीत्वा दक्षिणामुख आसीनोऽस्मत्पितुर्वसुरूपस्यामुकगोत्रस्याः मुकरार्मणस्मपत्रीकरुयेदमासनं इति विश्रह्यासनस्य वामभागे पूर्वगृहीतात् सतिलान् कुशान् निक्षिप्य विप्रहस्ते पुनर्जलं निनयेत् । एवमनन्तरोपविष्टवाह्मणहस्ते तदनन्तरोपविष्टवाह्मण-हस्ते चं जलनिनयनादि पुनर्जलानिनयानान्तं कुर्यात्। पितामहस्य रुद्ररूपस्य प्रितामहस्यादित्यरूपस्येति विशेषः - एवमेव माता-महस्थानस्थविपत्रयहस्तेषु जलद्वानादि कुर्यात् । मातामहस्य वसुरूपस्य मातुःपितामहस्य रुद्ररूपस्य मातुःप्रपितामहस्यादि त्यरूपस्येति विशेषः । एवं पर्मु विशेषु पदार्थानुसमयेना सनं दत्वाऽनन्तरं प्रतिविषं निमन्त्रणं पूर्वप्रकरणोक्तप्रकारेण कुर्यात् । दैवे क्षणः क्रियतामित्यादिवाक्यस्थदैवपदस्थाने श्राद्धे इति सप्तम्यन्तपदं पट्सु वित्रेषु पयोक्तव्यम् । ओं तथेत्यादिकं तु पूर्वप्रकरणोक्तप्रकारेणैव प्रयोक्तव्यम् । पष्टं विमं निमन्त्र्याथ तिलानादाय प्राचीनावीती दक्षिणाभिमु-खिस्तप्रत्रस्मित्पतृपितामहभिषतामहान् वसुरुद्रादित्यरूपान् आ- वाहियर्थे इत्युद्ञ्यखतयाऽऽसीनान् त्राह्मणान् पृष्टा आवाह येसनुज्ञातः 'उशन्तस्त्वा हवामहे हर्युचमुक्ता ऋगन्तेऽसातिप तरं वसुक्रपममुकगोत्रममुकशमीणं सपत्रीकं अस्मत्पितामहं रुद्र रूपममुकगोत्रममुकशर्माणं सपत्नीकं अस्मत्प्रपितामहमादित्यरू-पममुकगोत्रममुकशर्माणं सपत्रीकमावाहयामीति प्रथमे विषे पितरं, द्वितीये पितामहं, तृतीये प्रपितामहं, आवाह्य 'नमो वः पितरः' इति मन्त्रेण शिरसि सन्यांसे दक्षिणांसे सन्यजा-नुनि दक्षिणजानुनि सन्यपादे दक्षिणपादे च प्रतिविष्ठं ति लानारोप्य प्रथमे विषे पितरं वसुरूपं सपत्रीकं, द्वितीये पितामई रुद्ररूपं सपत्नीकं, तृतीये प्रिपतामहमादित्यरूपं सपत्रीकं ध्या-यन् 'आयन्तु नः पितरः' इत्यादिकामृचं सकुज्जपेत् । एवं मातामहाद्यावाहनं कुर्यात् । तत्रायं विशेषः — अस्मन्मातामह-मातुःपितामहमातुःप्रितामहान् वसुरुद्रादित्यरूपानावाहयिष्ये इति मातामहादिस्थानस्थान् विपान् पृच्छेत्। उज्ञन्तस्त्वेति मन्त्रान्ते मातामहं वसुरूपं अमुकगोत्रममुकशर्माणं सपत्नीकं, एवं मातुःपितामहं सपत्रीकं रुद्ररूपममुकगोत्रममुकशर्माणं, एवं मातुः प्रितामहमादियरूपममुकगोत्रममुकशमीणं सपत्रीकं आ-वाहयामीति प्रथमे विषे मातामहं, द्वितीये मातुःपितामहं, तृतीये मातुःप्रपितामहं आवाह्य प्रतिविप्रमेकैकं ध्यायन् ' आयन्तु नः ' इति जपेतु । ' उशन्तस्त्वा, आयन्तु नः ' इति मन्त्रद्वयगतिपतृशब्दस्थाने मातामहशब्दः न प्रयोक्तव्यः ।

'न पिता वर्धते' इति श्रुखा जनकैकनिष्ठपितृशब्दव्यतिरिक्त-पितृशब्दोहन्नतिपेधात् । 'आयन्तु नः पितरः' इति जपान-न्तरं कर्तव्यमुक्तं पुराणे—

> जपेदायन्तु न इति मन्त्रं सम्यगशेपतः । रक्षार्थं पितृसत्रस्य त्रिःकृत्वस्सर्वतोदिशम् । तिलांस्तु प्रक्षिपेन्मन्त्रैरुचार्यापहता इति ॥

'अपहता असुरा रक्षाग्ँसि पिशाचा ये क्षयन्ति पृथिवी-मनु । अन्यत्रेतो गच्छन्तु यत्रैपां गतं मनः' इति मन्त्र-मुचार्य सर्वतोदिशं बाह्मणान् परितस्त्रिवारपपदक्षिणं तिलान् प्रितेषिदस्यर्थः । पितृसत्रं पितृयागः, श्राद्धिमिति यावत् ॥

> इति स्मृतिचन्द्रिकायां पैतृकार्चनविधावा-वाहनान्तोपचाराविधिः.

अथार्घ्याद्युपचारविधिः.

तत्र पुराणं-

सौवर्णराजताम्भोजमिणपात्राण्यथापि वा ।
अध्यर्थि संस्करोत्येव शुभपत्रपुटादि वा ॥
अध्यर्थि अध्येदिकस्थापनार्थं दर्भेष्वासादनप्रोक्षणाभ्यां सौवणीदिषु यथालाभमन्यतमानि पात्राणि संस्कुर्यादेवेत्यर्थः ।
पत्रपुटादीत्यादिशब्देन चमसादिकं गृह्यते । अत एव विष्णुः—

SMRITI CHA.—Vol. V.

'दक्षिणाग्रेषु दर्भेषु चमसेषु दक्षिणापवर्गेषु त्रिषु पिवत्रान्तिहितेषु अप आसिश्चेत् ! शं नो देवीरिभष्टये' इति । दक्षिणाग्रेषु दर्भेषु दक्षिणापवर्गतयाऽऽसादितेषु चमसाद्यध्यपात्रेषु त्रिषु पिवत्रान्तिहितेषु शं नो देवीरिति मन्त्रेण प्रतिपात्रमपो निनये दित्यर्थः । प्रचेता अपि—'यि त्रियहक्षचमभेषु पिवत्रान्तिहितेष्वेषः । प्रचेता अपि—'यि त्रियहक्षचमभेषु पिवत्रान्तिहितेष्वेषः विवेकेकिस्मन् अप आसिश्चेत्' इति । शौनकोपि—''तेजसाश्म मयस्यन्मयेषु पात्रेष्वेकद्रव्येष्वनेकद्रव्येषु वा दर्भान्तिहितेष्वपः पदाय शं नो देवीरिभष्टये इस्रनुमित्त्रितान् तिल्ञानावपति—

तिलोसि पितृदेवसो गोसवो देवनिर्मितः। प्रववद्धिः पृक्तस्स्वधया पितृनिमान् लोकान् पी-णयाहि नः स्वधा नमः"।।

इति । तैजसं कांस्यादिमयम् । अञ्ममयं मरकतादिमणिमयम्। एकद्रव्येषु कांस्यराजतताम्रादीनामन्यतेमषु । अनेकद्रव्येषु कांस्यराजतताम्रादीनामन्यतेमषु । अनेकद्रव्येषु कांस्यादिनानाद्रव्यमयेषु वा । दर्भान्तिंहतेषु पित्रज्ञान्तिहतेषु । शं नो देवीरिति मन्त्रेणापो निनीयानुमन्त्रितासु पूर्वोक्तमन्त्रेण नीतास्वप्सु तिल्लोसीति मन्त्रेण तिल्लान् प्रक्षिपेदिसर्थः । पात्रेष्विति बहुवचनं त्रिष्वेत्रवातिष्ठते, प्रकृतिभूते त्रिदेवताके आद्धे प्रतिदेवतमेककपात्रविधिपरत्वात् । अत एव प्रचेतसा— 'त्रीण्येवोदपात्राणि' इत्युक्तम् । पित्रादीनां त्रयाणामेककस्या नेकब्राह्मणानयोजने सर्वेपामेकब्राह्मणानयोजनेऽपि आद्धस्य त्रिदेवताकत्वात्त्रीण्येवोदपात्राणि न तु त्राह्मणसंख्यया सङ्ख्याः

तानीसर्थः । अत एव तिलैस्तथेत्यिधकृत्य वैजावापेनोक्तं —
नीत्वा पितृणां त्रीण्येव कुर्यात् पात्राणि धर्मवित् ।
एकस्मिन्वा वहुपु वा ब्राह्मणेषु यथाविधि ॥
इति । तिलैर्नीत्वा तिलानध्यीदकेषु प्रक्षिपेदित्यर्थः । अध्यीदकसंस्कारार्थे पविवकरणप्रकारमाह स एव—

कुशौ समावशीर्णाग्रावनन्तर्गर्भकौ कुशैः । छिनत्ति तत्पवित्रं स्याच्छ्राद्धे कर्मणि सर्वदा ॥ इति । कुशाविति युग्मसङ्ख्या वैश्वदैविकार्घ्यपात्रपवित्रविषया ।

पैतृकार्ध्यपात्रपवित्रविषये अनुचितत्वात्। अत एव चतुर्विश-तिमते पैतृकार्ध्यपवित्रे अयुग्मसङ्ख्या दर्शिता—

तिस्रस्तिस्रः इशलाकास्तु पितृपातेषु पार्वणे।

इति । शलाकाः शलाकासन्निभा दर्भाः, अच्छिन्नाग्रा इति यावत् । अर्घ्यपात्रेषु तिलप्रक्षेपानन्तरं ब्रह्मपुराणे कर्तव्यमुक्तं—

अध्याः पुष्पेश्च गन्धेश्च ताः प्रपूज्याश्च शास्त्रवत् ।

इति । अध्या अध्यार्था या आपः तिल्लामिश्रास्ताः गन्धेः

पुष्पेश्च प्रपूज्याः । तासु गन्धपुष्पाणि प्रक्षिपेदित्यर्थः । गन्धादिप्रक्षेपानन्तरं शोनकः—'ताः प्रतिग्राहियष्यंश्च स्वधाः

ध्याः ' इति । ताः अध्यार्था अपः ब्राह्मणेः प्रतिग्राहायिः

ध्याः द्विधाद्यां इति मन्त्रेण ब्राह्मणानां पुरस्स्थापयेदित्यर्थः ।

स्थापनानन्तरं पैठीनासिः—'ततो ब्राह्मणहस्तेपूदकपूर्वे दर्भान्

प्रदायोदकपूर्वमध्योदकं ददाति या दिव्या आपः इत्युचैतत्ते

अध्योदिकमिसप उपस्पृतेदित्येवमेवेतरयोः ' इति । अध्यस्था-पनानन्तरं ब्राह्मणहस्तेषु प्रथममपो निनीयार्ध्यपवित्रदर्भान् दक्षिणाग्रतया क्षिप्ता पुनरपो निनीय 'या दिव्या आपः' इति मन्त्रमुक्ता मन्त्रान्ते अस्मत्पितरमुकगोत्र अमुकशर्मन् वसुरूप सपत्नीकैतत्ते अर्घ्योदकीमति दक्षिणहस्ते पितृतीर्थेनार्घ्य दत्वाऽप उपस्पृशेत्। एवमेवेतरयोः पितामहमपितामहयोरपि ब्राह्मण-इस्ते अर्ध्य दद्यादित्यर्थः । अस्मित्पतामह अमुकगोत्र अमुक-शर्मन् रुद्रकृप सपत्नीक, अस्मत्प्रापितामहादित्यरूपोति तु वि-शेषः । कात्यायनेन 'या दिव्या आपः' इति मन्त्रं कृत्स्त्रं पठित्वाऽध्यसमर्पणमुक्तम्—" सपवित्रेषु हस्तेषु—'या दिव्या आपः पयसा संवभूवुः या अन्तरिक्ष उत पार्थिवीर्याः । हिरण्यवर्णा यज्ञियास्ता न आपक्षंस्योना सहवा भवन्तु' इति । पितस्ते अर्घ्य पितामहैतत्ते अर्घ्य प्रपितामहैतत्ते अर्घ्य-मिति ब्राह्मणाञ्जलिपु पात्राणि निनीय पितृभ्योऽक्षय्यमस्तिति शेपं दर्भेष्ववनेजयति इति" पात्राणि पात्रस्थोदकानीयर्थः। धर्मेण गोत्रग्रहणं च कार्यमित्युक्तम्-"या दिव्या आपः ' इति पात्रं पाणिभ्यामुद्ध्य नाम गोत्रं च गृहीत्वा सपवित्रे हस्तेऽध्ये दद्यात्" इति । पाणिभ्यामुद्धतेन पात्रेण दद्यादिति गम्यते । प्रचेता आप-

> अप्रदक्षिणमेतेपामेकैकं तु पितृक्रमात् । सम्बोध्य गोत्रनामभ्यामेष तेऽर्ध्यमितीरयेत् ॥

एतेषां पितृपितामहप्रपितामहानां चितृक्रमात् पित्रादिक्रमादे कैकं गोत्रनामभ्यां सम्बोध्य एप ते प्रविप्तयुक्ता एकैकं ब्राह्मणमेंकेकनार्घ्यणार्चयोदिसर्थः । तथा चाह गौतमः—

पूर्ववत्यथगेकैकमेकैकेनार्चयेत्क्रमात्।

इति । एतत् 'त्रीन् पित्र्ये' इत्युक्तत्राह्मणसङ्ख्यापक्षाभिप्रायेणोक्तम् । 'त्रीन् त्रीन्' इत्युक्तत्राह्मणसङ्ख्यपक्षे तु त्रीन् व्राह्मणानेकैकेनाव्येणार्चयेत् । अत एव पैठीनसिना इस्तेष्वित्याः युक्तम् । न च वाच्यं 'त्रीन् पित्र्ये' इति पक्ष एव इस्तेष्वित्युपप्यते, त्रिपु पितृवर्गत्राह्मणेषु दक्षिणहस्तत्रयसम्भवादिति । यतस्तेन पितृस्थानस्थबाह्मणार्चन एव इस्तेष्वित्युक्त्वाः एविमतस्योरिसभिधानात् । तस्मात्रीन् त्रीन् पित्र्ये इति पक्षे पितृस्थानस्थबाह्मणदक्षिणहस्तेष्वपामासेचनाद्यव्यिनित्यनान्तं सक्तित्व्यात्ति । तथा पितामहस्थानस्थत्राह्मणहस्तेषु चैवं निन्येत्, एविमतस्योरित्यभिधानात् । एवं मातामहादीनामव्यंपात्रास्मदानादि व्राह्मणहस्तेष्वव्यय्वानान्तं यथोक्तं नामगोत्रसहितं पदार्थानुसमयेन कुर्यात्, 'मातामहानामप्येवम्' इत्यतिदेश-स्मरणात् । पित्रादिव्राह्मणहस्तेष्वव्यदानान्तरं याज्ञवल्क्यः—

दत्वाऽर्ध्य संस्रवांस्तेषां पाते कृत्वा विधानतः ।
पितृभ्यस्स्थानमसीति न्युब्जं पातं करोत्यधः ॥
तेषां प्रतिविषं दत्तानां अध्याणां संस्रवान् विप्रहस्तेभ्यः
अन्येषु पात्रेषु गळितान् पितृपात्रे सम्भृत्य तत्पातं 'पितृभ्यः

स्थानमिस ' इति मन्त्रेण न्युब्जमधोविलं अधःकरोति भूम्यां निद्ध्यात् न पात्रोदेरुपरीसर्थः । तथाच प्रचेताः—

पत्रभा पितृपाते तु सर्वान् सम्भृत्य संस्रवान् ।
पत्रभ्यस्थानमसीत्युक्ता कुर्याद्भमावधोमुत्वम् ॥
अत्र गोभिन्नेनोक्तो विशेषः 'न्युब्जं कुर्यात्पवित्रवत् ' इति । त्रा
ह्मणहस्तेषु निक्षिप्तानि पवित्राण्यादाय पितृपाते निधाय तैस्सह
भूमौ न्युब्जं कुर्यादित्यर्थः । कात्यायनेनात् विशेष उक्तः—
'कुशवत्यां भूमौ अधोमुत्तं कुर्यात्तस्योपि च कुशम् ' इति ।
निद्ध्यादिति शेषः । मत्स्यनापि— 'दत्वा संस्रवमादितः ।
पितृपाते निधायाथ न्युब्जमुत्तरतो न्यसेत् ' इति । आदितः
प्रथममर्थ्य दत्वा पितृपाते संस्रवं निधाय तत्पातं त्राह्मणा
ध्यासितदेशादुत्तरतः किञ्चिद्दरे अधोमुत्तं निद्ध्यादित्यर्थः ।
अत्रिणाऽपि पितृपातं प्रकृत्य विशेष उक्तः— 'गन्धादिभिस्तदभ्यर्च्यं इति । आदिशब्देन पुष्पाणि गृह्यन्ते । 'गन्ध
माल्यैस्तदभ्यर्च्यं ' इति शौनकस्मर्णात्। एवं न्युब्जकरणमनिसं,

अपसव्यं ततः कृत्व। पिण्डपार्श्वे समाहितः ।
क्षिप्ता दर्भपितिवाणि मोचयेत्संस्रवांस्ततः ॥
इत्यित्वचने स्वधावाचनकालपर्यन्तं संस्रवोदकधारणदर्शः
नात् । धारणं च पितृपावस्योत्तानतया स्थपने साति भवति न
तु न्युब्जतया स्थापने । तस्मादुत्तानतया स्थापनपक्षोपि गम्यते ।

¹ क्षिप्ताड्य दर्भपत्राणि. इति पाठान्तरम्.

अस्मिन् पक्षे पितृपावस्य पितामहादिपावेणापिधानं कार्यम् । तथाच कात्यायनः—

पैतृकं प्रथमं पात्रं तिस्मन् पैतामहं न्यसेत्।
प्रिपतामहं ततो न्यस्य नोद्धरेत्र च चालयेत्।
पितृपात्रं पितामहपात्रेऽपिधाय प्रिपतामहपात्रेण पिद्ध्यादिसर्थः।
(प्रिपतामहपात्राभावेऽन्येन केनिचित्पात्रेण पिद्ध्यादिसर्थः।)
अधोमुखतया उत्तानतया वा न्यस्तस्य पात्रस्यान्यथाकर्णे
कात्यायनेन दोपो दर्शितः—

स्पृष्ट्युद्धृतमन्यत्न नीतमुद्धाटितं तथा । पात्नं दृष्ट्वा त्रजन्साशु पितरः त्रस्रवन्ति च ॥ उद्घाटितं पिघायकपितामहादिपात्नापसारणेन विद्यतमित्यर्थः । अत एवोशना—

उत्तानं विद्यतं वाऽपि पितृपातं यदा भवेत् ।
अभोज्यं तद्भवेदन्नं कुद्धैः पितृगणैर्गतैः ॥
इति । न्युब्जं कृतं पितृपात्रं यदोत्तानं भवेत् । उत्तानतया
स्थापितं पात्रान्तरेण पिहितं पितृपात्रं यदा वा विद्यतं भवे ।
दिति पूर्वार्धस्यार्थः । न्युब्जं पात्रं कुत्वाऽऽह वजवापः—
तस्योपिर कुशान् दत्वा प्रदद्याद्देवपूर्वकम् ।
गन्धपुष्पणि धूपं च दीपं वस्त्रोपवीतके ॥
तस्योपिर कुशान् दत्वा तस्य न्युब्जकृतापितृपात्रस्योपिर कुश-

गन्धपुष्पाणि दत्वा वैश्वदैविकत्राह्मणपूर्वकं गन्धादि द्द्याः

दिल्यर्यः । अनेन गन्धदानं वैश्वदैविकब्राह्मणेषु कृत्वा पैतृक-ब्राह्मणेषु कार्यीमत्युच्यते । एवमेव पुष्पदानाद्यपि । ततश्च वैश्वदैविकब्राह्मणाचेनं च पदार्थानुसमयेन सहैव कार्यमिति वचोभक्जचाःभिहितम् । एवञ्च वैश्वदैवे याज्ञवल्क्येन काण्डा-नुरूपसमयकम उक्तः, तेन संह अनेनोक्तपदार्थानुसमयरूप-क्रमस्य विकल्पो वेदितब्यः। न चार्य विकल्पो गन्धदानः प्रभृत्येव न पुनः प्रागपीति वाच्यं, अर्धवैशसापत्तेः, 'देवांश्च पितृंश्चात्राहियण्ये इत्यनुज्ञाप्य' इत्यादिना गन्धादिदानात्प्रा-गेव सहानुष्ठानस्य पैठीनसिना स्मृतत्वाच । विष्णुनाऽपि गन्धादिदानमुक्तं- ' अनुलेपनवस्त्रालङ्करणपुष्पधूर्पयथाशक्ति वि-प्रान् समभ्यच्ये ' इति । अनुलेपनादानि पित्रादिदेवतोद्देशेन विवेभ्यो दद्यादित्यर्थः । अत एव पैठीनसिः— 'गन्धान् पितृगोत्रनाम गृहीत्वाऽपःस्पृशेदेवीमतरयोर्धूपदीपमाल्याच्छादन-मेवम् ' इति । पित्रर्थव्राह्मणहस्तेऽपो निनीय गन्धान् चन्दन-कुङ्कमकपूरादीनादाय अस्मत्यितरोऽमुकगोत्रा अमुकशर्माणो वसुरुद्रादित्यरूपास्सपत्रीका अमी वो गन्धा इति ब्राह्मण इस्त एव गन्धान् दत्वा उदकं स्पृशेत् । एवमेवेतरयोः पितामहमपितामहयोर्गन्धसमपेणम् । रुद्ररूपेति पितामहे, मपि तामहे आदित्यरूपेति त्रिशेषः । पुष्पधूपदीपमाल्याच्छादना-दिदानं चैवं गत्धदानवदेव कार्यमित्यर्थः । तथाच ब्रह्मपुराणं-इदं वः पुष्पमित्युक्त्वा पुष्पाणि च निवेदयेत्।

अयं वो धूप इत्युक्ता धूपं सौम्यं निवदयेत् ॥
इदं वो माल्यामित्युक्ता दद्यान्माल्यं सुक्षोभनम् ।
इति । एवमनया रीसा इदं वो ज्योतिरित्युक्ता दीपं निवेदयेत् । इदं व आच्छादनिमत्युक्ता वस्त्रं निवेदयेदिसादि स्वय
मेवोह्यम् । अत एवोहप्रकारप्रदर्शनार्थं देवछेनोक्तं—

इदं ज्योतिरिति ज्योतिः सुज्योतिरिति तेऽपि च ।

इति । इदं वो ज्योतिरिति ज्योतिरिति तेऽपि च । सुज्योतिरिति
ते विमा ब्रूयुरित्यर्थः । 'सुज्योतिरिति तेऽपि च' इति चशब्दात् स्वासनमस्तु स्वर्ध्यं सुगन्धाः सुपुष्पाणि सुधूषः सुदीपः स्वाच्छादनामित्यासनादिषु यथाछिङ्गं प्रतिवचनानि विभा
ब्रूयुरिति स्वितिमिति मन्तव्यम् । अत एव गृह्यसङ्गृहकारेणैतानि प्रतिवचनान्युक्तानि । कीटशा गन्धा देया इत्यपेक्षिते ब्रह्मपुराणं—

श्वेतचन्दनकर्पूरकुङ्कमानि शुभानि तु । विलेपनार्थं दद्यातु यच्चान्यत्पितृवङ्घभम् ॥ इति । लेपनं च विप्राः स्वयं कुर्युः श्राद्धकर्ता वा । तत्र श्राद्धकर्त्रा विलेपनपक्षे विशेषमाह व्यासः—

विपवित्रकरो गन्धैर्गन्धद्वारोति पूजयेत् । इति । गन्धद्वारोति मन्त्रेण तदन्ते नामगोत्रग्रहणपूर्वकं अ-मी वो गन्धा इत्युक्ता ब्राह्मणहस्ते गन्धान् प्रदाय तैर्मन्धैः पूजयेत् । विपवित्रकरो विश्वछ्छाटे गन्धं विछेपयेदित्यर्थः । Быкіті Снл.—Vol. V. 40 स्वयं विलेपनपक्षेऽपि गन्धद्वारेति भन्त्रोस्ति, गन्धदाने कर णमन्त्रत्वाद्व । विपवित्रकरत्वलक्षणधर्म एव न विद्यते । अत एव श्राद्धकर्त्रा विलेपनपक्ष एव सपावित्रकरेण विलेपने कते दृद्धशातातपेन दोषो दर्शितः—

पितर्त्रं तु करे कृत्वा यस्समालभते द्विजान् ।

राक्षसानां भवेच्छ्राद्धं निराशाः पितरो गताः ॥

समालम्भनं गन्धैर्विलेपनम् । पक्षद्वयसाधारणदोपो देवलेन

दर्शितः—

यज्ञोपवीतं विष्ठाणां स्कन्धान्नवावतारयेत् ।
गन्धादिपूजासिद्धचर्थं दैवे पित्रये च कर्मणि ॥
विष्ठाणां यज्ञोपवीतं गन्धाद्यनुलेपनिसद्धचर्थमनुलेपको नाव
तारयेदिसर्यः । स्कन्धादवतायानुलेपने कृते शङ्केन दोप
उक्तः—

उपवीतं कटौ कृत्वा कुर्याद्गात्रानुलेपनम् ।

एकवासाश्च योऽक्नीयात् निराज्ञाः पितरो गताः ॥

क्रतुना तु ललाटे वर्तुलतया पुण्डे कृते दोप उक्तः—

ललाटे पुण्ड्रकं दृष्टा स्कन्धे मालां तथैव च ।

निराज्ञाः पितरो यान्ति दृष्टा तु वृपलीपतिम् ॥

इति दोपस्मृतिवलेन कल्प्यस्य निषेधस्य कल्प्रार्ध्वपुण्ड्रविध्य
वाधेन कल्प्यत्वाद्वर्तुलपुण्ड्रविषयमेतत् । स्कन्धे मालाधारणे दोष

स्मरणात् शिरस्येव विषेण माला धार्या । तत्रापि शिखा-यामेव—

न नियुक्ति दिश्खावर्ज मालां शिरिस वेष्ट्येत् । इति दृद्धमनुस्मरणात् । नियुक्तः श्राद्धे निमन्त्रितो विषः । मार्च्यं च विहितपुष्पमयं देयम् । कानि पुनर्विहितानि पुष्पा-णीसपेक्षिते ब्रह्मपुराणे—

शुक्लास्सुमनसङ्श्रेष्ठाः तथा पद्मोत्पल्लानि च।
गन्धधूपोपपन्नानि यानि चान्यानि कृत्स्नशः॥
इति । विष्णुस्तु पुष्पदाने मन्त्रमाह 'पुष्पावतीरिति पुष्पम्'
इति । दद्यादिति पूर्ववाक्यश्रुतिमहानुपज्यते ।

ओषधयः प्रतिमोदध्वं पुष्पावतीस्सुपिष्पछाः । अयं वो गर्भऋत्वियः प्रत्नं सधस्थमासदत् ॥

इति मन्त्रस्य मध्यमप्रतीकोपादानमेतत् पुष्पावतीरिति । म-न्त्रान्ते नामगोत्रग्रहणपूर्वकामिदं वः पुष्पिमिति पुष्पं देयम् । धूपद्रव्ये विशेषश्शक्किनेक्तः—

धूपार्थे गुग्गुलं दद्यात् घृतयुक्तं मधूत्कटम् ।
इति । व्यासस्तु धूपदाने मन्त्रमाह—'धूपं च धूरसीत्युक्ता'
इति । 'धूरिस धूर्व धूर्वन्तम्' इति यजुर्वेदमन्त्रमुक्ता धूपं दद्या दिस्रथः । पुराणे तु मन्त्रान्तरमुक्तं—

वनस्पतिरसो दिन्यो गन्धाट्यस्सुमनोहरः । आघ्रेयस्सर्वदेवानां धूपोऽयं पतिगृह्यताम् ॥ इति। धूरसीत्यनेन सहास्य विकल्पो वेदितव्यः। अत्रापि मन्त्रान्ते नामगोत्रग्रहणपूर्वकमयं वो धूप इति धूपो देयः। हस्तवात-प्रापितो धूपो न विप्रेण सेव्यः तस्य निषेधात्। शातातपः—

हस्तवाताहतं धूपं ये पिवन्ति द्विजोत्तमाः ।
टथा भवति तच्छाद्धं तस्मात्तं परिवर्जयेत् ॥
दीपे तु विशेषमाह मरीचिः—

घृताद्वा तिलतैलाद्वा नान्यद्रव्यातु दीपकम् । इति । आच्छाद्ने मन्त्रमाच्छाद्नाभावे तत्प्रतिनिधिं चाह शातातपः-- 'युवा सुवासा इति वस्त्रं दद्यात्तदभावे यज्ञो पवीतम् ' इति । अत्रापि मन्त्रान्ते नामगोत्रग्रहणपूर्वकं इदं व आच्छादनिमदं वो यज्ञोपवीतिमति वा उक्ता आच्छादनं यज्ञोपवीतं वा देयम् । अन्यान्यपि ग्राह्यवर्जनीयगन्धपुष्पधूप दीपाच्छादनविषयाणि समृत्यन्तरवचनानि सन्ति, तानि चा स्माभिः श्राद्धाङ्गद्रव्योपकरपनवकरणे छिखितानीहाप्यनुसन्धे-यानि । एवं मातामहादीनामापे गन्धपुष्पादिदानं नामगोत्र सहितं पदार्थानुसंमयेन कार्यं, 'मातामहानामप्येवम्' इसतिदेशः स्मरणात् । मातुःप्रितामहाच्छादनानन्तरं अर्चनं पूर्णमास्त्विति कर्ता ब्रूयात् । अस्त्विति विभा ब्रूयुः । संकल्पसिद्धिरस्त्विति भवन्तो ब्रुवन्त्विति कर्ता वदेत् । अस्तु सङ्कल्पसिद्धिरिति विष्रा वदेयुः॥

इति स्मृतिचन्द्रिकायां अर्घ्यायुपचाराविधिः.

अथायोकरणविधिः.

तत्र कात्यायनः---

गन्धान् ब्रह्माणसात्कृत्वा पुष्पाण्यृतुभवानि च । धूपं चैवानुपूर्वेण अग्नौ कुर्यादतःपरम् ॥

ऋतुभवानि पुष्पाणि स्वोद्भवकालत्वेन प्रसिद्धवसन्तादिः कालप्रभवानि । चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । एवश्चायमर्थः— गन्धपुष्पालङ्कारधूपाच्छादनाग्ने ब्राह्मणार्थानि कृत्वाऽनन्तरम-ग्रौकरणाख्यं कर्म कुर्यादिति । कथं कुर्यादित्यपेक्षिते हागीतः — 'अथोद्धृतान्नः पङ्किमूर्धनि सर्वान् पृच्छसप्रौ करिष्ये' इति । निगमोपि—'अन्नमुद्धृत्याभिघार्याग्रौ करिष्य इति पृच्छति'। इति । विष्णुपुराणेऽपि—

> अग्नौ करिष्य इत्युक्ता तैरुक्तः क्रियतामिति । गृह्योक्तेनैव विधिना हुत्वा पात्रेषु दापयेत् ॥

हुत्वा हुतशेषं पितृत्राह्मणभाजनेषु द्द्यादित्यर्थः । गृह्योक्तेनैवेक्षेत्रकारो न धर्मशास्त्राद्यक्ताविधिनिवृत्त्यर्थः, धर्मशास्त्रोक्तविधेर्यः
ह्योक्तविधेश्च परस्परापेक्षत्वात् । तेनात्रैवकारः पुराणोक्तविधिनिवृत्त्यर्थः । अत एव गृह्योक्तविधानेनाग्नीकरणं कार्यमित्यभिधाय तस्मिन्नेव पुराणे शृह्येष्वनुक्तो विधिर्दर्शितः—

जुहुयाद्वचञ्जनक्षारवर्जमन्नं ततो नरः। अनुज्ञातो द्विजैस्तैस्तु त्रिःकृत्वो भरतर्पभ ॥ इति । व्यञ्जनक्षारवर्जमन्नं हिवष्यमन्नामित्यर्थः । यतु पुरा णान्तरे—

> पुष्पाणां च फलानां च भक्ष्याणां च प्रयत्नतः। अग्रमुद्धत्य सर्वेषां जुहुयाज्ञातवेदसि ॥

इति पित्रर्थपाकसिद्धलवणादिसंस्पृष्टाहिविष्यहोमस्मरणं तद्येपां गृहोऽग्नौकरणहोमानन्तरं अहविष्यहोमान्तरममन्त्रकं कार्यमिति विधीयते तद्विपयम् । अतो न पूर्वोक्तिवरोधः । जातवेदिसि उष्णभस्मगताग्नावित्यर्थः । तथाचापस्तम्वेनाग्नौकरणाङ्गतयोक्तं 'न क्षारलवणहोमो विद्यते तथाऽवरात्रसंस्पृष्टस्याहविष्यस्य होमः। उदीचीनमुष्णं भस्मापोह्य तस्मिन् जुहुयात्तद्धतमहृतं चाग्नौभवति ' इति । पारस्करोष्यग्नौकरणमाह—

दत्वा गन्धादि धूपांश्च सर्पिष्मद्धाविरुद्धरेत् । पेतृकैरभ्यनुजातो जुहोति पितृयज्ञवत् ॥ इति । पेतृकैद्वाह्मणैरिति शेपः—

अग्नौ कुर्यादनुइति ब्राह्मणो ब्राह्मणेस्सह ।
इति मनुस्मरणात् । ब्राह्मणेः पैतृकैस्सर्वेस्सह युगपदनुइति
इत्यर्थः । पितृयइवज्ज्ञहोतित्यस्यार्थो हारीतेन प्रपश्चितः—'कुरुः
प्रेत्यनुइतिः पूर्वोद्धतेऽग्नौ सकृदािच्छित्रैरुपमूछळूनेः परिस्तीर्णे
सिमतन्त्रेण प्राङ्मुखो मेक्षणेनाहृतिद्वयं हृत्वा मेक्षणमग्नावेव
कुर्यात्' इति । पूर्वोद्धतेऽग्नौ परिस्तरणात्पूर्वमेवोद्धोधितेऽग्नौ
मूलसमीपप्रदेशे सकृदेकयत्नेन छिन्नैर्दभैः परिस्तीर्णे सिमतन्त्रेण

पाङ्गुखो मेक्षणेन आहुतिद्वयार्थमेकामेव समिधमादाय मेक्ष-णेन यज्ञियकाष्टकृतेन आहुतिद्वयं हुत्वा अग्नावेव मेक्षणं पक्षिपेदित्यर्थः । समित्तनत्रेणेत्यनेन न पितृयज्ञधर्म उक्तः, पितृयज्ञे सामदाधानस्याभावात् । किंत्विह धर्मान्तरमुपदिष्टम्। तेन सुयज्ञोष्यपदिष्टधर्माभ्यां सहातिदिष्टधर्मानाह—'परिसमृह्य पर्यक्ष्य परिस्तीर्य दक्षिणं जान्वाच्य यज्ञोपवीती पाङासीनो मेक्षणेन जुहोति ' इति । अत्र परिसमूहनपर्युक्षणे उपदिष्टे । ' जुहुयात्पितृयज्ञवत् ' इसातिदेशतः प्राप्तौ होममन्त्रौ मदालः सया दर्शितौ---

> अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहेति प्रथमाहुतिः। सोमाय वै पितृमते स्वाहेत्यन्या तथा भवेत् ॥

वैशब्दः पादपूरणार्थत्वात्स प्रयोगकाले न प्रयोज्य: । गोवि-छने तु विपरीतक्रमेण पुरस्तात्स्वाहाकारौ होममन्त्रौ अग्नौक रणमधिक्तत्योक्तौ- भेक्षणेनोपघातं जुहुयात्स्वाहा सोमाय पितृ मते इति प्रथमां, स्वाहाऽग्रयं कव्यवाहनायेति दितीयां, अत ऊर्ध्व पाचीनावीती ' इति । होमानन्तरं पाचीनावी-तीसभिधानाद्धीद्धोमे यज्ञोपवीतीत्येवेति गम्यते । मेक्षणेनो-पद्मातं मेक्षणेनावदाय जुहोतीत्यर्थः । पुराणे त्वाहुतित्रयपक्षः स्वधानमान्तैर्मन्त्रेरुक्तः-

> अन्तर्निधाय समिधं जुहुयाज्जातवेदसि । अग्नये कव्यवाहनाय स्वधा नम इति ब्रुवन् ॥

सोमाय च पितृमते स्वथा नम इति ब्रुवन् ।

यमायाङ्गिरसां पत्ये स्वथा नम इति ब्रुवन् ॥

इत्येते होममन्त्रास्तु त्रयाणामनुपूर्वशः ।

उत्तरतोऽग्रये नित्यं सोमायोति च दक्षिणे ।

एतयोरन्तरे नित्यं जुहुयाहै विवस्वतः ॥

इति । अत्र निधेयायास्मिमिधो ग्राह्याग्राह्यत्विन्द्धपणार्थमुक्तं

तत्रैव—

पलाशफलगुन्यग्रोधष्ठक्षाश्वत्यविकङ्कताः ।
उदुम्वरशमीविल्वचन्दना याज्ञियाश्च ये ॥
पनसो देवदारुश्च सालश्चलादरस्तथा ।
सामदर्थे पशस्तास्स्युरेते द्वक्षा विशेषतः ॥
ग्राह्याः कण्टिकनश्चेव याज्ञिया ये च केचन ।
श्लेष्मातको नक्तमालः किषत्यः शाल्मिलस्तथा ॥
नीपो विभीतकश्चेव आद्यकमिण गहिताः ।
चिरिविल्वस्तथा टङ्कस्तिन्दुकाम्रातको तथा ॥
तिल्वकः कोविदारश्च एते श्राद्धाविगाहिताः ।

फल्गुः काकोदुम्बरिका। एमसुक्ताहुतिसंख्याविकल्पो न्यपदे-शादेव सिद्धः। प्रकृतौ पिण्डपितृयज्ञे पक्षद्वयमप्युक्तम्। तथाऽऽपस्तम्बः पिण्डपितृयज्ञमधिकृत्याह— 'अध्वर्युरुपवीती दक्षिणं जान्वाच्य मेक्षणे उपस्तीर्य तेनावदायाभिधार्य सोमाय पितृपीताय स्वधा नम इति दक्षिणायौ जुहोति।

यमायाङ्गिरस्वते पितृमते स्वधा नम इति द्वितीयां, अग्नये कव्यवाहनाय स्वधा नम इति तृतीयां, ये मेक्षणे तण्डुला-स्तान् हुत्वा तृष्णीं मेक्षणमादधाति न यमाय जुहोती त्येके? इति । स्वधानमोऽन्तमन्वाणां स्वाहाकारान्तमन्त्रैस्सह विक ल्पोपि पूर्ववद्तिदेशत एव सिद्धः, पक्रतौ द्विविधमन्त्राणाम-भिधानात् । तत्र स्वधानमोन्ता मन्त्रा आपस्तम्बेनोक्ता दर्शिताः। स्वाहान्तमन्त्रास्त् पिण्डपितृयज्ञे साङ्खचायनेनोक्ताः—'दक्षिणं जान्वाच्य यज्ञोपवीती पाङासीनो मेक्षणेन जुहोसप्रये कव्य-वाहनाय स्वाहा सोमाय यमायाङ्गरस्वते पितृमते स्वाहा ' इति। सोमायेत्यत्र पितृमते स्वाहेसनुपज्यते । अतोऽप्रये स्वाहा सो-माय स्वाहेति विशेषविहितावपि मन्त्रावतिदेशतोऽग्रैकरणे स्तः, प्रकृतावेवंविधयोरपि मन्त्रयोरुपदेशात् । तथाच पिण्डपित्-यज्ञमधिकृत वैजावापः—' आज्यमासिच्योद्यास्य यज्ञोपवीती-सन्वाहायपचने मेक्षणेन दे आहुती जुहोत्यव्रय इति पूर्वी सोमायेत्युत्तराम् ' इति । अन्वाहार्यपचनो दक्षिणाग्निः । एवं पिण्डपितृयज्ञहोमे यज्ञोपवीतित्वं 'उपवीतं देवानाम्' इति श्रुत्या दैविकधर्मत्वेनावगतं ब्रुवाणा आपस्तम्वसाङ्ख्यायनवैजवापक-ल्पसूत्रकाराः पिण्डपितृयज्ञे होमात्मकं प्रधानं दैविकमिति मन्यन्ते । कात्यायनोष्येवमेव मन्यते । यदाह—

अग्रोकरणहोमस्तु कर्तव्य उपवीतिना । Smriti Cha.—Vol. V पाड्युषेनैव देवेभ्यो जुहोतीति श्रुतिश्रुतेः॥

इति । अयमर्थः -- अझौकरणहोमप्रकृतिभूतिपण्डिपतृयज्ञहोमिन-धायकश्रुतौ 'स उद्रास्यायौ द्वे आहुती जुहोति देवेभ्यः ' इति श्रुतेः तद्वलात्पकृतिदैविकधर्मवत् तदिकृतिभूतायौकर णहोमोप्यपनीतित्नादिदैनिकधर्मेण कर्तन्य इति । अत्र द्वे आहुती जुहोति' इति विहितहोमद्वये ' सोमाय पितृमते स्वाहाऽ प्रये कव्यवाहनाय स्वाहा ' इति मन्त्रवर्णे देवतात्वेनावग तयोः मोमाम्नचोः चातुर्मास्चान्तर्गतपितृयज्ञवाक्यशेपादिषु क-चित्पितृरूपेण कचिदेवरूपेण व्यपदेशदर्शनादिह किं पितृ-रूपयोर्देवतात्वमुत देवरूपयोरिति संदेहे देवेभ्ये इत्यनुवाद सरूपार्थवादद्रीनादिह देवरूपयोरेव देवतात्वामाति गम्यत इत्यभिष्रायेण देवेभ्यो जुहोतीति श्रुतिश्रुतेरित्युक्तम् । न तु साक्षाइवरूपयोरेव देवतात्विमाति श्रुतौ श्रूयत इत्याभिपाये-णेति मन्तव्यम् । अत एवानन्तरमपरितोपात्पक्षान्तरमुक्तं तेनैव--

अपसन्येन वा कार्यो दक्षिणाभिमुखेन वा ।

निरुष्य हविरन्यस्मा अन्यस्मै न हि हूयते ॥

इति । अस्यार्थः — पिण्डपित्यक्षे 'पितृभ्यो जुष्टं निर्वपामि '

इति मन्त्रेण सकृदेव होमार्थ पितृदेवतार्थं च निर्वापः क्रियते। ।

ततश्च निर्वापमन्त्रसामर्थ्यात् पितृरूपयोरेव सोमाम्रचोहींमदे

वतात्विमिति गम्यते । देवरूपयोस्तु देवतात्वे देवेभ्य इति

वाक्यशेषवलादाश्रियमाणे अन्यस्मै निरुप्तमन्यस्मै हयत इत्ययुक्तं स्यात् । तस्मात्पितृरूपयोरेव देवनात्वं तेन प्रकृति भूतो होमः प्राचीनावीतिना दक्षिणाभिमुखेन च क्रियते इति विकृतिभूताग्रौकरणहोमोपि पाचीनावीतिना दक्षिणामुखेन च कार्य इति । अयमेव पक्षक्र्यानिति मन्यमान आश्वलायनः स्वमतत्वेन पिण्डपितृयज्ञहोमं पैतृकधर्मकं परमतत्वेन दैविक-धमकमाह- 'प्राचीनावीतीध्ममुपसमाधाय मेक्षणेनावदायाव-दानसंपदा जुहुयात्सोमाय पितृमते स्वधा नमोऽप्रये कव्यवा-हनाय स्वधा नम इति स्वाहाकारेण वाऽधिपूर्व यज्ञोपवीती ' इति । एवं प्रकृतिभूतपिण्डपितृयज्ञस्योभयविधत्वेन विकल्पित-धर्मकत्वात्तद्विकृतिभूतायौकरणहोमोष्यतिदेशत एव विकल्पित-धर्मक इति यज्ञापवीतिना प्राचीनावीतिना वा कार्यः । तत्रा-श्वलायनगृह्यानुसारिणां पैतृकधर्मकः कार्यः । तथाच तेनैव स्वकृतगृहोऽभिहितम्—' उद्भृत्यघृताक्तमन्नमनुज्ञापयत्ययौ करि-ष्ये करवे करवाणीति वा । प्रत्यभ्यनुज्ञा क्रियतां कुरुष्व कुर्विति वा । अथायौ जुहोति यथोक्तं पुरस्तात् १ इति । कात्यायनगृह्ये तु-' उद्धृत्य घृताक्तमनं पृच्छत्याग्नौ कारिष्य इति कुरुष्वेत्यनुज्ञातः पिण्डपितृयज्ञवद्धत्वा ' इत्युक्तं, तत्र यद्यपि पिण्डिपतृयज्ञशन्देन पिण्डेस्साध्यः पितृयज्ञः पिष्डापितृयज्ञ इति व्युत्पत्त्या पिण्डदानात्मकापितृयज्ञस्यैव नामधेयं, न तु होमात्मकपिण्डपितृयज्ञस्येति पतिभाति, तथाऽपि पिण्डदाना-

त्मकिपितृयज्ञस्य होमात्मकिपितृयज्ञस्य च दिण्डिन इतिबिद्धक्षणया नामधेयं, चातुर्मास्येषु प्रथमपर्विणि क्रियमाणानामाप्रयादि सप्तयागानां वैश्वदेवयागस्य च वैश्वदेवनामधेयवत् । एवश्च पिण्डदानं होमश्चात्र प्रधानं, न तु पिण्डदानमेव प्रधानं हो-मोऽङ्गम् । यत एवं होमोपि प्रधानं, अत एवोक्तमापस्तम्बेन— 'यदि जीविपता दद्यादाहोमात्कृत्वा विरमेत् ' इति । यदि तु होमोऽङ्गं, तदा पिण्डदानाख्यप्रधानिवृत्तौ प्रयोजकप्रधा-नस्याभावादङ्गभूतहोमस्यापि निष्टत्तेः 'आहोमात्कृत्वा विर-मेत्' इति सूत्रमक्षन्तानुपपत्नं स्यात् । ततो ज्ञायते होमा त्मकोपि पितृयज्ञः प्रधानभूत इति । एवश्च पितृयज्ञवद्धत्वा, इत्यस्यायमर्थः—होमात्मकिपण्डिपितृयज्ञवदग्नौकरणं कुर्यादिति। एवं वदतस्तस्य स्वकीयस्मृतौ—

> प्राड्युखेनैव देवेम्यो जुहोतीतिश्रुतिश्रुतेः। निरुप्य हविरन्यसा अन्यसौ न हि हूयते॥

इसेताभ्यामुक्तदैविकपैतृकधर्मकापिण्डपितृयज्ञवादित्यभिमायः प्रसे-तन्यः, पिण्डपितृयज्ञविधायकसूत्रविशेषानुक्तेः । वैजवापगृह्ये — 'यज्ञोपवीत्यमौ करवाणीत्यामन्त्रचमौकरणम्' इत्यभिधानात् स्वसूत्रोक्तपिण्डपितृयज्ञवदग्नौकरणहोमो दैविकधर्मवानिति स्फु-टम् । यत्तु याज्ञवल्केन पिण्डपितृयज्ञमनुक्वैवोक्तं—

ओं कुरुष्वेत्यनुज्ञातो हुत्वाडग्नौ पितृयज्ञवत्।

इति, यच पारस्करेण--

पैतृकैरभ्यनुज्ञातो जुहोति पितृयज्ञवत् ॥ इति, । अत्र सर्वत्र दैविकधर्मकपित्यज्ञवादित्यथीं ग्राह्यः 'दै-विकथर्मकपितृयज्ञवत् ' इति वहुभिस्सूत्रकारैरुक्तत्वात् । न च वहुभिरुक्तत्वमप्रयोजकिमाति वाच्यं 'भूयसां स्थात्सधर्मत्वम् ' इति जैमिनिना प्रयोजकत्वस्याभिधानात् । ननु भूयसामपि मतं 'निरुप्य हविरन्यस्मा अन्यस्में न हि हूयते' इति न्यायविरुद्धत्वादपयोजकम् । मैवं-ते खल्वापस्तम्वादयोप्येवं मन्यन्ते यथा दर्शयोगेनैकदेवतासम्बन्धित्वेन निरुप्तेपु शूर्प रूपैकस्थानगतेषु प्रोक्षितव्येषु 'अग्नये वो जुष्टं प्रोक्षामि' इति प्रोक्षणमन्त्रस्थो व इत्ययं शब्दः केषुचित्पर्यवस्याते न सर्वेषु वर्तते । यथाच तेष्वेव त्रीहिषु 'इन्द्राग्निभ्यां वो जुष्टं प्रोक्षामि' इति प्रोक्षणमन्त्रस्था व इत्ययं शब्दः केषु-चित्पर्यवस्थीत न सर्वेषु वर्तते । तथा स्थालीरूपैकस्थान-गतेषु त्रीहिषु 'पितृभ्यो वो जुष्टं निर्वपामि' इति निर्वा-पमन्त्रस्थो व इत्ययं शब्दः केपुचित्पर्यवस्यति न सर्वेपु ब्रीहिषु वर्तते इति न स्थालिस्थं सर्वे पितृभ्यो निरुप्तं किन्तु तद्र्भम्, तेन पितृभ्यो निरुप्तं पितृपद्नतसोमादिभ्यो ह्यते अतो न भूयसां मतं न्यायविरुद्धमिति सर्वमनवद्यम् । तू-प्णीमेव सर्वनिर्वापपक्षे तु न्यायाविरोधस्मुतराम् । सोपि पक्ष आपस्तम्वेनोक्तः—'मृण्मये निर्वपति पितृभ्यो वो जुष्टं निर्वपामीित तृष्णीं वा ' इति । भेदेन निर्वापपक्षे दृरोत्सािरतो न्यायिवरोधः । अयं तु पक्षो वत्सेनोक्तः * — 'पावत्रान्तिहिते चरुं निर्वपित त्रिर्यज्ञोपवीती दिक्षणेन हस्तेन त्रिः
पाचीनावीती सब्येन हस्तेन यज्ञोपवीती मेक्षणेन जुहुयात्सोमाय
पितृमते स्वधा नमो यमायाङ्गिरस्वते पितृमते स्वधा नमोऽस्रये
कब्यवाहनाय स्वधा नमः ' इति । तस्मात्स्मृतिषु पितृयज्ञशब्देन दैविकधर्मपितृयज्ञाभिधानं युक्तम् । यत्तु मनुनोक्तं—

अपसन्यमग्नौ कृत्वा सर्वमावृत्परिक्रमम् । इति । तदाक्वलायनशाखीयविषयम्—

> स्वाहा स्वधा नमः सव्यमपसव्यं तथैव च। आहुतीनां तु या सङ्ख्या साऽवगम्या स्वसूत्रतः॥

इति कासायनस्मरणात् । एवंच याऽऽपस्तम्वेनोक्ताऽऽहृतीनां त्रयोदशसङ्घ्या साऽऽपस्तम्वस्तिणामित्यवगन्तव्यम् । आप-स्तम्वेन धर्मशास्त्रस्त्रे—'उद्भियतामग्नौ च कियतामित्यतिसृष्टमुद्धरेज्जुहुयाच ' काममुद्भियतां काममग्नौ च कियतामित्यतिसृष्टमुद्धरेज्जुहुयाच ' इत्यग्नौकरणाविधानादाहुतिसङ्ख्या यद्यपि वक्तव्या । तथाऽपि स्वकृतगृह्यस्त्रे अनूदितमन्त्रविधानमुखेनार्थादाहुतीनां त्रयोदश-सङ्ख्या दर्शितेति तत्र सङ्ख्या नोक्ति मन्तव्यम् । अति सृष्टोऽभ्यनुक्षातः । एवंचोद्धरणप्रक्षादिकं कृत्वाऽत्तमुष्टत्याग्रेरुप समाधानाद्याज्यभागान्तं कुर्यात् , आपस्तम्बीयगृह्योक्तक्रभण

^{*} चरकाध्वर्युसूत्रकृत् वत्स इति हेमाद्रिः.

वस्यमाणतत्तरप्रधानहोमसाधारणतया प्राच्याङ्गकलापस्य वि-हितत्वात् । आज्यभागान्ते-- पन्मे माता इत्यादिमन्त्रेर्जुहु-यात् । तथा चापस्तम्वीयगृह्यसूत्रं- अन्नस्योत्तराभिर्जुहोत्याज्या-हुतीरुत्तराः ' इति । उद्धृतस्यात्रस्य किञ्चित्किञ्चिद्वदानथ-र्मेणावदाय दर्ग्या नियाय 'यन्मे माता प्रसुलोभ चराति, यास्ति-ष्ठन्ति ' इति द्वाभ्यां ऋगभ्यां अमुब्मे स्वाहेयन्ताभ्यां अमुब्मा इत्यत्र चतुर्थ्यन्ततया पितुर्नाम गृहीत्वा हे आहुती जुहोति। एवमेव 'यन्मे पितामही प्रछुछोभ चराति, अन्तर्द्धे पर्वतैः ' इति द्वाभ्यामुग्भ्याममुष्मै स्वाहेत्यन्ताभ्यां अमुष्मा इसत्र चतुर्थ्यन्ततया पितामहस्य नाम गृहीत्वा द्वे आहुती जुहोति। एवमव 'यन्मे प्रितामही प्रछुलोभ चरति, अन्तर्देध ऋतुभिः' इति द्वाभ्यां अमुप्मै स्वाहेसन्ताभ्यां अमुष्मा इस्रत्र चतुर्थ्यन्ततया प्रापता-महस्य नाम गृहीत्वा द्वे आहुती जुहोति । 'यन्मे मातामही मलुलोभ चराति, यास्तिष्टन्ति दित्रभयां मातामहाय द्वे आहुती जुहोति । 'यन्मेमातुः पितामही प्रलुलोभ चरति, अन्तर्दधे पर्वतैः ' इति द्वाभ्यां मातुःपितामहाय द्वे आहुती जुहोति । 'यन्मे मातुःप्रापितामही प्रखुलोम चराति, अन्तर्द्ध ऋतुभिः' इति हाभ्यां मातुः प्रितामहाय हे आहुती जुहोतिं। अत्र प्रथ-ममन्त्रे यन्मे मातामही प्रलुलोभ चरातेतन्मे रेतो मातामहो रुङ्काामित्यूहः कार्यः । द्वितीये मन्त्रे अन्तरन्यं मातामहाद्व इत्यूहः। मन्त्रद्वयेऽप्यमुप्मा इसत्र मातामहस्य चतुथ्यंन्ततया नामग्रहणं कार्यम् । तृतीये मन्त्रे यन्मे मातुः पितामही प्रलुलोभ चरतितन्मे मातुः पितामहो वृङ्कामि त्यूहः । चतुर्थे मन्त्रे मातुः पितामहाद्य इत्यूहः । मन्त्रद्वयेऽ-प्यमुष्मा इत्यत्र मातुः पितामहनामग्रहणं कार्यम् । पश्चमे मन्त्रे यन्मे मातुः प्रपितामही प्रलुलोभ चरतितन्मे मातुः प्रपितामहो प्रलुलोभ चरतितन्मे मातुः प्रपितामहो वृङ्कामित्यूहः । पष्ठे मन्त्रे अन्तर्न्यमातुः प्रपितामहाद्य इत्यूहः । मन्त्रद्वयेऽप्यमुष्मा इत्यत्र मातुः प्रपितामहनामग्रहणं कार्यम् ,

योज्याः पित्रादिशब्दानां स्थाने मातामहादिकाः ।
अन्नहोमे तथा स्पर्शे जलिण्डादिदानके ॥
यन्मे मातामहीत्यादि तत्रोदाहरणं भवेत् ।
इति गृह्यभाष्यार्थसङ्ग्हकारेणोक्तत्वात् । स्पर्शे 'एप ते तत मधुमानूमिंस्सरस्वान्' इत्यादिमन्त्रत्रयेण ब्राह्मणभोजनार्थान्न-स्पर्शे । ततः पूर्ववद्वदाय 'ये चेह पितरः' इत्यृचा एकामा-हितं जुहोति एवमन्नाहतीर्हस्वा पडाज्याहतीर्ज्जहोति — तत्र 'स्वाहा पित्रे' इति पुरस्तात्स्वाहाहुति जुहोति । उपरिष्टात्स्था-हाकारेण द्वितीयाम् । एताभ्यामेव मन्त्राभ्यां तृतीयां चतु र्थीमाहुतिं हुत्वा स्वधा स्वाहेति पञ्चमीं जुहोत्यग्रये कव्यवा-हनाय स्वाहेति पष्टीं ततिस्त्वष्टकृतं हुत्वा भक्ष्यभोज्यसर्व-विधाहविष्यान्नारिकचिदादायोदीचीनं भस्मापोह्य तास्मन्नुष्णे भस्मिन तृष्णीं जुहोति । ततो लेपयोः प्रस्तरवन्ष्णीं वार्ह-

रक्वाडम्रौ पहरतीत्यादि परिषेचनान्तं पाश्वासाङ्गकलापमाम्नेय-स्थालीपाकोक्तं कृत्वा हुतशेषं ब्राह्मणभोजनपत्रिषु निद्ध्यात् । एतत्सर्वे तद्भाष्यार्थसङ्गहकारेणोक्तं—

अग्नीन्धनादि प्रतिपद्य कर्म कृत्वाऽऽज्यभागान्तमथावदाय। यन्मेति मन्त्रैः प्रतिमन्त्रमग्नौ कुर्युस्तथा सप्ताभिरत्नहोमान्॥ स्वाहादिमन्त्रैरापि सार्पेषा स्युहींमास्ततास्खिष्टकृतं च हत्वा। भस्माप्यपोह्याहितरत्नहोमो छेपेषु दर्व्योश्च समझनादि॥ शेषं च कृत्वा पारेषेचनान्तं पात्रेषु द्वाहुतशेषमत्त्रम्॥

इति । सप्तिभरन्नहोमा इसन्हिनमन्त्राभित्रायोक्तं, ऊहितमन्त्रः साहित्ये त्रयोदशसङ्ख्यासम्पत्तेससप्तिभिरित्ययोगात् । एवमेत दश्नौकरणं प्राचीनावीतिना कार्यं, पैतृकत्वात् । तथाचा-पस्तम्वेन स्वकृतगृद्धशास्त्रादावुक्तं—'अपरपक्षे पित्र्याणि प्राची-नावीतिना पसन्यं दक्षिणतोपवर्गः' इति । तत्रापि यद्पैतृक-माघारसमिन्धनादिकं तत् यज्ञोपवीतिना कार्यं, अत एव भाष्यार्थसङ्गहकारेणोक्तं—

आघारदार्विप्रमुखाज्यभागप्रदक्षिणानुव्रजनेषु तद्वत् । आघारयोस्स्विष्टकति प्रदिष्टं यज्ञोपवीतं हि कपर्दिनस्स्यात्॥ इति स्मृतिचन्द्रिकायः अझौकरणविधिः.

अथोभयविधायौकरणार्थायिनिर्णयः.

तत्र याज्ञवल्क्यः---

कर्म स्मार्ने विवाहायों कुर्वीत त्रत्यहं गृही । दायकालाहृते वाऽपि श्रौतं वैतानिकायिषु ॥

स्मार्त कर्म औपासनहोमवैश्वदेवकरणाय्वीकरणादिकम् । विवा-हाम्री विवाहकालोत्पन्नौपासनाम्री । दायकालाहृते दायकाले वैश्यादिकुलादाहृस्रोत्पादिते औपासनाग्नौ कुर्वतिसर्थः । स-र्वाधाने औषासनासम्भवे त्वापस्तम्बोक्तायाकरणहोमस्य छोपः, न तु वैतानिकायावनुष्ठानं, 'श्रौतं वैतानिकायिषु' इसि-धानात् । न तु लौकिके, देवतादेरिवाग्नेरपि प्रतिनिध्यभा वात । अत एव सर्वाधानेनौपासनासंभवे धूर्तस्वामिनोक्तं — 'श्राद्धमूर्ध्व होमात्कर्तव्यं ब्राह्मणस्तु।हवनीयार्थे इति तस्यापि प्रधानत्वात् ' इति । तस्त्रापि होमादृध्वं क्रियमाणस्यात्रप्रदानः लक्षणश्राद्धस्यापीसर्थः । पितृयज्ञधर्मकाग्नौकरणस्य तु सर्वी-धानेनौपासनामावेऽपि न निष्टत्तिः 'कर्म स्मार्त विवाहायौ' इत्यादिनोपदिष्टौपामनाग्न्यभावेऽपि 'पितृयज्ञवत् ' इत्यति-देशतःशाप्तदक्षिणायेस्सम्भवादक्षिणायावनुष्ठानम् । अनेनैवाभिः प्रायेण मार्कण्डेयेनोक्तं-

आहितग्निस्तु जुहुयादक्षिणाग्नौ समाहितः । इति । आपस्तम्बोक्तामौकरणे तु पिण्डपितृयज्ञातिदेशाभावात्र दक्षिणाग्निप्राप्तिरिति सर्वोधाने धूर्तस्वाम्युक्ताग्नौकरणाभाव एव
युक्तः । पूर्वोक्ताभित्रायेण वायुपुराणेऽप्युक्तं —

आहृत्य दक्षिणारिन तु होमार्थ वै प्रयत्नतः। अग्न्यर्थ लोकिकं वाऽपि जुहुयात्कर्मासिद्धये॥

इति । अस्वार्थः — अग्नौकरणहोमार्थ गृह्याग्रचभावे दक्षिणार्थि छै। किकं वाऽप्याहृत्य स्वीकृत्य होमकर्मसिद्धये जुहुयादिति । अग्रचर्थमित्यनेन गृह्याग्निभावे तुनाग्रचन्तरस्वीकार इत्यर्थादुक्तम्। तत्र दक्षिणाग्निपक्षस्य प्रवासादिना असम्भवे छौकिकाग्निपक्षः, तस्योपदेशातिदेशरूपप्रमाणद्वयावगतस्य दक्षिणाग्निवाधकत्वेनागत्याऽऽश्रयणीयत्वात् । अत एव प्रयत्नतो दक्षिणानिग्निमाहृत्येत्युक्तम् । यत्तु स्मृत्यन्तरं —

साप्तिरप्रावनिष्ठस्तु द्विजपाणावथाष्मु वा।
कुर्यादग्नौ कियां नित्यं छौकिके नेति निश्चितम् ॥
इति । तस्त्रायमर्थः—अग्निमान्पुरुषः औषासनाग्नौ दक्षिणाग्नौ
वा पूर्वोक्तव्यवस्थयाऽग्नौकरणं कुर्यात् । दायात्त्रागस्वीकृतौष्पासनत्या छिन्नाग्नितया वा भार्याविधुरतया वा योऽग्निरहितः
स द्विजपाणावष्मु वाङग्नौकरणं कुर्यात्, न जातु छौकिकाग्नौ
कुर्यादिति । ततश्च न वायुपुराणवचनविरोधः । श्रौताग्निना
साग्निकस्त्राप्यनग्निकवत्कचिद्विषये द्विजपाणावग्नौकरणं कार्यम् ।
तथाच समृत्यन्तरं—

इस्तेऽग्रीकरणं कुर्यादग्री वा साग्निको द्विजः ।

इति । अवाग्निशब्देन न गृह्याग्निरुच्यते । तस्मिन् विद्यमाने इस्तपक्षानवकाशात् । तेन श्रौतामिरुच्यते छौकिको वा । सामिकशब्देन सर्वाधान्येवोच्यते । ततश्चायमर्थः -- सर्वाधानेनौ पासनायचभावे पितृयज्ञधर्मकाग्नाकरणं दक्षिणाग्नौ, तदसं निधाने लोकिकामौ द्विजपाणी वा कुर्यादिति । अत्रापि प्रवासादिना दक्षिणाग्रयभावे लौकिकाग्रिहस्तपत्रौ पूर्वोक्तः न्यायबद्दवगन्तव्यौ । लौकिकाग्रेस्तादश्चिशेपानवगुपात्पाणिना सह समाविकलप एव । यद्यपि न्यायतोऽग्नेः प्रतिनिध्यभावः; तथाऽपि न प्रतिनिधिन्यायेनात्र दक्षिणात्रचादेरुपादानम् । किंतु यहामचभावेन तत्साध्यकर्पणोऽननुष्ठाने प्राप्ते वचनेना-गृह्यामचादावपि गृह्यामिसाध्यं कर्म विधीयत इति न कश्चिद्दोपः। एवंचानाहिताग्रेरौपासनवदाहिताग्रेरप्यधीधानिनः उभयविधा-मौकरणहोमः औषासन एव । सर्वाधाननौषासनरहितस्याहिता-क्रेरापस्तम्वोक्ताक्रौकरणाभाव एव । पिण्डपितृयज्ञधर्मकाक्रौ करणस्य तु दक्षिणायौ, तदसंनिधौ लौकिकामौ दिजपाणौ वाऽनुष्ठानम् । अनिशकस्य द्विजपाणावष्सु वा उभयविधमग्नौ-करणमिति सिद्धम् । अनाहिताक्षेरौपासनवदाहिताक्षेरधीधाने-नौपासनवतः प्रवासादिना कथि चदौपासनासंनिधाने द्वि जपाणावष्सु वाडग्रौकरणं कर्तव्यम्। तथाच विष्णुधर्मोत्तरे मार्कण्डेयः--

अनाहिताग्निश्रौपसदेऽमचभावे द्विजेऽप्सु वा।

इति । औषसदो गृह्याग्नः । अनाहिताग्निश्चेति चशब्द आ-हिताग्नेस्समुच्चयार्थः । ततश्चायमर्थः — अनाहिताग्निराग्नि-श्चार्थाधानेनौपासनवान गृह्याग्निसंनिधौ तत्रैवाग्नौकरणं कुर्यात् । अमचभावे गृह्याग्नचमंनिधानेऽप्सु द्विजपाणौ वाऽग्नौकरणं कु-र्यादिति।अत्राप्स्थिति पक्षस्य विषयविशेषः कात्यायनेन दर्शितः —

अझोकरणहोमं तु कुर्यादिष्स्वित यन्मतम् ।
स यदाऽपां समीपे स्यात् श्राद्धं जेयो विधिस्तदा ।।
एवंचापां समीपादन्यत्र यदा श्राद्धं तदैव द्विजपाणाविति
पक्षो ग्राह्यः । अयं च विषयविभागः 'अनिमस्तु द्विजपाणावथाप्सु वा' इत्यत्रापि द्रष्टव्यः, विष्णुधर्मीत्तरे मार्कण्डेय
इत्युक्तस्मृत्यन्तरिविवक्षायां कारणाभावात् । यत्तु मनुनोक्तं—

अग्रचभावे तु विषस्य पाणावेवोपसादयेत् ।

इति, तत् भार्यापरिग्रहात् पूर्वमनुष्टेयनित्यनैमित्तिकश्राद्धविषयम् । अयमेव विषयो जात्कर्णेन स्पष्टीकृतः—
अग्रचभावे तु विष्ठस्य पाणौ दद्यातु दक्षिणे ।
अग्रचभावः स्मृतस्तावद्यावद्भार्यो न विन्दति ॥

इति । दक्षिणे पाणौ दद्यात् उभयविधाग्रौकरणाहुयर्थमन्नमिति

शेषः । यत्तु गृह्यपरिशिष्टकारेणोक्तं—
अन्वष्टक्यं च पूर्वेद्यमीसिमास्यथ पार्वणम् ।

काम्यमभ्युद्येऽष्टम्यामेकोदिष्टमथाष्ट्रमम् ॥

चतुष्वीद्येषु सामीनाममौ होमो विधीयते। पित्र्यबाह्मणहस्ते स्याद्त्ररेषु चतुष्वीपे ॥ इति, 'हेमन्तिशिशिरयोश्चतुर्णामपरपक्षाणामष्टमीव्वष्टकाः' इति विहितान्यष्टकाश्राद्धानि । तत्र अष्टकाश्राद्धदिनादुत्तरादिने नव-म्यां क्रियमाणं श्राद्धमन्वष्टक्यं, पूर्वेऽह्नि सप्तम्यां क्रियमाणं श्राद्धं पूर्वेद्युरिति पदेन लक्षणयोक्तम् । प्रतिमासं क्रियमाण-मापरपक्षिकं श्राद्धं मासिमासीत्यनेनोक्तम् । पार्वणं सर्वश्राद्ध-प्रकृतिभूतं दर्शश्राद्धम् । काम्यं पुत्रादिकामनया क्रियमाणं श्राद्धम् । आभ्युद्यिकं श्राद्धमभ्युद्यपदेनोक्तम् । अष्टकारूयं श्राद्धं अष्टम्यामिति पदेनोक्तम् । एकोदिप्टमिति पदेन सपि ण्डीकरणं लक्षणयोक्तं, सिपण्डीकरणे एकोदिष्टस्यापि सद्धा-वात्। एषां मध्ये आद्येषु चतुर्पु साग्निकानामग्रावेवाग्नौकर-णहोमः । उत्तरेषु तु सामीनां पित्र्यब्राह्मणहस्त एवेति तस्यार्थः । तदेतत् येपां गृह्यपरिशिष्टं तेपापेव व्यवस्थापकं न सर्वेषाम् । अतो न पूर्वोक्तव्यवस्थाविरोध इति सर्वमन वद्यम् । यदा तु पाणिहोमपक्षः तदैकस्यैव विपस्य पाणौ होमो न सर्वविपाणामिसाह कात्यायनः—

पित्र्ये यः पङ्किमूर्थन्यः तस्य पाणावनिभकः ।

हत्वा मन्त्रवदन्येषां तृष्णीं पात्रेषु निक्षिपेत् ॥

इति । पित्र्यप्रथमब्राह्मणपाणौ होमोऽयं न निसः,

दैववित्रकरेऽनिभः कृत्वाऽग्रौकरणं द्विजः ।

इति यमेन वैश्वदैविकब्राह्मणपाणावभौकरणहोमविधानात्। एवश्च ब्रीहियववात्पित्र्यवैश्वदेविकब्राह्मणपाण्योर्विकल्पो वेदित व्यः। दैववित्रकरहोमपक्षेऽपि हुतशेषं पित्र्यब्राह्मणभोजनपात्रे-ष्वेव निक्षिपेत्। तथाच वायुपुराणं —

हुत्वा दैवकरेऽनाग्नः शेषं पित्र्ये निवेदयेत् । न हि स्पृतादशेपभाजो विश्वेदेवाः पुराणगैः ॥

दैविविश्वसरादन्यत्र पितृविश्वपाण्यग्नौ होमेऽपि हुतशेषभाजो विश्वेदेवा न भवन्तीति ज्ञापियतुं न हि स्मृताइशेषभाजो विश्वेदेवा इति सामान्येनोक्तम् । यत एव सामान्येन शेष भाजो विश्वेदेवा न भवन्तीति अत एव विशेषेण पुगणा-न्तरे शेषदानं प्रतिषिध्यते—

अग्नोकरणशेषं तु न दद्याद्वैश्वदैविके।
इति । अग्नोकरणहोमं वैश्वदैविकत्राह्मणपाणौ कुर्वन्नप्येकब्राह्मणपाणावेव कुर्यात्, गुणानुरोधेन प्रधानानादृत्तेरग्नित्वेनैकविष्रपाणावेवानुष्ठेयत्वात् । तदेतदुक्तं वायुपुराणे—

वैश्वदेवे यहैकिस्मन् भवेयुः द्वचादयो द्विजाः ।
तदैकपाणौ होतन्यं स्वाद्विधिविदितस्तथा ॥
यदैकस्मिन् वैश्वदैविकत्राह्मणभोजनकर्भणि द्वौ चत्वारः पिडः
सेवं युग्मसङ्ख्वया द्वचादयो विषा दैविकत्वेन भवेयुः तदैः
कस्य प्रथमोपविष्टस्य विषस्य पाणौ होतन्यं तत्राहुतिविधिविदितस्व्यादनुष्टितो भवेदित्यर्थः। एवं ब्राह्मणपाणावग्नोकरणहोमं

करिष्ये करवे करवाणीित वा ब्राह्मणानुज्ञापनं, तथाऽस्तिवित्वा ब्राह्मणेः प्रतिवचनं भवेदित्याह शौनकः—'अनिप्रकथेदायं गृहीत्वा भवत्स्वेवायोकरणिमिति पूर्ववच्याऽस्तु' इति । अनिप्रकथेत् ब्राह्मणपाणावयौकरणहोमं कुर्याचेत्। आद्यं घृताक्तमन्नम् । पूर्ववत् ब्राह्मणानुज्ञापनिमिति शेषः । तथाऽस्त्विति ब्राह्मणानां प्रतिवचनिमिति शेषः । यत्तु स्मृत्यर्थसारेऽभिहितं—'पाणिहोमे त्विध्ममेक्षणविप्रानुज्ञा न सन्ति' इति, तत्र विप्रानुज्ञाभावो किरेतद्वचनादर्शनिववन्धनेत्युपेक्षणीया । मेक्षणाभावोक्तिरिप चिन्त्या, मेक्षणकार्यस्य विध्यदर्शनात् । यच्च तत्रैवाभिहितं 'परिसमूहनपर्यक्षणे स्तः' इति, तदिप चिन्त्यं, तयोर्दृष्ट कार्यस्य धूळ्यपगमादरत्राभावात् । नियमादृष्टमात्रस्याप्रयोजकत्वात् । यस्य त्वदृष्टसंस्कारः कार्यं परिस्तरणस्य तदत्रास्ति । तथाच यमः—

अग्रीकरणवत्तत्र होमो दैवकरे भवेत् । पर्यस्तदर्भानास्तीर्थ यतो ह्याग्निसमो हि सः ॥

इति । दैवकरो वैश्वदैविकब्राह्मणपाणिः । पर्यस्तदर्भाः परितः सर्वतो न्यसनीयदर्भाः परिस्तरणदर्भा इति यावत् । दैव-करग्रहणं पित्र्यब्राह्मणकरस्याप्युपलक्षणार्थम् । ब्राह्मणपाणौ हुतं तदानीय तदानीमेव ब्राह्मणेन न भोक्तन्यं, अपितु भोजनकाले । तथाच वह्नचगृह्यपरिशिष्टं— अन्नं पाणितले दत्तं पूर्वमक्ष्मन्त्यबुद्धयः। पितरस्तेन तृष्यन्ति शेषाञ्चं न लभन्ति ते॥ यच पाणितले दत्तं यचान्यदुपकाल्पितम्। एकीमावेन भोक्तव्यं पृथग्मावो न विद्यते॥

शेषात्रं विष्ठभोजनार्थं सम्पादितमत्तम् । पित्रयत्राह्मणपाणितलादन्यत्र पितृयज्ञवद्यौकरणम् । पैतृकश्राद्धे मातामहश्राद्धे
च वैश्वदैविकं तन्त्रं, द्रव्यदेवतावद्धिकरणकारकैक्यस्यापि
सम्प्रतिपन्नत्वात् । पित्र्यत्राह्मणपाणितले क्रियमाणं तु मातामहबाह्मणपाणितलेऽप्याद्यत्त्या कार्यं, अधिकरणकारकैक्यस्यासम्प्रतिपन्नत्वात् । अत एव कात्यायनः—

मातामहस्य भेदेऽपि कुर्यात्तन्त्रे च साग्निकः॥

इति । अयमर्थः—मातामहस्य ब्राह्मणपाणौ पृथगग्नौकरणं
कुर्यात् । एतच वैश्वदैविकभेदपक्षे तन्त्रपक्षे च समानिमिति।

यस्मिन् विषये साग्निकस्य पाणौ अग्नौकरणमुक्तं तस्मिन्विपये
इदं वचनं द्रष्टव्यम् ।

इति स्मृतिचन्द्रिकायामुभयविधाग्नौकरणार्थाग्निनिर्णयः.

अथ परिवेषणविधिः.

तत्रादावमत्राणि साति सम्भवे श्रेष्ठानि सम्पाद्यानि । दैवे सौवर्णानि श्रेष्ठानि । पित्र्ये राजतानि । तथाच श्रेष्ठा-नीत्यनुवृत्तावत्रिः — भोजने हेमक्ष्प्याणि दैवे पित्र्ये यथाक्रमम् । इति । एतेपामलाभे विष्णुः—'तैजसानि पात्राणि दद्यात्' इति । तैजसानि कांस्यताम्रादीनि । तेपामलाभे पालाशपर्ण-निर्मितानि—

पालाशेभ्यो विना न स्युः पर्णपात्राणि भोजने । इत्यित्रिणाऽभिधानात् । पर्णपात्रपक्षेऽपि घृतादिद्रव्यधारणार्थे तै-जसानि सित सम्भवे सम्पाद्यानि । 'घृतादिदाने तैजसानि पात्राणि ' इति विष्णुस्मरणात् । तेपामभावे पालाशपर्णनि-र्मितपत्रपुटानि घृतादिधारणार्थानि भवन्ति न कदाचिन्मन्मय पात्राणि,

न मृत्मयानि कुर्वीत भोजने दैविपित्र्ययोः । इसित्रिस्मरणात् । यथासम्भवलब्धानां चैतेषां पात्राणां द्विः प्रक्षाळनं कार्ये, तत्रादावषो निनीय इस्तेन निर्मृज्य प्रक्षाळनं, अनन्तरं जलेनैव । तथाच ब्रह्माण्डपुराणम्—

> मक्षाळ्य हस्तपात्रादि पश्चादद्भिर्विधानवत् । मक्षाळनं जलं दभैः तिलौर्पेश्रं क्षिपेच्छुचौ ॥

हस्तपात्रादीति मध्यमपदलोपी समासः । हस्तनिर्मृष्टं पात्रादि प्रक्षाळ्येसर्थः । पात्रशब्देन तलमुक्तं, आदिशब्देन घृतादे-धीरणार्थानि गृहान्ते । पात्रमक्षाळनानन्तरं याज्ञवल्क्यः—

> हुतशेषं पदद्यातु भाजनेषु समाहितः। यथालाभोषपञ्चेषु रौष्येषु तु विशेषतः॥

भाजनेषु पित्र्यत्राह्मणार्थभाजनेष्वित्यर्थः, रौष्येषु तु विशेषत

इति पित्र्यकर्माणे प्रशस्तरोष्यसमभित्याहारात् । शौनकेन तु स्पष्टमुक्तम्—

हुत्वाऽग्रौ पिराशिष्टं तु पितृपात्रेष्वनन्तरम् ।
निवेद्यैवापसव्येन पिरवेपणमाचरत् ॥
अपसव्येनेति पूर्वेणैव सम्बध्यते, न पुनरुत्तरेण ।
अपसव्येन कर्तव्यं पित्र्यं कृत्यं विशेषतः ।
अत्रदानाद्दते सर्वमेवं मातामहेष्वापि ॥
इति काष्णांजिनिस्मरणात् । अन्नदानं अन्नप्रक्षेपः परिवेषणः
मिति यावत् । एवञ्च श्राद्धकर्त्रा पारवेषणं कार्यमित्यर्थादुकम् । उक्तं च साक्षान्मनुना─

पाणिभ्यामुपसंग्रह्य स्वयमन्नस्य वन्धुकम् । विप्रान्तिके पितृन् ध्यायन् शनैरूपिर निक्षिपेत् ॥ अन्नस्य वन्धुकं अन्नेन पूर्णं परिवेषणपात्रामिति यावत्। पाणिभ्या-मुपसंग्रह्य विप्रभोजनपात्रे शनैर्निक्षिपेत् । पितृन् ध्यायितिति पित्र्यविप्रविपयं, दैवविप्रविषये अन्निमित्युक्तत्वात् १ । यत्तु वायुपुराणेऽभिहितं—

परिवेषणं प्रशस्तं स्याद्भार्यया पितृतृप्तये ।
पितृदेवमनुष्याणां स्त्रीसाहाय्यं यतः स्मृतम् ॥
इति, तत्र प्रशस्तमित्यत्र परिचारककर्तृकपारिवेषणादि ति शेषे ।
इष्टच्यः । स्वयंकर्तृकपरिवेषणापेक्षया प्राशस्त्यासम्भवात् । अत
एवानन्तरमुक्तं तत्रैव—

फलस्यानन्तता प्रोक्ता स्वयं तु परिवेषणे। इति । एवश्च स्वयं पत्नी अन्ये वा नियताः शुद्रव्यतिरिक्ताः परिवेषणं कर्तुमईन्तीत्यवगन्तव्यम् । पत्नचप्यसवर्णा न परिवे-पणार्हो । अत एव नारायणेनोक्तं—

यद्धव्यं यत्पिवत्रं च यत्पित्र्यं यत्सुखावहम् । द्विजातिभ्यस्सवर्णाया नार्या हस्तेन दीयते ॥ इति । हस्तेन हस्तद्वयेनेसर्थः ।

उभाभ्यामिप हस्ताभ्यां आहृत्य परिवेपयेत् । इति मत्स्येनोक्तत्वात् । हस्तद्वयेनापि न साक्षाद्देयं, किन्तु दर्ब्योदिद्वारा ।

हस्तदत्तास्तु ये स्तेहलवणव्यञ्जनादयः। दातारं नोपतिष्ठन्ति भोक्ता भुञ्जीत किल्विपम्॥ इति दृद्धशातातपेन साक्षाद्धस्तदत्तस्य दोपहेतुत्वस्मरणात्। दर्व्यादिकं च सति सम्भवे सुवर्णोदिमयं ग्राह्मं,

सौवर्णराजताभ्यां वा खङ्गेनोदुम्बरेण वा ।
दत्तमक्षय्यतां याति फल्गुपात्रेण वा पुनः॥
इति हारीतस्मरणात् । खङ्गेन खङ्गमृगशृङ्गकृतदृर्व्यादिना ।
फल्गुपात्रेण काकोदुम्बरिकाख्यवृक्षदारुकतदृर्व्यादिना । पुराणे
तु परिवेषणसाधनानि निषिद्धानि दर्शितानि—
नापवित्रेण हस्तेन नैकेन न विना कुशम् ।
नायसेनायसे नैव श्राद्धे तु परिवेषयेत् ॥

अपवित्रेण दुर्लेपसंसर्गादिना अपवित्रेण। आयसेन अयोमय-दर्व्यादिना । आयसे अयोमयपात्रेःपि नैत्र परिवेपयेत् । अनिपिद्धदर्व्याद्यसम्भवेऽपि तत्रेत्रोक्तं—

तस्मादन्तिरतं देयं पर्णेनाथ तृणेन वा ।
इति । यस्मादाहृत्य इस्तेन दानं निषिद्धं तस्मादिनिषिद्धद्दन्यी
द्यसंभवे पर्णादिना पान्तिरतं कृत्वा देयमिसर्थः । भोकारं
द्विजं प्रत्याह वसिष्ठः—

उभयोईस्तयोर्मुकं पितृभ्योऽत्नं निवेदितम् । तदत्रं सम्प्रतीच्छन्ति असुरा दुष्टचेतसः ॥ तस्मादशून्यं हस्तेनं कुर्यादत्रमुपस्थितम् । भाजनं तु समास्रभ्य तिष्ठेदोच्छेपणाद्विजः ॥

इति । परिवेषणोपक्रमप्रभृति भुक्तिशृष्ट्य भाजनाद्धहिष्करणः पर्यन्तं वामहस्तेन भाजनमपरित्यजनेव वर्तेत । कण्डूयनार्थं वामहस्तव्यापारसमये दक्षिणहस्तेन भाजनं समालभ्य वर्तेनतेति तात्पर्यार्थः । परिवेषणारम्भवकारमाह शौनकः—

पाकं सर्वमुपानीय संवेद्य च पृथक्पृथक् ।
विधिना दैवपूर्व तु परिवेषणमाचरेत् ॥
इति । संवेद्य भोकृणां संविदितं कृत्वेत्यर्थः ।

भक्ष्यभोज्यगुणानुका भोजयेद्वाह्मणान् शनैः। इति वृहस्पतिस्मरणात् । पाकं सर्वमियस्यार्थो मनुना प-पश्चितः— मक्ष्यं मोज्यं च विविधं मूलानि च फलानि च।

हृद्यानि चैव मांसानि पानानि मुरभीणि च॥

उपानीय च तत्सर्वे शनकैस्सुसमाहितः।

परिवेपयेतु प्रयतो गुणान् सर्वान् प्रचोदयन्॥

प्रचोदयन् प्रख्यापयित्वत्यर्थः। देवपूर्वं परिवेपयेदिति विधेर्थः

तप्यमानास्तपस्तीवं पेषिता ब्रह्मशासनात्। विश्वेदेवास्तु रक्षार्थं पितृयज्ञेषु सर्वदा॥ अतः पूर्वं प्रदातव्यं तेभ्योऽतं पितृकर्मणि।

इति । प्रदातव्यं भाजनेषु प्रक्षेप्तव्यम् । देवर्षू परिवेषणमा-चरेदिति वदन् परिवेषणार्थं प्रथममाज्येनोपस्तरणं देवपूर्वं कृत्वा अत्रं दत्वा एवमेव पायसादि सर्वं पृथक्पृथक् परि-वेषणीयमिति दर्शयति । अन्यान्यपि परिवेषणीयान्याह मनुः—

गुणांश्च सूपशाकाद्यान् पयो दिध घृतं मधु । विन्यसेत्प्रयतस्सम्यग्भूमावेव समाहितः ॥ णान् साक्षाद्धजिकियानिर्वतेकान् न तु ग्राहकतया गुप

गुणान् साक्षाद्धिजिकियानिर्वर्तकान् न तु ग्राहकतया गुणभूतान्
सूपशाकमध्वादीन् भूमौ निहितेषु स्वेल्पभाजनेषु प्रक्षिपत् न
प्रधानान्नार्थमहाभाजने निहितेष्वित्यर्थः । तथाच हारीतः—
'भूमावेव निद्ध्यान्नोपर्युपरि पात्राणि' इति । अस्वार्थः—
यान्युपरिपात्राणि महाभाजनोपरि निधेयानि घृताद्याधारभूतानि स्वल्पपात्राणि तान्यत्र भूमावेव निद्ध्यात् न महाभाज-

नस्योपरीति । महाभाजनमप्यत्र पूर्वोक्तिपृष्टकादिरचितपरित-काष्ट्रयचतुरश्रमण्डलोपरि निधाय पायसापूपादि विविधमन्नं प्रक्षिपत् । न तु यन्त्रिकादेरुपरि निधायेति 'भूतलान्नोद्धरे-त्पात्रम्' इस्रादिवचनसिद्धं वोद्धन्यम् । श्राद्धार्थं यद्यत्पा-कादिनोपकल्पितं तत्सर्वं किश्चित्किश्चिदादायावश्यं परिवेपणी-यम् । अत एव प्रचेतसोक्तं—

'सर्वे च प्रकृतं दत्वा पात्रमालभ्य जपेत्' इति । जप्यमाह पैठीनसिः— 'पृथिवी ते पात्रं द्यौरिपधानं ब्राह्मणस्य मुखे जुहोमि स्वधा ' इति । जपानन्तरं कात्या-यनः— 'वेष्णव्यर्ची यजुषा चाङ्गुष्टमन्नेऽवग्राह्य' इति । का पुनरत्र वेष्णवी ऋक्, कस्य चाङ्गुष्टिमिसपेक्षिते याज्ञवल्क्यः—

इदं विष्णुरिति त्वन्ने द्विजाङ्गुष्ठं निवेशयेत्। इति । यमस्तु सार्थवादमङ्गुष्ठनिवेशनविधिं वदन् अत्र वि-नियुक्तयजुर्मन्त्रस्वरूपमाह—

अङुष्ठमात्रो भगवान् विष्णुः पर्यटते महीम् ।
राक्षसानां वधार्थाय कोऽल्पवान् प्रहरिष्यति ॥
तस्माच्छ्राद्धेषु सर्वेषु अङ्गुष्ठग्रहणं स्मृतम् ।
विष्णो हव्यं च कव्यं च त्रूयाद्रक्षेति च क्रमात् ॥
त्रूयात् देवे पित्र्ये चान्न इति शेषः । अत्र दैवेऽन्ने अङ्गुष्ठानिवेशनात् प्राग्विष्णो हव्यं रक्षेति यजुर्त्रूयात् । पित्र्येऽन्ने तु
विष्णो कव्यं रक्षेति यजुर्त्रूयादिति । अत्रैवं दृद्धाचारा-

नुसारी प्रयोगः— यज्ञोपवीती दक्षिणं जान्वाच्य उद-द्धार्षः प्रथमं देवतार्थपरिविष्टमन्त्रमभ्युक्षणेनावोक्ष्य पात्रमालभ्य 'पृथिवी ते पात्रम्' इति जपाद्यङ्गप्टनिवेशनान्तं कृत्वा प्रा-चीनावीती सच्यं जान्वाच्य दक्षिणामुखः पित्र्यं परिविष्ट-मन्नमभ्युक्षणेनावोक्ष्य पात्रमालम्ब्य जपाद्यङ्गप्टनिवेशनान्तं कृ र्यात्। एवं मातामहादिपात्रस्थानेषु अभ्युक्षणावोक्षणाद्यङ्गप्ट-निवेशनान्तं कार्यम्। अभ्युक्षणावोक्षणाद्यङ्गप्टनिवेशनान्तं दैवे पित्रये च ब्राह्मणानेकत्वे प्रतिब्राह्मणपात्रं कार्यम्,

एकैकस्याथ विष्रस्य गृहीत्वाऽङ्गुष्ठमादरात् । इति ब्रह्माण्डपुराणेऽभिधानात् । सर्वभाजनस्थेप्वत्रेषु अङ्गुष्ठ-निवेशनानन्तरं चतुर्विंशतिमतेऽभिहितं—

पात्रालम्भं दिजः कुर्यादिदं वोऽन्नमिति ब्रुवन् ।
इति । अयमर्थः—परिविष्टान्नाधारभूतपात्रालम्भनं वामहस्तेन
कृत्वाऽन्नसागात्पात्रमनुतस्जन्नेव 'विश्वेदेवा इदं वोऽन्नभ्'
इत्युचारयन्नन्नत्यागं कुर्यादिति । विष्णुस्त्वन्नत्यागात्प्राक् सार्तव्यमाह—'नमो विश्वेभ्यो देवभ्यः इत्यन्नमादौ प्राड्युखयोनिवेदयेत् । पित्रे पितामहाय प्रीपतामहाय च नामगोत्राभ्यामुदङ्कुखेपु' इति । चशब्दात्प्रीपतामहाय च निवेदयेदित्याह ।
विश्वेभ्यो देवभ्यः पित्रे पितामहाय चेति चतुष्टर्या विश्वेपां
देवानां पित्रादेश्च देवतात्वं प्रदर्श्यते । विश्वेदेवा देवता
पित्रादयो देवतेति स्मृत्वा निवेदनार्थं, प्राड्याखयोरुदङ्मखेष्विति

सप्तम्या ब्राह्मणानामाहवनीयार्थत्वं पद्दर्यते । आहवनीयार्थे व्राह्मण इति स्मृत्वा निवेदनार्थम् । एतदुक्तं भवति—परि विष्टान्नत्यागात्पूर्वममुकनामानौ विश्वेदेवा देवता इद्मन्नं हविः ब्राह्मण आहवनीयार्थे इत्यादि स्मृत्वा नमक्शब्दांचारणपूर्वकमन्नं निवेदयेदिति । तथा पिताऽमुकगोत्रोऽमुकशर्मा देवता इद्मन्नं हविद्रीह्मण आहवनीयार्थे पितामहोऽमुकगोत्रोऽमुकशर्मा देवता इदमन्नं हविद्रीह्मण आहवनीयार्थे इत्यादि स्मृत्वा नमक्शब्दोचारणपूर्वकं निवेदयेदिति । एवं च श्राद्धाख्यं कर्म होमात्मकमित्यवगम्यते । ततथ निवेदयेदिति । एवं च श्राद्धाख्यं कर्म होमात्मकमित्यवगम्यते । ततथ निवेदयेदित्यनेन होमात्मकं कर्म-कुर्यादिति वचोभङ्गचा द्योत्यते । अत एव श्राद्धाख्यं कर्म होमात्मकम् । अत एव ब्रह्मपुराणे—

एतद्वी अन्निमित्युक्ता विश्वान् देवांश्च यजेत् । इत्युक्तम् । होमयागयोरत्यरूपभेदत्वाद्धोमात्मके श्राद्धे अनास्थ्या यजेदिन्युक्तियुज्यते । अहोमात्मकत्वे तु यजेदित्युक्तिरसन्तासमञ्जसा स्यात् । तेनात्र श्राद्धारूपं कर्भ होमात्मकिमसवगम्यते, त्रा ह्याण आहवनीयार्थ इति स्मरणात् । अनन्तरं त्राह्मणाध्याः सितां भूभि गयारूपां ध्यात्वा त्राह्मणं च गधाधररूपं ध्यान्वाऽतं निवेदयेत् ॥

श्राद्धभूमी गयां ध्यात्वा ध्यात्वा देवं गदाधरम्।
ताभ्यां चैव नमस्कृत्य ततः श्राद्धं प्रवर्तयेत् ॥

इति पुराणेऽभिधानात् । वैश्वदेवान्नसागप्रकारमाह अतिः—

SMRITI CHA.—Vol. V.

44

हस्तेन मुक्तमन्नाद्यमिद्मन्नमुदीरयेत्। स्वाहेति च ततः कुर्यात्स्वसत्ताविनिवर्तनम्॥

अयमर्थः—परिवेपकहस्तेन निर्मुक्तं परिविष्टमन्नाद्यं पुरोवर्ति त्वादिदमन्नीमिति पदेयहिविनिर्देशार्थं देवतोदेशकशब्दोचारणानन्तरमुदीरयेत्। तत इदमन्निमत्युदीरणानन्तरं स्वाहेति हिव दीनप्रकाशकं शब्दमुदीरयेत्। ततस्त्वाहाशब्दोदीरणानन्तरं स्वसत्ताविनिवर्तनं कुर्यात्। स्वशब्देनात्र स्वत्वं निर्दिश्यते। स्वत्वस्य सद्भावः स्वसत्ता तस्या विनिवर्तनं निवर्तकं कमे यन्मानसं न ममेति बुद्धिरूपं स्वत्वसागारूयं तत्कुर्यादिति। पित्रादिभ्योऽन्नत्यागमकारमापं स एवाह—

> गोत्रसम्बन्धनामानि इदमत्रं ततस्रवधा । पितृकमण्युदीर्याथ स्वसत्तां विनिवर्तयेत् ॥

अयमर्थः — पितृपितामहादिक्रमादेकैकं देवतात्वेनोहिष्टं पित्रे अमुकगोत्रायामुकशर्मणे पितामहायामुकगोत्रायामुकशर्मणे इसा दिगोत्रसम्बन्धनामानि चतुर्थ्यन्तान्युदीर्य ततः प्रदेयहिवर्द्रव्यन्तिदेशकिमदमन्नामत्युदीर्य ततः कुर्याद्दानप्रकाशकं स्वधाशब्द-मुदीर्य स्वसत्तां विनिवर्तयत्। स्वत्वध्वंसकरं न ममिति बुद्धि-रूपं मानसं कर्म कुर्यादिति। एवं विष्णुत्रिवचनविहितान्न-सागप्रकार एव व्यक्तीकरणार्थं प्रयोगसौकर्यार्थं च पुनः प्रपन्नेनोच्यते। मातुः प्रपितामहार्थेऽने अङ्गुष्टानिवेशनानन्तरं वैश्व-देविक ब्राह्मणसंनिधानुदक्षात्व उपविश्योपवीती दक्षिणं जान्वाच्य

दक्षिणहस्तेन यवसहितमुदकमादाय सन्यहस्तेन पात्रमालभ्य पुरूरवाईवसंज्ञिका विश्वेदेवा देवता इदमन्नं हविर्वाह्मणः आहवनीयार्थे इयं भूगया अयं भोक्ता बाह्मणो गदाधरः पुरूरवार्द्रवसंज्ञिकेभ्यो विश्वेभ्यो देवेभ्य इदं परिविष्टमन्नमा-तृप्तेः परिवेक्ष्यमाणं च स्वाहा नमो नममेत्युक्ता भाजनसमीपे यवसहितपुदकं निनीय भक्तचा प्रणामं कुर्यात् । वैश्वदैविक-ब्राह्मणानेकत्वे तत्तद्भाजने परिविष्टमत्रमेवं त्यजेत् । ततः पित्र्यब्राह्मणसंनिधौ दक्षिणामुख उपित्रस्य सन्यं जान्त्राच्य पाचीनावीती हस्तेन तिलानुदकं चादाय वामहस्तेन पात्र-मालभ्य अस्मित्पिताऽमुकगोत्रोऽमुकशर्मा वसुरूपः सपत्नीको देवतेदमनं हविरित्यादि बाह्मणो गदाधर इत्यन्तं पूर्ववद्का असात्पित्रेऽमुकगोत्रायामुकशर्मणे वसुरूपाय सपत्नीकाय परि-विष्टमन्नमातृप्तेः परिवेक्ष्ययाणं च स्वधा नमो न ममेत्युक्ता भाजनसमीपे तिलसहितमुदकं निनीय भक्तचा प्रणामं कुर्यात । ब्राह्मणानेकत्वे तत्तद्वाह्मणभाजने परिविष्टमन्नमेवं त्यजेत् । पितामहादिभ्योप्येवमेवान्नत्यागः । अस्मित्पितामहोऽमुकगोत्रोऽ-मुकशर्मा रुद्ररूपः सपत्नीकः.....अस्मित्पतामहायामुकगोत्राया-मुक्तरार्भणे रुद्ररूपायेति पितामहीयान्नत्यागे विशेषः। अस्म-त्प्रितापहोऽमुकगोत्रोऽमुकशर्माऽऽदित्यरूपः सपत्नीकः प्रितामहायामुकगोत्रायामुकशर्मणे आदित्यरूपायेति प्रिपता-महीयात्रत्यागे विशेषः । अस्मन्मातामहोऽमुकगोत्रोऽमुकशर्मा

पिता पितामहश्चेव तथैव प्रिपतामहः ।
तृप्तिं प्रयान्तु ते भक्तचा यन्मयैतिदिहाहृतम् ॥
मातामहस्तृप्तिमुपैतु तस्य
तथा पिता तस्य पिता च योऽन्यः ।
विश्वे च देवाः परमां प्रयान्तु
तृप्तिं प्रणश्यन्तु च यातुधानाः ॥
यज्ञेश्वरो हव्यसमस्तकव्यभोक्ताऽव्ययात्मा हरिरीश्वरोऽत्र ।
तत्सिन्निधानादपयान्तु सद्यः
रक्षांस्यज्ञेषाण्यसुराश्च सर्वे ॥

एवमुक्तपौराणिकश्लोकजपानन्तरं छघुयमः—
अन्नहीनं कियाहीनं मन्त्रहीनं च यद्भवेत् ।
सर्वमच्छिद्रमित्युका ततो यत्नेन भोजयेत् ॥
अच्छिद्रं जायतामित्यध्याहारेणाच्छिद्रभाषणवाक्यं पूरणीयं,
साकाङ्क्षत्वात् । वोधायनेन तु अच्छिद्रं जायतामित्येवोक्तम् ।
यद्यपि छघुयमवचनादच्छिद्रभाषणानन्तरमेव भोजनप्रतीतेरापोश्वनहस्तेषु ब्राह्मणेषु सत्स्वाच्छिद्रभाषणं कार्यमिति प्रतिभाति,
तथाऽपि प्रागेवापोशनतः कार्यं न पश्चात् । यथाऽऽह प्रचेताः—

आपोशनकराग्राणामि च्छिद्रस्य च भाषणात्।

निराशाः पितरो यान्ति देवैस्सइ न संशयः॥

किं तर्हि आपोशनदानानन्तरं कर्तव्यामित्युक्ते स एवाइ—

आपोशनं प्रदायाथ सावित्रीं त्रिर्जपेदथ।

मधु वाता इति त्यृचं मध्वित्येव त्रिकं तथा ॥

मध्वित्येतावान्त्रावार्तनीयमिति चतुर्थपादस्यार्थः । व्याहृतीर्जपित्वा सावित्रीं जपेत्, 'सव्याहृतिकां गायत्रीम्' इति

याज्ञवल्क्यस्मरणात् । आपोश्चनदानविधानान्त्रित्यभोजनाश्चित
नियमाः पर्यक्षणादयः प्राणाहुत्यन्ता भोक्तृणामत्रापि सन्तीति

गम्यते । अत एव कस्यचिद्धोजननियमस्यात्र प्रतिषेधार्थं तद
नुष्ठाने दोषमाह भरद्वाजः—

पितॄणामन्नमादाय वार्ल यस्तु प्रयच्छति । स्तेयेन ब्रह्महा तेन सुवर्णस्तेयकुद्भवेत् ॥ पितृणामत्रं देवपित्रर्थं परिविष्टमत्रम् । अत एव सामान्येनो-क्तमित्रणा--

दत्ते वाडप्यथवाडदत्ते भूमौ यो निक्षिपेद्विल्लम् ।
तदन्नं निष्फलं याति निराक्षैः पितृभिर्गतैः ॥
विलिं निस्भोजनियमविधिषूक्तं विलिं,
भोजनात्किञ्चिदन्नाग्रं धर्मराजाय वै विलिम् ।
दत्वाऽथ चित्रगुप्ताय प्रयतश्चेदमृच्चरेत् ॥
इति विद्वितामिति यावत् । व्याद्वत्यादिजपानन्तरं याज्ञवल्कयः—
'जन्ना यथासुखं वाच्यम्' इति । यथासुखामिति पदमपरिपूर्णत्वादन्वितामिधानात् पदान्तरमपेक्षते । तेन जुषध्वामिति
पदमध्याद्दार्यम् । अत एव—

जुषध्वमिति ते चोक्तास्सम्यग्विधृतभाजनाः । कृतमौनास्समश्रीयुरापोशनादनन्तरम् ॥

इति व्यासेनोक्तम् । आपोशनादनन्तरं अमृतोपस्तरणमसीति
मन्त्रेणापः पीत्वा तदनन्तरमित्यर्थः । प्राणाद्वतयस्त्वशनिक्रयायामनुप्रविष्टा इति तासां करणेऽपि समश्रीयुरापोशनादनन्तरमित्यस्य न कश्चिद्विरोधः । भोक्तुमुपक्रान्तेषु ब्राह्मणेषु
श्राद्धकतुः कर्तव्यमाह कात्यायनः— 'अश्चत्सु जपेद्वचाह्वतिपूर्वी गायत्री सप्रणवां सकृत्त्वी रक्षोद्वीः पित्र्यमन्त्रान्
पुरुषसूक्तमप्रतिरथमन्यानि च पित्रत्राणि ' इति । रक्षोद्वीः 'कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीम् ' इसाद्या ऋचः । पित्र्य-

मन्त्राः—' उदीरतामवरे ' इस्रादयः । अप्रतिरथः—' आश्विश-शानः ' इति स्रक्तम् । मनुरपि—

स्वाध्यायं श्रावयेत्पित्रये धर्मशास्त्राणि चैव हि । आख्यानानीतिहासांश्च पुराणान्यखिलानि च ॥ श्रावयेद्यज्ञोपवीतीति शेषः ।

> अपसन्येन कर्तन्यं सर्वे श्राद्धं यथाविधि। स्कस्तोत्रजपं मुक्ता विप्राणां च विसर्जनम्॥

इति जमदग्निस्मरणात् । स्कस्ते।त्रग्रहणं भुआनेषु विषेषु यद्यज्जप्यं तस्य सर्वस्योपलक्षणार्थम् । वृहस्पतिस्तु मन्त्रादि-जपादन्यदपि कर्तव्यमाह—

भक्ष्यभोज्यगुणानुका भोजयेद्राह्मणान् शनैः।

इति । भोक्तारं भोजियतारं च प्रत्याह वृद्धशातातपः—

अपिक्षितं याचितव्यं श्राद्धार्थमुपकल्पितम्।

न याचते द्विजो मूढः स भवेत्पितृघातकः॥

अपेक्षितं यो न द्याच्छ्राद्धार्थमुपकल्पितम्।

कृपणो मन्दवुद्धिश्च न स श्राद्धफलं लभेत्॥

न केवलं श्राद्धफलालाभः अपितु कष्टतमजन्ममाप्तिरपि । तथाच निगमः—

> अपेक्षितं न दद्याद्यक्श्राद्धार्थमुपकल्पितम् । अथ रुच्छ्रासु घोरासु तिर्यग्योनिषु जायते ॥

यतु वायुपुराणेऽभिहितं—

याचते यादे दातारं त्राह्मणो ज्ञानवर्जितः ।

पितरस्तस्य रुष्यन्ति दातुभोंकुर्न संशयः ।।

यच यमेन-—

कुच्छ्रद्वादशरात्रेण मुच्यन्ते कर्मिणस्ततः ।
तस्माद्विद्वान्नेत्र द्यान्न याचेन्न तु दापयेत् ॥
इति । तत् श्राद्धार्थमनुपकिष्पतवस्तुविषयं, सामान्येनाभिधान्तात् । श्राद्धार्थमपकिष्पतान्नादिविषयेऽप्यत्यन्ताधिकं दाता न द्यात् । भोक्ता च न प्रतिग्रह्णीयात् । तथा च शङ्खिखितौ—
'नात्यधिकं द्यान्न प्रतिगृह्णीयात् ' इति । अत्यधिकान्नस्यापिग्रहणार्थं पूर्वपरिविष्टं प्रभूतमत्रास्ति किमन्येनेति भोक्रा न वक्तव्यं, किंतु हस्तसंज्ञया सूचनीयम् । तथाच तावेव—
'अन्नपानादि न प्रभूतमिति न्नूयुर्न्यत्र हस्तसंज्ञायाः' इति ।
निगमोपि—

नाम्नपानादिकं श्राद्धे वारयेन्मुखतः क्वचित्।
अनिष्टत्वाद्घदुत्वाद्वा वारणं हस्तसंज्ञया ॥
एवं याचनमपि न मुखतः कुर्यात्, मौनभङ्गप्रसङ्गात् । तेन
तदापि हस्तसंज्ञया कार्यम् । एवं दात्राञपि पुनर्दानसमये
अत्यधिकदानं न भविष्यतीति ज्ञापनार्थमीपहदामीति मुखतो
न वक्तव्यम् । किंतु तृष्णीं किंचित् प्रदर्भ पतिपेधस्चकहस्तसङ्केताभावेऽभ्यनुज्ञास्चकहस्तसङ्केते वा देयम् । यदाह यमः—

यावद्धविष्यं भवति यावदिष्टं भदीयते । तावदश्चन्ति पितरो यावन्नाह ददाम्यहम्।।

इति । परिविष्टात्रेषु यित्रस्वशेषतया भुक्तं यच भोकुं पुनः-पुनर्शृक्षते तत्तस्वेष्टामित्यनुमाय तदानीय पद्द्ये प्रतिषेधसूच-नाभावे देयम् । तथाच स एव—

यद्यद्रोचेत विषेभ्यस्तद्दद्याद्विमत्सरः । इति । मत्सरग्रहणं दोपान्तराणामुपलक्षणार्थम् । अत एव ब्रह्माण्डपुराणं—

> न चाश्रु पातयेज्जातु न शुक्तां गिरमीरयेत् । न चोद्वीक्षेत भुञ्जानं न च कुर्वीत मत्सरम् ॥ न दीनो न च वा कुद्धो न चैवान्यमना नरः । एकाग्रमाथाय मनः श्राद्धं कुर्यात्सदा बुधः ॥

इति । शुक्तां निष्ठुराम् । काष्ण्याजिनिरिप — कुर्यादथापरिश्रान्तो दम्भाहङ्कारवर्जितः । क्रोधं लोभं तथा मोहं वर्जयेच्छ्राद्धकर्मणि ॥

इति । समानेषु स्वस्य श्रेष्ठचिसद्धये परमश्रेष्ठानि भक्ष्यभो-ज्यानि दद्यादित्याह स एव—

> भक्ष्यभोज्यानि चोष्याणि पेयलेह्ययुतानि च। सर्वश्रेष्ठानि यो दद्यात्सर्वश्रेष्ठो भवेत्ररः॥

दत्तेषु भक्ष्यादिषु अतिहासः स्वेच्छया न किञ्चिदवशेपयेत्। Smbiti Cha.—Vol. V. 45

तथाच सुमन्तुः—

अक्रोधनो रसान् सम्यगद्याद्यद्यस्य रोचते । आतृप्तेर्भोजनं तेषां कामतो नावशेषणम् ॥ इति स्मृतिचन्द्रिकायां परिवेषणविधिः

अथान्यान्यपि निमन्त्रितब्राह्मणविषयाणि कानिचिद्वचनानि हिरूयन्ते.

तथाच प्रचेताः—

पीत्वाऽऽपोश्चनमश्चीयात् पात्रदत्तमगाहितम् । सर्वेन्द्रियाणां चापल्यं न कुर्यात्पाणिपादयोः ॥ इन्द्रियादिषु चापल्यं भोजनार्थव्यापारादभ्यधिकव्यापारः । तस्मिस्तु कृते भुक्तमन्नं न पितृन् भीणातीसाह हारीतः—

> उद्घृत्य पाणी विहसन् सक्रोधो विस्मयान्वितः । श्राद्धकाले तु यत् भुङ्के न तत्श्रीणाति वै पितॄन्॥

वोधायनोपि---

पादेन पादमाक्रम्य यो भुक्केऽनापिद द्विजः ।
नैवासौ भोज्यते श्राद्धे निराज्ञाः पितरो गताः ॥
वाग्व्यापारस्सर्वोपि न कार्यः । यदाह निगमः—'तूष्णीं भुद्धीरत्नविद्योक्यमाना अनुदृत्य पात्रम्' इति । अविद्यो-क्यमानाः दिश इति शेषः । मनुरपि—

अत्युष्णं सर्वमन्नं स्यादश्नीरंश्चैव वाग्यताः ।

न च द्विजातयो ब्रूयुः दात्रा पृष्टान् हिनर्गुणान् ॥
अश्नीरंश्चैवेसेवशब्देन एकपङ्कचुपिवष्टब्राह्मणेषु भुङ्गानेषु कथिचदन्योन्यस्पर्शने सत्यपि भोजनोपरमो नैव कार्य इसाह ।
अत एव शङ्कः—

श्राद्धपङ्कौ तु भुञ्जानो त्राह्मणो त्राह्मणं स्पृशेत्। तदन्नमसजन् भुक्ता गायव्यष्टशतं जपेत्॥ वाग्यमनविधानादेव हविर्गुणवचननिपेधासिद्धौ पुनर्निपेधो ह-स्तसङ्केतेनाप्यतत्स्चनार्थः। अतो हस्तसङ्केतेनापि हविर्गुण-कथने दोषमाहात्रिः— .

हुद्धारेणापि यो ब्र्याद्धस्ताद्वाऽपि गुणान्त्रदेत् ।

भूतल्लाचोद्धरेत्पात्रं मुखेद्धस्तेन वाऽपि तत् ॥

मौदपादो बहिःकक्षो वहिर्जानुकरोऽथवा ।

अङ्गुष्ठेन विनाऽश्वाति मुखग्रब्देन वा पुनः ॥

पीताविश्वष्ठतोयादि पुनरुद्धत्य वा पिवेत् ।

खादिनार्धं पुनः खादेत् मोदकादि फल्लानि वा ॥

मुखेन वा धमेदकं निष्ठीवेत् भाजनेऽथवा ।

इत्थमश्चन् द्विजः श्राद्धं हत्वा गच्छस्रघोगतिम् ॥

मौदपाद आसनाध्यारोपितपादः । वहिःकक्ष उत्तरवासोविहभूतकक्षद्वयः । भूतलात्पात्रोद्धरणे दोषोऽन्नाद्याधारमहाभाजनविषयः ! पानाद्याधारलद्भुपात्रस्य 'पुनरुद्धस्य वा पिवेत्' इत्य-

नेनोद्धाराभ्यनुज्ञावगमात्। यत्तु देवलेनोक्तं—
अन्नपानकशीतोदं दद्द्धिरवलोकितः।
वक्तव्ये कारणे संज्ञां कुर्वन् भुङ्गीत पाणिना॥
इति । अपेक्षानुसारेणान्नपानशीतलवार्यादिदातृभिरपेक्षां ज्ञातुमवलोकितः क्षुत्पिपासादिलक्षणे अपेक्षादेः कारणे वक्तव्ये
पाणिना संज्ञां सङ्कतं अपेक्षादिस्चकं कुर्वन् भुङ्गीतेति
तस्त्रार्थः प्रत्येतव्यः। न तु स्वादुत्वादिहविर्गुणरूपे अपेक्षाकारणे संज्ञां कुर्वनिति, एवंविधार्थपरिग्रहे पूर्वोक्तवचनिरो
धापतेः। अन्नपानदात्रा तु हविर्गुणप्रक्षोऽत्यर्थं दोषत्वान्न
कार्य इत्याह श्रञ्जः—

श्राद्धे नियुक्तान् भुआनात्र पृच्छेद्धवणादिषु ।
उच्छिष्टाः पितरो यान्ति पृच्छतो नात्र संशयः ॥
दातुः पतित वाहुर्वे जिह्वा भोकुश्च भिद्यते ।
इति । लवणादिषु न्यूनाधिक्याभावेन इविषः साद्गुण्यं पुनरपि
प्रदानार्थं न पृच्छेत् । न च पृष्ट्वा सम्यक्तेन ज्ञातं दद्यात्,
'दातुः पतित बाहुः' इति दोपश्रवणात् । 'जिह्वा भोकुश्च
भिद्यते' इति निन्दावलाद्धविषस्साहुण्णं सङ्केतेनापि भोक्ता
न सूचयेदिति निषेधविधिर्गम्यते । पादुकयोरुपविष्टपीठे वा
पादौ निधाय न निमन्त्रिता अश्वीयुरित्याह विष्णुः—'अश्वीयुर्वाह्मणा न सोपानत्काः न पीठोपिर निहितपादाः' इति ।
अत्र द्वितीयनिषेधातिक्रमेण यो भुङ्के तस्य दोपमाह द्वद्शातातपः—

आसने पादमारोष्य यो भुक्के द्विजसत्तमः ।
हिनत देवं च पित्र्यं च तद्भं च प्रजाः पशुन् ॥
निषेधान्तरमाह प्रचेताः—

न स्पृशेद्वामहस्तिन भुक्षानोऽन्नं कदाचन । न पादौ न शिरो वास्ति न पदा भाजनं स्पृशत्ते ॥ निगमोपि---

मांसापूपफलेक्ष्वादि दन्तच्छेदं न भक्षयेत्। ग्रासशेषं न पात्रेऽस्थेत्पीतशेशं च नो पिभेत्॥ दन्तच्छेदं न भक्षयेत् इस्तेन मांसादि धृत्वा स्वरूपं स्वरूपं दन्तै-श्चित्वा न भक्षयेत् ग्रासशेषं आस्थापितग्रासशेषं पुनर्भाजने नास्येत् न क्षिपेत्। उशनाऽपि—

भाजनं तु न निक्शेपं कुर्यात्माज्ञः कथञ्चन ।
अन्यत्र घध्नः क्षीराद्वा क्षीद्रात्सक्तुभ्य एव च ॥
इति, यत्तु जमदाग्नेनोक्तं 'न निन्देयुर्नावशेषयेयुः' इति, तत्
अधिकावशेषविषयम् । यतोऽनन्तरमाह स एव—

'अरुपं पुनरुत्स्रष्टव्यं तस्यासंस्कृतप्रभीतानां भागधेय-त्वात्' इति । प्रचेता अपि वर्जनियमाह — दन्तच्छेदं इस्तपानं वर्जयेचातिभोजनम् । इति । इस्तपानं इस्तेन पेयादिपानं वर्जयेत् । अपितु लघुपात्रेण कुर्यात्। अतिभोजनं तृप्ते स्थामपि भोजनम् ॥

इति स्मृतिचन्द्रिकायां निमन्त्रितभोक्तुविषयाणि॥

अथान्नाविकिरणादिवि।धेः।

तृप्तिं बुद्धान्नमादाय सातिलं पूर्ववज्जपेत् । तृप्तिं पृच्छेत्....॥

इति। पूर्ववज्जपेदित्यादेरथीः कात्यायनेन पपश्चितः 'गायत्रीं मधु मध्विति च जापित्वा तृष्तास्स्य इति पृच्छिति ' इति । एवं पृष्टाः ते विप्ताः तृषाः स्मः, इति ब्रूयुः

तृष्ताः स्थ इति पृष्टास्ते ब्र्युस्तृप्तास्स्म इयपि । इति व्यासस्मरणात् । तृप्ताः स्मः इत्युक्ते अनन्तरं ब्रह्माण्डपुराणं—

प्रोक्ष्य भूमिमथाद्भिस्तुभूमौ पितृपरायणः।
ततो विकिरणं कुर्याद्विधिदृष्टेन कर्मणा॥
किं पुनार्विधिदृष्टं कर्मेस्रपेक्षिते मनुः—

सार्ववर्णिकमन्नाद्यं संनीयाष्ठाव्य वारि**णा** । समुस्रजेद्भुक्तवतामग्रतो विकिरं भुवि ॥

सर्वे विषयुक्तात्रव्यञ्जनवर्णाः प्रकारा यस्मित्रत्राचे तत्सर्ववर्णिकं अन्नाचं संनीय यद्यद्रत्रं विष्टैरुपभुक्तं ततस्तत एकदेशमव-दायावदाय कचित्पात्रे एकीकृत्यत्यर्थः ।

मत्स्यपुराणे-

भुक्तवत्मु ततस्तेषु भाजेनवाऽन्तिके नृप *। सार्ववर्णिकमन्नाद्यं संनीयाष्ठाव्य वारिणा ॥

^{* &}lt;del>स्वतः

समुत्स्रजेद्धक्तवतामग्रतो विकिरेद्भावि ।

आष्ठाच्य अवोक्ष्येसर्थः । समुत्स्रेजत् विनिश्चित् । 'ये अग्नी-ति भुवि क्षिपेत्' इति प्रचेतसाऽभिधानात् । ये अग्नीति मन्त्रः कासायनेन दक्षितः—

> ये अग्निदम्धा ये अनिग्निग्दधा ये त्रा जाताः कुले मम । भूमौ दत्तेन पिण्डेन तृष्ता यान्तु परां गतिम् ॥

इति। यद्यपि भूमा दत्तेनित मन्त्रवर्णात् विधायकसर्ववचनेषु भुवीत्यभिधानाच न दर्भास्तरणमत्रास्तीति त्रतिभाति। तथाऽपि 'दर्भेषु विकिरश्च यः' इति मनुवचने दर्भसत्त्वानुवादद्शनाद्द-भानास्तीर्यं तत्र विकिरो देय इति विधिः कल्पचते। तेन दर्भास्तृतभूमौ विकिरो देयः न केवलायामिति मन्तव्यम्। सार्वविणकान्नोद्धरणादि सर्वे प्राचीनावीतिना कार्यम्। स्का-दिजपन्यतिरिक्ते श्राद्धकर्मणि प्राचीनावीतित्वाभिधानात्। विकिरनिक्षेपस्थाने विक्षेपात्पूर्वे पिण्डदानोक्तप्रकारेण तूष्णीं सतिलं वारि क्षिप्त्वा विकिरस्योपारि पुनः सतिलं वारि निक्षेप्तव्यम्॥

उदङ्मुखानां विष्ठाणां पुरतस्सोदकं ततः । अत्रं तु किरेत् भक्त्या.....॥ इति मार्कण्डेयेनोक्तत्वात् । अत्रं विकीर्यानन्तरं उपवीती भूत्वाऽऽचामेत् । अनाचमने दोपस्मरणात् । तथाच मरीाचिः— श्राद्धेषु विकिरं दत्वा यो नाचामेन्मातिश्रमात् ।

पितरस्तस्य पण्मासं भवन्तुचाच्छिष्टभोजिनः ॥

तदनन्तरं ब्राह्मणांश्राचमयेत् । तथाच पदालसावाक्यम् ॥

..... प्रकीर्य भुवि सर्वतः ।

तदन्वाचमनाथाय दद्यादापस्सकृत्सकृत् ॥

तदनु अन्नविकिरणात्पश्चादाचमनार्थाय नित्यभो जनानियमेषु उक्तं 'अमृतािपधानमासि' इति मन्त्रपूर्वकं यद्गण्डूषं तद्रथं वैश्वदैविकिविमपूर्वकं प्रतिविमं सकृत्सकृद्रपो निनयेदित्यर्थः । गण्ड्पकरणं च विश्वदैस्तलेपप्रक्षाळनमकृत्वैव कार्यमिति स्चियतुं सकृत्सकृद्द द्यादित्युक्तम् । एवंच यथा इस्तप्रक्षाळनं कृत्वा गण्डूपकरणे निसमोजने पुरुषार्थविध्यतिक्रमात्पुरुषदोषः, तथाऽत्र श्राद्धार्थविध्यातिक्रमात्पुरुषदोषः, तथाऽत्र श्राद्धार्थविध्यातिक्रमात्पुरुषदोषः, तथाऽत्र श्राद्धार्थविध्यातिक्रमात्त्रणुरुषदोषः, तथाऽत्र श्राद्धार्थन्यातिक्रमात्त्रणुरुषदोषः, तथाऽत्र श्राद्धार्थन्यातिक्रमात्त्रणुरुषदोषः, तथाऽत्र श्राद्धार्थन्यातिक्रमात्त्रणुरुषदोषः, तथाऽत्र स्वर्षाचिः—

इस्तौ प्रक्षाळ्य गण्ड्षं यः पिवेद्विचक्षणः। आसुरं तद्भवच्छाद्धं पितृणां नोपतिष्ठते॥

इति। गण्हूपं यः पिवेत् भोजने विरते 'अस्तापिधानमित' हित मन्त्रेणापो यः पिवेदित्यर्थः। गण्डूपार्थोदकदानानन्तरं विष्णुः— 'उदङ्मुखेष्वाचमनमादौ दद्यात् प्राङ्मुखेषु ततः प्रोक्षणं इति श्राद्धशेषं प्रोक्ष्य दर्भपाणिस्सर्वे कुर्यात' इति। पैतृकब्राह्मणेषु प्रथमं हस्तप्रक्षाळनपूर्वकाचमनार्थनपो दत्वा पश्चाद्वैश्वदैविक- ब्राह्मणेषु दत्वा 'सुप्रोक्षितम्' इति मन्त्रेण श्राद्धदेशं प्रोक्ष्य

दर्भपाणिस्सर्वमुपारितनं कर्म कुर्यादित्यर्थः । एवम्भूतहस्तप्रक्षाळ नपूर्वकाचमनकमविधिं हेतुविन्नगदार्थवादसाहितमाह शातातपः-

> विश्वेदेविनविष्टानां चरमं हस्तथावनम् । विसर्जनं च निर्दिष्टं तेषु रक्षा यतास्थिरा ए इति ॥ इति स्मृतिचिन्द्रिकायां अन्नाविकिरणादिविधिः

अथ पिण्डदानाविधिः.

तत्र मनुः--

पिण्डिनिर्वापणं केचित् पुरस्तांदव कुर्वते ।

इति । ब्राह्मणभोजनात्पुरस्तात् तेषामचनानन्तरं अग्रीकरणान्तन्तरं वा पिण्डिनिर्वापणं केचित्कुर्वत इयर्थः । एवमेव स्ष्ट-त्यन्तरेषु भोजनात्पुरस्तात्पण्डिनिर्वापणस्य कालद्वयदर्शनात् ।
केचिदितिवचनादपरे ब्राह्मणभोजनात्परस्तादाचमनात्प्रागूर्ध्वं वा (ब्राह्मणविसर्जनाद्ध्वं वा) पिण्डिनिर्वपणं कुर्वत इत्यवग-म्यते । स्मृयन्तरेषु ब्राह्मणभोजनाद्ध्वंमेव कालद्वयदर्शनात् ।
अत्र यथास्वशाखं व्यवस्था । तथाच स्मृत्यन्तरम् —

मृनिभिभिन्नकालेषु पिण्डदानं तु यत्स्मृतम् ।

तत्स्वशाखामतं यत्र तत्र कुर्याद्विचक्षणः ॥

तत भिन्नकालेष् स्मृतं पिण्डदानं यस्मिन् काले कृतं स्व-

तत् भिन्नकालेषु स्मृतं पिण्डदानं यस्मिन् काले कृतं स्व-शाखायामनुमतं अनुगृहीतं भवति तस्मिन् काले कुर्यादित्यर्थः। Smriti Cha.—Vol. V. त्राह्मणभोजनात्पुरस्तात्परस्तोद्वेति पक्षद्वये व्यवस्थामाह स्रो काक्षिः---

अप्रशस्तेषु यागेषु पूर्व पिण्डावनेजनम् ।
भोजनस्य प्रशस्तं तु पश्चादेवोपकरपयेत् ॥
अप्रशस्तेषु यागेषु सपिण्डीकरणाख्यश्राद्धात् पूर्व विहितश्रा
देषु । अवनेजनं अवाचीनपाणिना निर्वपणम् । भोजनस्य
निमन्त्रितब्राह्मणभोजनस्य । प्रशस्तं सपिण्डीकरणादिश्राद्धेषु
कियमाणं भोजनात्पश्चादेव यथाकाल्रमुपकरपयेत् । एवश्च
पार्वणश्राद्धे भोजनात्पश्चादेव स्वशाखानुमते काले पिण्डं
दद्यात् । तत्राश्वलायनशाखिनां ब्राह्मणभोजनादृध्वं तेष्वाचान्तेषु पिण्डदानकालः । तथाऽऽश्वलायनः—- 'भुक्तवत्स्वाचान्तेषु पिण्डं निद्ध्यादनाचान्तेष्वेके ' इति । तत्र अनाचान्तष्वेके
इति पक्षस्य सौकर्यात्स्वगृद्धानुक्तकालविशेपैरप्ययमेव पक्षो
ग्राह्यः । याज्ञवल्क्यस्तु पिण्डदानमकारमाइः—

सर्वमत्रमुपादाय सितलं दक्षिणामुखः।
जिच्छष्टसित्रिधौ पिण्डान् दद्यात्तु पितृयज्ञवत्॥
श्राद्धार्थपाकसिद्धं सर्वपकारमत्रं स्तोकंस्तोकमुद्धृत्य कचित्पात्रे
समवदाय तदन्नमयान् पिण्डान् स्वशाखाविहितापिण्डपितृयज्ञविधानेन स्मृतिकारोपदिष्टेन सितलत्वदक्षिणामुखत्वादिविश्चे-

पसिहतेनोच्छिष्टसंनिधौ दद्यादिसर्थः । नन्चिछिष्टसिन्निधिरशु-चिर्देशो भवतीति तत्र कथं पिण्डदानं विधीयत इत्यासङ्कचाहात्रिः- पितृणामासनस्थानाद्यतिस्वष्वरित्नषु ॥

उच्छिष्टसित्तधानं तन्नोच्छिष्टासनसिन्नधौ ॥

उच्छिष्टसम्पर्करिहितासन्नदेशोपलक्षणार्थं त्रिष्वरित्तिष्वत्युक्तम् ।

तेन नात्र त्रचरित्निनयमः । अत एव जातूकर्ण्यः—

व्याममात्रं समुत्सुज्य पिण्डांस्तत्र प्रदापयेत् ।

इति । पारस्करोापि—

पात्राणां वाहुमात्रेण पिण्डदानं विधीयते। इति ॥ पात्राणा मुच्छिष्टाशनवदमत्राणां आधारस्थानात् । वाहुमात्रेण वाहुमात्रमुत्स्रजेदित्यर्थः । व्यासोपि—

अरात्निमात्रमुत्स्रुज्य पिण्डांस्तत्र प्रदापयेत् । यत्रोपस्पृशतां वाऽपि प्राप्तुवन्ति न विन्दवः ॥ इति । कार्ष्णाजिनिरपि पिण्डापितृयज्ञविधानेन क्रियमाणे पिण्ड-दाने विशेषमाह—

> अन्नं पात्रे समुद्धत्य सर्वस्य प्रकृतस्य तु । रोषान्नपश्चपूर्वे तु दद्यात्पिण्डान् क्रमेण तु ।

इति। शेषमन्नं पिण्डार्थमुद्धृताच्छेपं सर्वं प्रकृतमन्नम्। तस्य एवंविधशेपान्नस्य प्रश्नः तत्पूर्वकं पिण्डान दद्यात् । शेषमप्यस्ति
किं क्रियतामिसेवंविधं प्रश्नं कृत्वा तदनुगुणं विष्राणामुत्तरं
च श्रुत्वा पश्चात्पिण्डदानविधं कुर्यादिति यावत्। किंपुनस्तदनुगुणमुत्तरं विभैर्वक्तव्यमित्येपक्षिते तत्म्चनार्यमुशनसोकं—
'तैरनुज्ञातः शेपमिष्टभ्यो द्यात्स्वयं वा भुझीत' इति । इष्टभ्यो

दद्यात् इष्टान् भोजयेत् स्वयं चा भुञ्जीतेत्यर्थः । वाशब्दोत्र चशब्दार्थे द्रष्टव्यः, 'भुञ्जीत पितृसेवितम् । इति याज्ञवल्क्येन निसवद्भोजनविधानात् । यत एव पितृसेवितावाशिष्टभोजनं निसं अत एवैकादश्याम्रपवासिसद्धये पितृसेवितशेषभाजनस्थाने प्रसाम्नायः स्मर्थते —

उपवासो यदा नित्यः श्राद्धं नै।मित्तिकं भवेत् ।
उपवासं तदा कुर्यादाघ्राय पितृसेवितम् ॥
इति। यत्पुनरौशनसवचनगतवाशब्दस्य प्रसिद्धार्थत्वमभिसन्धाः
याभिहितं देवस्वामिना 'भुञ्जीत पितृसेवितमित्येतन्न नैयमि
कम्' इति । एवञ्च स्वयं वा भुञ्जीतेयौशनसवचस्थवाशब्देन
पितृसेवितशेषभोजनस्य पाञ्जिकत्वावगतेभेञ्जीत पितृसेवितामि
त्येतद्याश्चरकीयं विधानं न नैयमिकं न नित्यं इति तदीयग्रन्थस्वार्थः। तदेतच्चिन्तचम् —याज्ञवरकीयं चवचनं नित्यं, प्रसाम्नायवचनस्य दर्शितत्वात् ।

श्राद्धं कृत्वा तु यो विष्ठी न भुक्के तु कदाचन ।
देवा हिवर्न गृह्णन्ति कव्यानि पितरस्तथा ॥
इति देवलेन पितृसेवितशेषभोजनाकरणे दोषस्मरणाच । एवअष्टैष्टस्सह भुज्यतामित्यभ्यनुज्ञारूपमुत्तरं विष्ठेदेयमित्युशनसा सचितिमिति मन्तव्यम् । देवलोपि पितृयज्ञविधानेन पिण्डदाने विशेपमाह—

ततस्तर्वाशनं पात्रे गृहीत्वा विधिवत्स्वयम् ।

तेपामुच्छेपणस्थाने तेन पात्रेण निक्षिपेत् ॥
तेषां भुक्तवतां ब्राह्मणानां उच्छेषणस्थाने उच्छिष्टसिश्राः
वित्यर्थः । पात्रेण निक्षेपो नैयमिको न भवति । यदाह
मरीचिः—

पात्राणां खड्डपात्रेण पिण्डदानं विधीयते । राजतौदुम्बराभ्यां वा हस्तेनैवाथवा पुनः ॥

हस्तेनेति पक्षः श्रेयानित्यर्थं एवकारः कृतः, न पुनरवधारः णार्थः । तथात्वे पूर्वापरिवरोधो देवलवचनितरोधश्च स्वात् । पिण्डिनवापणस्थाने प्रथमं यत्कर्तव्यं तद्वस्नाण्डपुराणे दर्शितं—

सन्योत्तराभ्यां पाणिभ्यां कुर्यादुछेखनं द्विजः।
प्रघर्षणं ततः कुर्याच्छ्राद्धकर्मण्यतान्द्रितः।।
खण्डनं पेपणं चैत्र तथैवोद्धेखनक्रिया।
सक्रदेवपितॄणां स्थादेवानां तु त्रिरुच्यते॥

खण्डनं वर्हिरादेच्छेदनम् । पेषणं भूमिघर्षणादिकम् । उक्केखन-क्रिया पिण्डनिर्वापणलेखाकरणम् । केनोल्लेखनं कार्यमित्य-पेक्षायामुक्तं तत्नैव—

वज्रेण वा कुशैर्वाऽपि उछिखेतु महीं द्विजः । इति । वज्रेण स्पयेनेत्यर्थः । 'वज्रो वै स्पयः' इति श्रुतेः । पारस्करेण तु स्पयशब्देनैवोक्तं—

कराभ्यामुछिखेत् स्पयेन कुशैर्वाऽपि महीं द्विजः।

इति । कराभ्यां गृहीतेन स्प्येन गृहीतैः कुशैर्वा महीं लि-खेदित्यर्थः । अत्र मन्त्रमाह कात्यायनः— 'उल्लिख्यापहताः' इति । 'अपहता असुरा रक्षांसि पिशाचा वेदिपदः' इति मन्त्रेणोद्धिरुपेत्यन्वयः । अनेन मन्त्रेण स्पर्यनोद्धेखनं पितृ यज्ञवदियनेन पाप्तम् । उद्घेखनानन्तरं उद्घिखितदेशमवेक्षित 'स्प्येन तेपामुझिखेदपहता असुरा रक्षांसि पिशाचा वे-दिषद इति तामवोक्ष्य' इत्याश्वलायनेन पिण्डपित्यज्ञधर्मक-थनेऽभिधानात् । रेखां दक्षिणाषाचीमुछिखेत्, 'सर्वेकर्मणि तां दिशम् दिति परिभाषायां तेनैवोक्तत्वात् । अवोक्षि तदेशे कुशानास्तृणुयात्, 'क्षिपेत् कुशांस्तत्र च दक्षिणांग्रान् ' इति पुराणेऽभिधानात् । इदमापे पिण्डपितृयज्ञवदित्यनेनैव पाप्तं, सकुदाच्छिन्नेरवस्तीर्येति पिण्डपितृयज्ञे विहितत्वात्। एवश्च दक्षिणाग्रत्वमात्रमेव पौराणिको विशेषः । कुशालाभे विष्णुधर्मोत्तरेऽभिहितं--

> पिण्डिनर्वपणं कार्यं कुशालाभे विचक्षणैः। काशेषु राजदूर्वासु पवित्रे परमे स्मृते॥

राजदूर्वीसु अतिदीर्घदूर्वीसु । कुशास्तरणे विशेषो वायुपुराणे दिशतः ।

सकृदेवास्तरेद्दर्भान् पिण्डार्थे दक्षिणामुखः । प्राग्दक्षिणाग्रान्नियतः ॥ इति । एवश्च दक्षिणाप्रतया सह दक्षिणाप्रागग्रताया विक-हपो वेदितच्यः । दभीस्तरणानन्तरं सुमन्तुः— असाववनेनिङ्क्ष्वेति पुरुपं पुरुपं प्रति । त्रिस्त्रिरेकेन हस्तेन विद्धीतावनेजनम् ॥ असावित्यत्र पित्रादीनां गोत्रसहितनामग्रहणं सम्बोधनरूपेण कत्वा अवनेनिङ्क्ष्वेति वक्तव्यं.

पिण्डोदकपदानं तु नित्यनैमित्तिकेष्वापि ।
आलभ्य नाम गोत्रेण कर्तव्यं सर्वदैव हि ॥
इति व्यासस्मरणात् । आलभ्य पित्रादीन् सम्बोध्येत्यर्थः ।
एकेन हस्तेनेसञ्जलिनवृत्त्यर्थमुक्तम् । तथाच सुमन्तुः—
श्राद्धे सेचनकाले तु पाणिनैकेन दीयते ।
तर्पणे तूभयं कुर्यादेष एव विधिस्सदा ॥

इति । एकेन पाणिना सन्येतरेण । अपसन्येन हस्तेन निर्वपेदुदकं भुवि । इति मनुस्मरणात् । अपसन्यहस्ते प्रदेशविशेषो मदालस-योक्तः—

पितृतीर्थेन तोयं च दद्यात्तेभ्यस्समाहितः।
इति । तेभ्यः पितृभ्यः । चशब्दात्सितिलं तोयं प्रसेतव्यम् ।
तथाचोशनसोक्तं— 'तिलामिश्रितोदकेनासिच्य दभीस्तीर्णायां
भूमौ पिण्डात् दद्यात्' इति । कात्यायनस्त्ववनेजनमुद्रपात्रेण
कर्तव्यमित्याह— 'उद्पात्रेणावनेजयत्यसाववनेनिङ्क्ष्वोति यजमा-

नस्य पितृपभृतींस्त्रीन् 'इति। आश्वलायनस्त्ववनेजने मन्त्रान्तरमाह— 'प्राचीनावीती रेखां त्रिरुदक्षेनोपनयेच्छुन्धन्तां पितरः
शुन्धन्तां पितामहाः शुन्धन्तां प्रापितामहाः 'इति। कात्यायनस्त्व
वेनजनानन्तरं वाईरास्तरणं कार्यामित्याह— 'उपमूलं च
सक्टदाच्छित्रं रेखायां कृत्वा यथाऽवृत्तिक्तं पिण्डान् ददाति 'इति।
अवनेजनवाईरास्तरणयोः पौर्वापर्यविकल्पे यथास्वशाखं व्यवस्था। एवमेवावनेनिङ्क्ष्व शुन्धन्तां पितर इत्यादिमन्त्राणामपि
यथास्वशाखं व्यवस्था। ऐवमेवावनेजनकरणभूतहस्तोदपात्रयोरिप। यथाऽविनक्तं पिण्डदाने मन्त्रानाह कास्रायनः 'असावेतत्ते
इति, ये च त्वमन्विति चैके 'इति । असाविसत्र पित्रादीनां
सम्वोधनरूपेण गोत्रसाहितनामग्रहणं कृत्वा एतत्ते इति वक्तव्यम्।

पिण्डोदकपदानं तु नित्यैनामित्तिकेष्वापि ।
आलभ्य नाम गोत्रेण कर्तव्यं सर्वदेव हि ॥
इति व्यासस्मरणात् । एवं च अमुकगोत्रामुकशमिन्नतत्ते इति
पिण्डदानमन्त्र उन्नेयः । 'ये च त्वामनु इति चैके' इति
पक्षे मन्त्रत्रयेऽप्येतत्ते इत्यस्मादनन्तरं 'ये च त्वामनु' इति मन्त्रशेपो द्रष्टव्यः । आश्वलायनस्त्वन्यथा पिण्डदानमन्त्रानाह—'एतत्तेऽसौ, ये च न्वामनु' इति । अवापि असावित्यत्र संवोधनरूपेण पित्रादीनां गोत्रसहितनामग्रहणं कर्तव्यम् । नन्वेतत्ते
इत्यत्रैतदिति कथं नपुंसकलिङ्गनिर्देशः, पिण्डस्यैतच्छब्दा-

भिषेयत्वात्तस्य च पुछिङ्गत्वात् । अत एव गोभिछेन—' असा-वेष ते पिण्डो ये च त्वामनु' इत्युक्तम् । अत्र केचित् एतते पिण्डरूपमन्नामित्यध्याहारः कार्य इसाहुः, तद्युक्तम् । अग-त्याऽध्याहार आश्रयणीयः । अस्ति चात्र गातिः 'कुद्धस्य पिण्डं पताति' इति वृद्धप्रयोगदर्शनात् । नपुंसकछिङ्गोपि भूरिप्रयोगसिद्धः पिण्डशब्दोस्ति । तेन पिण्डदानमन्त्रेऽपि ए-तत्विण्डं तवेत्यध्याहारं विनैत्रार्थोऽवगन्तव्यः । अवनेजनादिकं च सर्व पितृयज्ञविद्यनेनेव पाप्तम् । सतिछत्वमात्रं तु विशेषः। पिण्डेऽपि सतिछत्वरूपो विशेषो मदाछसयोक्तः—

> सतिलेन ततोऽन्नेन पिण्डांस्त्रीनेव पुत्रकः । पितॄनुद्दिश्य दर्भेषु दद्यादुच्छिष्टसंनिधौ ॥

पितृन् यजमानस्य जनकादीनित्यर्थः । तथाच कार्णाजिनिः—
तेपां लोकान्तरस्थानां वान्धवैर्नामगोत्रनः ।
अपसन्येन दर्भेषु पिण्डा देयास्त्रयस्तु वै ॥

तेषां पितृपितामहप्रिपामहानाम्। अपसव्येन दक्षिणहस्तेन। लोकान्तरस्थानामित्यत्र मृतानामिति ज्ञापयितुमाह स एव—

नाना तु जातय इह तिर्यग्योनिषु जातिषु ।

पिण्डभाजो भवन्सेते तासुतासु च योनिषु ॥

इह इहलोक इत्यर्थः । अनेन पिण्डदानरूपश्राद्धेशपि यजमानस्य पूर्वपुरुषा एव देवताः न वस्वादय इति गम्यते ।

एवश्च यदुक्तं स्मृसन्तरे—

SMRITI CHA.-Vol. V.

मथमा वरुणो देवः प्रजापातिस्तथाऽपरः।

तृतीयोऽग्निस्सृतः पिण्ड एप पिण्डिविधिस्सृतः ॥
इति, तत् न वरुणादीनां देवतात्वप्रतिपादनपरं, किंतु यथा
वसुरुद्रादिसस्वरूपाः पितरः श्राद्धदेवता इति याज्ञवरुवयेना
वस्यागादौ वस्वादिरूपेण पित्रादयो ध्यातच्याः इसेवंपरतः
योक्तं, तथा पिण्डदाने वरुणादिरूपेण पित्रादयो ध्यातच्याः
इत्येवंपरतयोक्तामिति मन्तच्यम् । तेन यथाऽत्रत्यागे वस्वादि
रूपान् सपत्रीकान् पित्रादीन् चतुर्थ्यन्तेन पित्रादिपदेन
गोत्रनाममहितेनोद्दिश्यात्रसागः क्रियते तथैतते इति मन्त्रा
चारणानन्तरं वरुणादिरूपान् सपत्रीकान् पित्रादीनुदिश्य
पिण्डत्यागः कर्तच्यः । अथवा आवाहनादौ अन्नसागपर्यन्ते
पिण्डिनिर्वापणादौ च सर्वत्रात्मानमनिरुद्धत्वेन पद्युम्नसंकर्षणवा
सुदेवरुपेण पितृपितामहत्रपितामहांश्च यथाक्रमेण ध्यात्वा आन्वाहनादिकं कुर्यात् । तथाच भविष्यत्पुराणे—

अनिरुद्धस्त्वयं देवः प्रद्युम्नस्तु पिता स्मृतः ।
सङ्कर्पणस्तज्जनको वासुदेवस्तु तित्पता ॥
स्वयं श्राद्धकर्ता अनिरुद्धो देवः । श्राद्धकर्तुः पिता प्रद्युम्न
स्स्मृतः । तज्जनकः श्राद्धकर्तृपितृजनकः सङ्कर्पणस्समृतः ।
तित्पता श्राद्धकर्तृपितृजनकापिता वासुदेवस्समृत इत्यर्थः । पिण्डदाता पिण्डदानसमये सन्यं जान्वाच्य पिण्डदानं कुर्यादिति
वायुपुराणेऽभिहितं—

मधुसापिंस्तिल्युतान् त्रीन् पिण्डान्तिर्वपेद्धधः ।
जानु कृत्वा तथा सन्यं भूमौ पितृपरायणः ॥
सन्यं जानु भूमौ कृत्वा सन्यं जान्वाच्येत्यर्थः । एतत् पितृयज्ञविद्यनेनैव सिद्धम् । त्रीन् पिण्डानिति वदन् मात्रादीनां
पृथािवपण्डािनर्वापणाभावं दर्शयित । तेन सपत्नीकस्य पित्रा-

देरेकैकः पिण्डो निर्वपणीयः। पिण्डप्रमाणमाह व्यासः—

द्विहायनस्य वन्सस्य विशयास्ये यथासुखम् । तथा कुर्योत्प्रमाणं तु पिण्डानां न्यासभाषितम् ॥

द्विहायनो द्विवर्षो वत्सः । प्रमाणान्तराण्याहाङ्गिराः — कपित्थविल्वमात्रान् वा पिण्डान् दद्याद्विधानतः । कुक्कुटाण्डप्रमाणान्वा यदि वाऽऽमलकैस्समान् ॥ वदरेण समान्वाऽपि दद्याच्छ्रहासमन्वितः ।

इति । आमलके तु विशेषमाह मरीचिः— आर्द्रामलकमात्रांस्तु पिण्डान् कुर्वीत पार्वणे ।

अमात्रास्याख्ये पार्वणे । पिण्डिपितृयज्ञानन्तरं—
पितृयज्ञं तु निर्वर्धे विष्ठश्चन्द्रक्षयेऽग्निमान् ।
पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं कुर्यान्मासानुमासिकम् ॥

इति वचनेन यदिहितं तदिद्ममावास्यारूपपर्वसंवन्धलक्षणपृष्ट-चिनिमित्तेन योगेन रूढ्या वा पार्वणशब्देनोच्यते। तथाच शातातपः— दर्शश्रादं च यत्रोक्तं पार्वणं तत्मकीर्तितम्।
इति । तत्र ब्राह्मणिनमन्त्रणादिसर्वधर्माणामाम्नानात् श्राद्धाः
न्तराणां सर्वेषां प्रकृतिभूतं तदिस्रवगन्तव्यं, तिहकुतिभूत
मितरदेकोदिष्टादिश्राद्धम्। एवञ्च पार्वणग्रहणमन्तरेण आद्रीमलक्षप्रमाणस्य प्रकरणादेव पार्वणार्थत्वे लब्धे पार्वणग्रहणं
विस्पष्टार्थम्। एतेषु प्रमाणेषु सक्तचनुसारेण व्ययस्था कल्प्या।
प्रमाणान्तरमिष ब्रह्माण्डपुराणे वचोभङ्गचा दर्शितं—

त्रीन् पिण्डानानुपूर्वेण साङ्गुष्ठमुष्टिवन्धनात् । इति । साङ्गुष्ठमुष्टिग्राह्यममाणकात् किञ्चिदभ्यधिकानीत्यर्थः । आनुपूर्वेण दक्षिणापवर्गत्वदक्षिणाप्रागपवर्गत्वादिविरुद्धानुपूर्वे-ण । पितृयज्ञवदिस्रतिदेशेन पिण्डानां दक्षिणापवर्गत्वस्य दक्षि-णाप्रागपवर्गत्वस्य वा प्राप्तत्वात् । पिण्डानिर्वापणानन्तरं मनुः-

न्युष्य पिण्डान् पितृभ्यस्तु प्रयतो विधिपूर्वकम् । तेषु दर्भेषु तं इस्तं निमृज्याछेपभागिनाम् ॥

प्रितामहिपतिष्ठितिष्ठामहिप्रितामहाः छेपभगिनः । 'छेपभाजश्चतुर्थाद्याः' इति मन्स्येनाभिधानात् । छेपनिर्मार्जनमन्त्रमाह
विष्णुः—'अत्र पितरो मादयध्वं इति दर्भमूछेषु करावधःर्पणम्' इति । करावधर्षणं हस्तछेपनिर्मार्जनम् । करावधर्पणानन्तरं कात्यायनः— 'अत्र पितर इत्युक्ता उदङ्कास्ते
आतमनादात्मानमाद्यामीमदन्त इति जपति' इति । दक्षिणमात्मानमाद्य आतमनान् प्राणायामेन वायुपीडावधि उदङ्काख

आसीत । ततः यथाशक्यमनुच्छ्रसन्नेवाभिपर्यावृत्य' अमी मदन्त' इति अपित्वा पाणान्मोचयेत् इति। कर्मप्रदीपे विशेष उक्तः— वामेनावर्तनं केचिदुदगन्तं प्रचक्षते ।

आवृत्य प्राणानायम्य पितृन् ध्यायन् यथाईतः ॥ जपंस्तेनैव चावृत्य ततः प्राणान् प्रमोचयेत् ।

वामेनावर्तनं सन्येनावर्तनम् । उदगन्तं यावदावर्तनेनोदङ्मुखो भवति तावदावर्तनं कार्यं नाधिकावर्तनमिति गौतमाादैन्यति-रिक्ता मुनयः प्रचक्षते ।

सर्व गौतमशाण्डित्यौशाण्डिल्यायन एव च ॥

इति तत्रैवाभिधानात् । जपन् अयी मदन्तेति तेनैवावृत्य वामेनैव
दक्षिणामुखान्तमावृत्य प्राणान्मोचयेदुच्छ्वसिदित्यर्थः । विष्णुस्तु
न्युप्ताष्ण्डानुमन्त्रणादिवासोदशादानान्तमाश्वलायनोक्तपितृयज्ञानुसारेणाह—'दत्वा च पिण्डान्निवृताननुमन्त्रयीतात्र पितरो
माद्यध्वं यथाभागमावृषायध्वम्' इति । ततस्सव्यावृदुदङ्मुखः
परावृत्य यथाशक्ति प्राणानां निरोधान्तं कृत्वा पर्यावृत्यामी
मदन्तेत्यनुमन्त्रच शेषावघ्राणं कृत्वा शुन्धन्तां पितर इति
पूर्वदुदकं निनीय पिण्डोपिर ततोसावभ्यङ्क्षेवत्यभ्यक्षनं दद्यादङ्क्षेत्रत्यक्षनमथ वस्त्रमभावे दशामूणीं वा 'एतद्वः पितरो वासो
मान्तेतोन्यत्पितरो युङ्ध्वम् दित्री । पिण्डानुष्त्वा शेषावघ्राणं
पात्रस्थशेपाभिघ्राणं पूर्ववदुदकनिनयनं तिल्यिश्रोदकावनेजनं
ततोऽवनेजनाननन्तरं असावभ्यङ्क्ष्व इति मन्त्रेणाभ्यक्षनं

पिण्डोपारे मितापिण्डं दद्यात् असावित्यत्र संबोधनरूपेण पित्रादीनां नामग्रहणं, असावङ्क्षेत्रे।ति मन्त्रेण पिण्डोपिर प्रतिपिण्ड-मञ्जनं दद्योदेतद्व इति मन्त्रेण प्रतिपिण्डं यथालाभं दशादिकं दद्यात्। यतु शक्केनोक्तं—

> क्षुमासूत्रं पदातव्यं कार्पासमथवा नवम् । दशां विवर्जयेत्पाज्ञो यद्यप्यहतवस्त्रजाम्।।

इति । क्षुमा अतसी । अत्र यद्यपि नित्यवदशाप्रतिषेधः प्रतिभति, तथाऽपि पूर्वोक्तस्सतौ दशाया विधानात् पोडशिग्रहः णाग्रहणवद्विकल्पोऽनुसन्धेयः । वस्त्राभावे पुराणेऽप्युक्तं—

स्त्राण्यूणी दशा वाऽपि पतिलों म प्रदापयेत ॥
इति । पतिः यजमानः । लोमप्रदानपक्षः पूर्ववयसि न भवति
यदाह कात्यायनः—'एतदः पितरः, इति स्त्राणि प्रतिपिण्डं
वयस्युत्तरे यजमानस्य लोमानि वा ' इति। उत्तरे वयासि पञ्चाशद्र्षाद्र्ध्वीमत्यर्थः। वाशब्दादुत्तरे वयासि लोमपक्षः पक्षान्तराण्यपि । एतत्सर्व 'पितृयज्ञवत्' इत्यनेन प्राप्तम् । अवनेजने
तु पितृयज्ञाद्विशेषमाह च्याघः—

अद्भिः प्रक्षाळ्य तत्पात्रं प्रतिषिण्डं तु पूर्ववत् ।
कृत्वाऽवनेजनं कुर्यात्पिण्डपात्रमधोविल्रम् ॥
इति। पूर्ववत् पिण्डपदानात्पूर्वं विहितावनेजनवत् । एवश्च द्वितीः
यावनेजनमपि पिण्डपात्रप्रक्षाळनोदकेन कार्यः, न तु पितृयज्ञवदुदः
कान्तरेण । अत एव—

पात्रानिर्णेजनेनैव पुनः पत्यवनेजयेत् । इति पुराणे एवकारःकृतः । एतद्व इति मन्त्रेण दशादाः नानन्तरं पितृयज्ञाद्विशेषमाह व्याघः—

गन्धपुष्पाणि धूपं च दीपं चैत निवेदयेत् ।
एतद्वः पितरो वासोदशां दत्वा पृथक् पृथक् ॥
एतद्व इति मन्त्रेण प्रतिपिण्डं वाससो दशां दत्वा गन्धादिकमपि
प्रतिपिण्डं दद्यादित्यर्थः। यत्तु विष्णुनोक्तं-'पिण्डनिर्वापणं कृत्वाऽहर्यपुष्पधूपानुलेपनान्नाद्यभक्ष्पभोज्यानि निवेदयेत् । उदपात्रं
मधुष्टुतातिलैस्संयुक्तं चेति' इति तत् पिण्डनिर्वापणानन्तरमध्यादिविषेषप्राष्त्यर्थम् । अन्यथाः—

न्युष्य पिण्डान पितृभ्यस्तु प्रयतो विधिपूर्वकम् ।
तेषु दर्भेषु तं इस्तं निमृज्याह्नेषभागिनाम् ॥
इति मन्त्पदिष्टयुक्ततरक्रमविरोधापत्तेः । तेनााध्यादिषदर्शनमात्रार्थं विष्णुवचनं, नतु पिण्डनिर्वापणानन्तर्यप्रतिपादनार्थमपीति
न व्याद्रोक्तानन्तर्यपारिपन्थीति मन्तव्यम् । यत्तु मत्स्यपुराणेऽभिहितं—

गन्धधूपादिकं दद्यात्कृत्वा प्रत्यवनेजनम् । इति, तत् प्रत्यवनेजनात्प्वं न गन्धादिदानमित्येवंपरम् । न तु प्रत्यवनेजनानन्तरमेव गन्धादिदानं कर्तव्यमित्यवंपरम्। प्र-कृतः पूर्वोक्तत्वादपूर्वमन्ते स्थात् ' इति न्यायेनावनेजनीनन्तरमभ्य-ञ्जनादिदानं तदनन्तरं गन्धादिदानामिति न्यायमूलकक्रमाभि- धायकप्रागुक्तव्याव्यवचनिवरोधापत्तेः। अतः एतद्पि न व्याघ्रो-क्तानन्तर्यपरिपन्थि । यतएव प्रस्वनेजनगन्धादिदानयोः परस्परक्रमपरं न मत्स्वपुराणवचनम् । अत एव विष्णुना प्रकृतिभूतिपण्डिपित्यज्ञक्रम एवात्रोक्तः— 'शुन्धन्तां पितर इति पूर्ववदुदकानिनयनं पिण्डोपिर तत्रोसावभ्यङ्क्ष्वेसभ्यक्षनं दद्यात्' इति । तस्माद्व्याघ्रवचनावगतक्रमेणं द्भां दत्वाऽनन्तरं गन्धा-दिना पिण्डाचनं कार्यामिति सिद्धम् । पिण्डाचनं प्रकृत्य पुराणे —

यितिश्चित्पच्यते गेहे भक्ष्यं भोज्यमगाईतम् । आनिवेद्य न भोक्तव्यं पिण्डमूले कथञ्चन ॥ तेन सर्वस्मादादाय पिण्डाचेने उपहारो देय इत्यभिष्रायः। पिण्डाचेनानन्तरं कर्तव्यमाह वृहस्पतिः—

धूपदींपैर्माल्यगन्धैः तदा वस्नाञ्जनादिना । समम्यच्योंदपात्रं तु तेषामुपरि निक्षिपेत् ॥ धूपदीप इत्यादिपाटक्रमो नात्र विवक्षितः श्लोका

धूपदीप इत्यादिपाठकमो नात्र विवासतः श्लोकसिद्धिपरत्वात्। ततश्चायमर्थः—अभ्यञ्जनाञ्जनवस्त्रगन्धमारुयधूपदीपसार्वविणिकान्नोपहारैः पिण्डान् समभ्यच्यं तेषां पिण्डानामुपिर पात्रपूर्णमुदकं तेनैव पात्रेण निनयेदिति। उद्पात्रनिनयनानन्तरं विष्णुः—''अथैनानुपतिष्ठते 'नमो वः पितरः' इत्यादिना 'मनोन्वाहुवामहे' इत्यूगन्तेन। अथैतान् पिण्डांश्वालयेत् 'परेत नः पितरस्सौम्या गम्भीरेभिः पथिभिः पूर्वभिः दत्वाऽथास्मभ्यं द्रविणेह भद्रं रिय

च नस्सर्ववीरान् नियच्छत'' इति । नमो वः पितर इत्या-दिना मन्त्रेण आश्वलायनपाठितेनेति शेषः । आश्वलायनो-क्तिपितृयज्ञकलपानुसारित्वाद्विष्णुस्पृतेः । मनोऽन्वाहुवामह इति त्यृचः अन्ते यस्य नमो वः पितर इसादिमन्त्रस्य असौ मनोऽ-न्वाहुवामह इति त्यृचान्तः । तेनात्र नमस्काराञ्चालि वध्वा उपस्थानं कर्तव्यं, मन्त्रलिङ्गानुगुण्यात् । अत एव नमस्कारा-ञ्जालमाश्रित्य नियममात्रमुक्तं ब्रह्माण्डपुराणे——

सन्योत्तराभ्यां पाणिभ्यां वदेन्मन्त्रमिमं सदा ।
नमो वः पितर इष इति सम्यगतिन्द्रतः ॥
'नमो वः पितरः' इति सम्यग्वदतः सन्योत्तराभ्यां पाणिभ्यां दक्षिणपाणिम्रत्तानं कृत्वा तदुपरि सन्यपाणिता
अधोम्रुखेन नमस्काराञ्जालिं वध्वा 'नमो वः पितर इपे'

इतीदमाश्वलायनोक्तं मन्त्रं वदेदिसर्थः । पिण्डचालनानन्तरं 'अग्ने तमद्य' इत्येतया ऋचा अग्नौकरणाग्निं प्रतिगच्छेत् ।

'यदन्तिरिक्षम्' इत्येतयर्चा गार्ह्यपसं प्रतिगच्छेत्।
तथाच पिण्डपितृयज्ञकरुपे आश्वलायनेनोक्तं—'अप्तिं पत्येयादमे तमद्याश्वं न स्तोमैः' इति । गार्हपत्यं 'यदन्तिरिक्षं पृथिवीमृत द्यां यन्मातरं पितरं वा जिहि शक्ति म अग्निमी तस्मादेनसो गार्हपत्यः प्रमुञ्जतु दुरिता यानि चक्रम करोतु मामनेनसम्' इति । एवमुक्तमुक्लेखनाद्यिसमीपगमनान्तं पिण्डदानविधानं मातामहाद्यर्थपिण्डदानेऽप्यवगन्तव्यम्—

मातामहानामप्येवं दद्यादाचमनं ततः।
इति याज्ञवल्कयेनोक्तत्वात्। यथा पित्रादीनां विप्रानिमन्त्रणादिनदिसर्जनान्तश्राद्धकल्पः एवं मातामहादीनामपि विप्रानिमन्त्रणादि कृतस्त्रश्राद्धकल्पो ज्ञेय इत्यर्थः। मातामहादीनामप्येवं पित्रादीनामिव पिण्डदानं कुर्यादिति। तथाच मदालसावाक्यं—

तद्वन्मातामहानां च द्यात्पिण्डान् यथाविधि ।

इति । तद्रत् पितृवदित्यर्थः । यद्यप्यस्मिन् वाक्ये पितृवर्गस्य पिण्डदानविधानमुक्ता तद्वदित्यनेन मातामहवर्गस्य
पिण्डदानाभिधानात् पितृवर्गार्थपिण्डदानविधि समाप्य मातामहवर्गार्थपिण्डदानं भिन्नत्नत्रतया कार्यमिति मित्रभाति ।
तथाऽपि कृतस्वश्राद्धानुष्ठानं समानतन्त्रतया वर्गद्वयस्येति 'तन्त्रं
वा वैश्वदैविकम्' इत्यत्रैवोक्तत्वात् पिण्डदानमपि समानतन्त्रतयैव वर्गद्वयस्य कार्यम् । अत एव पुराणे समानतन्त्रेणानुष्ठानमुक्तं—

उपमूलात् समास्तीर्य दर्भानुन्छिष्टसिन्नयौ । कृत्वाऽवनेजनं दद्यात्तीन् त्रीन् पिण्डान्यथाक्रमम् ॥ उपमूलातः मूलसमीपात् त्रीन् इति वीष्सया वर्गद्वयस्य समान-तन्त्रेण पिण्डीनर्वपणमित्युक्तम् ॥

इति स्मृतिचन्द्रिकायां पिण्डदानविधिः.

अथोपदेशातिदेशसंकलनतया सम्पन्नः पिण्डदानप्रयोग उच्यते--श्राद्धार्थपाकसिद्धात्सर्वविधादत्रात् पर्पिण्डपर्याप्तं कि श्चिदभ्यधिकमन्नं पात्रान्तरे समुद्ध्य शेषमध्यस्ति किं कियता-मिति पृष्टा इष्टैस्संहोपभुज्यतां इत्येवंविधमनुज्ञारूपमुत्तरं विम-दत्तं श्रुत्वा अनन्तरं स्पयेन दर्भैर्वा 'अपहता असुरा रः क्षा एसि पिशाचा वेदिपदः ' इति मन्त्रेण सन्योत्तराभ्यां पाणिभ्यां पिण्डस्थाने दक्षिणाप्राचीमेकां रेखां कृत्वा ततो दक्षिणतो द्वितीयां रेखां प्रथमरेखावत्कुर्यात् । ततो रेखाः द्वयसमीपभूमावुद्धननं कृत्वा तूष्णीं द्विरभ्युक्ष्य सक्न-दाच्छिन्नमुपमूललूनं विहिदेक्षिणापागग्रं दक्षिणाग्रं वा पृथक्पु-थेग्रेखाद्वये संस्तीर्य दक्षिणेन हस्तेन पितृतीर्थन प्रथमरेखा गतवाहिषि पिण्डस्थाने 'शुन्धन्तां पितरः शुन्धन्तां पितामहाः शुन्धन्तां प्रितामहाः 'इति त्रिभिमेन्त्रैस्तिल्सिश्रमुद्कं निनीय द्वितीयरेखागतवर्हिषि पिण्डस्थानेषु 'शुन्धन्तां मातामहाः शुन्ध-न्तां मातुःपितामहाः शुन्धन्तां पातुःप्रपितामहाः' इति मन्त्रे स्तिलमिश्रमुद्कं निनयेत् । अथवा प्रथमरेखायां 'पितर मुकगोत्रामुकशर्मन् अवनेनिङ्क्ष्व, पितामहामुकगोत्रामुकशः र्मन्नवनेनिङ्क्व, प्रापितामहामुकगोत्रामुकरार्मन्नवनेनिङ्क्ष्व ' इति मन्त्रैनिनयेत् । द्वितीयरेखायां 'मातामहामुकगोत्रामुकशर्मन्नव-नेनिङ्क्ष्व, मातुःपितामहामुकगोत्रामुकशर्मत्रवनेनिङ्क्ष्व, मातुः-प्रितायहामुकगोत्रामुकशर्मन्त्रवनेनिङ्क्व' इति मन्त्रीर्नेनयेत्।

ततो दक्षिणामुखः सन्यं जान्वाच्य घृतमधुतिस्रिमश्रमसं पू-र्वप्रकरणोक्ताद्वीमलकाद्यन्यतमप्रमाणकं पिण्डं कृत्वा 'एतत्ते पितरमुकगोत्रामुकशर्मन् ये च त्वामनु ' इत्युक्ता पित्रेऽमुकगो त्रायामुकशर्मणे वसुरूपाय सपत्रीकायेद्मन्नं न ममेत्युक्ता प्र-थमपिण्डस्थाने अवाचीनपाणिना प्रक्षिपेत्। एतत्ते पिताम-हामुकगोत्रामुकशर्मन् ये च त्वमन्वित्युक्ता पितामहायामुकगो-त्रायामुकशर्मणे प्रजापतिरूपाय सपत्नीकायेदमन्नं न ममेत्युक्ता द्वितीयस्थान द्वितीयापिण्डं प्रक्षिपेत । एवमेतत्ते प्रपितामइ अमुकगोत्रामुकशर्मन् ये च त्वामन्वित्युक्तवा प्रितामहायामुक-गोत्रायामुकश्रमणेऽग्निरूपाय सपत्रीकायेदमलमित्युका तृतीय-स्थाने तृतीयं पिण्डं प्रक्षिपेत् । एते च विण्डाः दक्षिणाः पवर्गा दक्षिणापागपवर्गा या वहिस्तरणानुसारेण कार्याः। ततो द्वितीयरेखायामेवमेव पिण्डस्थानेषु पिण्डान् प्रक्षिपेत्। एतत्ते मातामह अमुकगोत्रामुकशर्मन् ये च त्वामनु इत्युक्तवा मातामहायामुकगोत्रायामुकशर्मणे वरुणरूपाय सपत्रीकायेदं न ममेति प्रथमिपण्डे विशेषः । मातुःपितामहमातुःप्रिपतामहयोः प्रजापत्यग्निरूपाभ्यामिदं न ममोति पिण्डान् प्रक्षिपेत् । एते च पिण्डाः दक्षिणापवर्गाः दक्षिणायागपवर्गा वा वर्हिम्स्तरणानुसोरण कार्याः । एवं आश्वलायनमतानुसारेण पिण्डदानमन्त्रा द-शिताः। कासायनादियतानुसारेण पिण्डदानमन्त्राः पूर्वप्रक-रण एव दर्शिताः। तन्त्रतानुसारिभिरिहाप्यनुसन्धेयाः। एवं

पिण्डान् दत्वा रेखायामास्तीर्णे वर्हिपि 'अत्र पितरो मा-द्यध्वम् ' इत्येतावन्मावेण हस्तलेपनिर्मार्जनं कृत्वा 'अत्र पितरो माद्यध्वं यथाभागमावृषायध्वम् ' इत्युक्त्वा अपद-क्षिणावर्तनेनोदञ्जलो भूत्वा यथाशकत्यनुच्छ्रसन्नासित्वाऽभिष र्याद्वत्य 'अमीमदन्त पितरो यथाभागमानृपायीपथ' इति पट्पिण्डान् सकृदेव अनुमन्त्रय उच्छुसेत्। ततस्तूर्णी पिण्ड-पात्रस्थशेषमवद्याय पक्षाळनोदकेन 'शुन्धन्तां पितरः' इत्या-दिभिष्पड्भिर्मन्त्रैः पितः अमुकगोत्र अमुकशर्मन् अवनेनि-ङ्क्षु इत्यादिभिष्पड्भिर्मन्त्रैष्पद्सु पिण्डेषु पूर्ववदवनेजनं कृत्वा पिण्डपात्रमधोमुखं कुर्यात् । ततोऽमुकगोत्र अमुकशर्मन् अ-भ्यङ्क्षेत्रेति यथानामधेयं पर्मु पिण्डेपु तैलं दत्वा अमुक-शर्मन् अङ्क्ष्वेति यथानामधेयं पट्मु पिण्डेषु अअनं दद्यात्। 'एतद्रः पितरो वासो मानोतोन्यत्पितरो युङ्ध्वम्' इति-मन्त्रेण वासोदशादिकं पट्षिण्डेपु दद्यात्। ततस्तूप्णीमध्ये गन्यमाल्यधूपदीपसार्वविणकास्त्रोपहारैमधुघृततिलसहितोदपात्रेण पतिपिण्डमर्चनं कुर्यात् । ततः पात्रपूर्णमुदकं तेनैव पात्रेण सर्वेषां पिण्डानामुपरि निनयेत्। दक्षिणं पाणिमुत्तानं कृत्वा तद्परि सन्यपाणिनाऽघोषुखेन नमस्काराञ्जलि वध्वा 'नमो वः पितर इथे नमी वः पितर ऊर्ने नमी वः पितरइथुप्माय नमो वः पितरो घोराय नमो वः पितरो जीवाय नमो वः पि-तरी रसाय स्वधा वः पितरी नमी वः पितरी नम एता युष्माकं

पितर इमा अस्माकं वो जीवन्त इह सन्तस्त्याम मने। इन्वाहुवामहे नाराशंसेन सोमन पितृणां च मन्वाभिः 'इति तिस्राभि ऋाग्भश्र सर्वान् पिण्डान् सङ्घदेवोपतिष्ठेत् । ततः 'परेत पितरस्सोन्यासो गम्भीरोभिः पथिभिः पूर्वेभिः । दत्वायासमभ्यं द्रविण्डा भद्रं रियं च न स्सर्ववीरं नियच्छत 'इति मन्त्रेण पिण्डांश्रालयेत् । ततः 'अये तमद्याश्वं न स्तोमैः ऋतुं न भद्रं हृदि स्पृश्चम् । ऋध्धामातओहैः 'इत्येतयर्चाऽग्रोकरणाग्नं प्रतिगच्छेत् । 'यदन्तिरक्षं पृथिवीमृत द्यां यन्मातरं पितरं वा जिहिंसिम । अग्निर्मा तस्मोदनसो गाईपत्यः ममुञ्चतु दुरिता यानि चक्रम करोतु मामनेनसम् 'इति मन्त्रेण गाईपत्यं प्रतिगच्छेत्। एवमभ्यञ्जनादि कमाश्वलायनमतानुसारेणोक्तम् । येपां स्वगृह्ये प्रकारान्तरम नुक्तं तेपामाश्वलायनोक्तमभ्यञ्जनादिकमनुष्ठेयं, विष्णुस्मृतिपरिग्रहेण स्मार्ततया सर्वसाधारणत्वात् ॥

इति स्मृतिचिन्द्रिकायां पितृयज्ञधर्मकपिण्डदानप्रयोगः.

अथान्यान्यपि पिण्डदानविषयाणि कानिचिद्वचनानि लिख्यन्ते

तत्रवृहस्पातिः---

सर्वस्मात्प्रकृताद्चात् पिण्डान्मधृतिलान्वितान् । पितृमातामहादीनां द्चाहृह्यविधानतः ॥ एतदुक्तं भवाति–आपस्तम्बादिगृह्येषु यत्र पितृयज्ञविधानाद्विध्यन्तः

रेण पिण्डदानमुक्तं तट्टह्यानुसारिणां तदुक्तविध्यन्तरेणैव पित्रादि-भ्यो मातामहादिभ्यश्च पिण्डदानं कार्यमिति । यस्य च रवस्य युश्चे विधानान्तरं नोपादिश्यते पिण्डपित्यज्ञविधानं वा निर्दिश्यते तेनैव पिण्डापितृयज्ञकलेपन पिण्डदानं कार्य नान्येनंति मन्तव्यम्। युद्धोक्ताविधानान्तरेषूदाहरणार्थमापस्तम्वयुद्धोक्तं विध्यन्तरं प्र। दर्श्यते तत्र ह्येवमिभहितं — ' भुक्तवतोऽनुवज्य पदाक्षणीकृत्य द्वैयं दाक्षणाग्रान् दर्भान संस्तीर्य तेषूत्तरैरपो दत्वोत्तरेः दक्षिणा। पवर्गान् विण्डान् दत्वा पूर्ववदुत्तरैरपो दत्वोत्तरैरुपस्थायोदपात्रण त्रिः प्रसन्यं परिषिच्य न्युब्ज्य पात्राण्युत्तरं यजुरनवानं त्रचव रार्धमावर्तियत्वा प्रोक्ष्य पात्राणि द्वंद्वमभ्युपाहृस ' इति । अस्यार्थो विविच्यते — भुक्तवतो ऽनुत्रज्य पदाक्षिणी कृत्येत्यनेन ब्राह्मणभोजनात्मकं प्रधानमनुव्रजनप्रदक्षिणीकरणान्तपाश्चात्याङ्ग-जातसहितं परिसमाप्यानन्तरं पिण्डपदानात्मकं प्रधानं साङ्ग-मनुष्ठातव्यम् । न पुनर्वाह्मणभोजनात्मकं प्रधानमपरिसमाप्य अनन्तरमित्युक्तम् । ततश्च स्वकीयस्थानं पति गतेषु विषेषु पिण्डिनवीपणमनुष्ठेयम्, न तु भुक्तवत्स्वाचान्तेषु अनाचान्तेषु तिष्ठतसु विवेष्ववगन्तव्यम्। द्वैधं दक्षिणाग्रान् दर्भान् संस्तीर्य द्विधामूंत यथाभवति दाक्षणाग्रान् दर्भान् अनुपहतदेशस्य पूर्वभागे पश्चाद्भागे च पृथक्पृथक् संस्तीर्य तेपूत्तरेरपी दत्वा तेपु द्विधा संस्तीणेषु दर्भेषु उत्तरैः 'मार्जयन्तां मम पितरः' इत्यादिभिमनैत्रेः एकस्मिन् पिण्डस्थाने एकैकेन मन्त्रेणापो निन- येत् । पूर्वभागस्थदभेषु प्रथमपिण्डस्थाने 'मार्जयन्तां पितरः' इति मन्त्रेणापो निनयेत् । द्वितीयतृतीयपिण्डस्थानयोः 'मार्ज यन्तां पितामहाः प्रापितामहाः ' इति मन्त्राभ्यामपो निनयेत्। पश्चाद्धागस्थद्भेषु पथमपिण्डस्थाने 'माजयन्तां मातरः' इति मन्त्रेण, द्वितीयतृतीयपिण्डस्थानयोः 'मार्जयन्तां पितामहाः प्रिपतामहाः ' इति अपो निनयेत । उत्तरैरेव दक्षिणापवर्गान् पिण्डान् दत्वा 'एतत्ते ततासौ ये च त्वामनु ' इसादिभिर्मन्त्रैः एकस्मिन् पिण्डस्थाने एकैकेन मन्त्रेण एकैकपिण्डं पित्रादीनु दिश्य सागपूर्व निवपादित्यर्थः । तत्र पूर्वभागस्थदर्भेपूदकनिन-यनक्रमेण 'एतत्ते ततासौ ये च त्वामनु' इति मन्त्रेण प्रथम-पिण्डस्य निवयनम् । एवं पितामहप्रिपतामहापिण्डयोर्निवपनम् । पश्चाद्भागस्थदभेंपु 'एतत्ते मातरसौ याश्च त्वामनु' इति मन्त्रेण प्रथमपिण्डस्य । एवं पितामहीप्रपितामह्योः पिण्डयोर्निवपनम्। 'स्त्रीभ्यश्च पिण्डा इह पश्चिमास्स्युः ' इति गृह्यभाष्यार्थसंग्रहका-रेणाभिधानात् पश्चाद्धागस्थदर्भेषु स्त्रीणां पिण्डानिवपनिम त्यवगन्तव्यम्। षट्स्वपि पिण्डमन्त्रेषु असाविसत्र सम्बे।धनरूपे-पितृपितामहमपितामहानां मातृपितामहीमपितामहीनां च नामग्रहणं कर्तव्यम्।

अध्रयदाने च सङ्कल्पे पिण्डदाने तथाऽक्षये । गोत्रसम्बन्धनामानि यथावत्यतिपादयेत् ॥ इति पारस्करस्मरणात् । पिण्डाश्च विप्रभोजनावशिष्टस्वप्रकाः

रात्रमया मधुतिलान्विता न देयाः। 'सर्वस्मात्पकृतादन्नात्' इत्या-देरापस्तम्बेनानिवद्धत्वादोदनमात्रेणैव पिण्डदानं कार्यमिसाहुः। पूर्ववदुत्तरैरपो दत्वा पिण्डानिर्वपणातपूर्वीदकानिनयनवहर्भेष्वेव पिण्डसमीपे उत्तरैः 'एतत्ते ततासीं' इसादिभ्यः पड्भ्यो मन्त्रे-भ्यः परस्तात्पाठितैः 'मार्जयन्तां पितरः' इत्यादिभिरेव मन्त्रै-रपो निनयेदित्यर्थः । पूर्वोक्तोदकनिनयने पश्चादुक्तोदकनिनयने च तिल्रिभिश्रमुदकं ग्राह्यामिति केचिद्रदन्ति । उत्तरैरुपस्थाय 'ये च वोऽत्र' इत्यादि।भिमेन्त्रेरुपस्थायेत्यर्थः। 'ये च वोऽत्र ये चास्पा-स्वाशंसन्ते ते च वहन्तां तृष्यन्तु भवन्तः तृष्यत तृष्यत तृष्यत ' इस्रोतैर्मन्त्रै: पितृवर्गार्थपिंडोपस्थानम्। 'याश्च वोऽत्र याश्चास्मास्वा-शंसन्ते ताश्च वहन्तां तृष्यन्तु भवसः तृष्यत तृष्यत तृष्यत ' इत्येतैर्पन्त्रेः मातृवर्गार्थपिण्डापस्थानं कार्यमिति मन्त्रालिङ्गादव-गन्तःयम्। उत्तरयोदपात्रेण त्रिः प्रसव्यं परिषिचय। उत्तरया 'पुत्रान् पौत्रान्' इत्यूचा उभयेषां पिण्डान् परिापेच्येयर्थः। न्युब्ज्य पात्राणि अन्नतिलमधुघारणार्थमुत्तानानि पात्राणुद्यात्राणि चैकैकशो न्युब्ज्य अघोमुखतया स्थापायेत्रेर्थ । उत्तरं यजुरनवानं त्रचवरार्धमावर्तियत्वा 'तृष्यत तृष्यत तृष्यत ' इत्येकं यज्ञित्वारं जप्तयाऽन्यपक्षावलम्बनेनानुच्छुस्बन् आवर्सेत्यर्थः। प्रोस्य पात्राणि दंडमभ्युदाहृत्य न्युवजीकृतानि पात्राणि प्रोक्ष्य हे पात्रे युगपः दुद्धत्यान्यत्र स्थापयोदित्यर्थः । एवमुक्तापस्तम्वपृश्वविधानतो SMRITI CHA.—Vol. V. 49

यृह्यान्तरोक्तिविधानतो वा यथास्त्रयृह्यं पिण्डान् द्यात् । यृह्योक्तः विधानेऽपि मातामहादीनां पिण्डानिवपनं कार्ये—

पितृमातामहादीनां द्याद्गृह्यविधानतः । इत्येतस्मिन्नेत्र प्रकरणे वृहस्पतित्रचनेन द्शितत्वात् । तत्रापस्त-म्वगृह्यविधानतो मातामहादीनां पृथाविषण्डानिवपनं कार्य विकृतेः प्रकृतिवत्कर्तव्यत्वात् । विकृतित्वं च मातामहादिश्राद्ध-स्य भाष्यार्थसंग्रहकारेणोक्तं —

मातामहादेरप्येवं श्राद्धं कुर्याक्ष्ययत्नतः।

इति । ततश्र तद्गृह्यानुसारिणां एवं मातामहाचर्थापिण्डदानम-योगः । मातृवर्गार्थद्भसंस्तरणं विधाय ततः पश्चाद्भागे मातामह-वर्गार्थदर्भसंस्तरणं कृत्वा ततः पश्चाद्रागे मातामहीवर्गार्थद्भसं-स्तरणं कुर्यात्। मातृवर्गार्थमपो दत्वा मातामहवर्गार्थमपो दद्यात्। 'मार्जयन्तां मातामहाः' इसादिमन्त्रा ऊह्याः। मातामहवर्गार्थमपो द्त्वा मातामहीवर्गार्थमपो द्यात् 'मार्जयन्तां मातामहाः' इति मन्त्रा ऊह्याः। मातृवर्गार्थापेण्डान् दत्वा मातामहवर्गाथापेण्डान् दद्यात्' 'एतते मातामह अमुकगोत्र अमुकशर्मन् ये च त्वामनु' इति पिण्डदानमन्त्रा ऊह्याः। मातामहवर्गार्थपिण्डान् दत्वा माताम-हीवर्गार्थपिण्डान् दद्यात् । एतत्ते मातामहि अमुकगोत्रे अमुक-नाम्नि याश्र त्वामनु' इति पिण्डदानमन्त्रा ऊह्याः। मातृवर्गार्थाप-ण्डसमीपे पुनरपो दत्वा मातामहवर्गार्थपिण्डसमीमे पुनरपो द्यात् । तदनन्तरं मातामहीवर्गपिण्डसमीपे पुनरपो निनयेत्।

निनयनमन्त्राणामूहः पूर्वतदेव कार्यः । मातृत्रगीर्थपिण्डान् उपस्थाय पितृवर्गार्थपिण्डोपस्थानमन्त्रैरेव मातामहवर्गार्थपिण्डो-पस्थानं कार्यम्। ततो मातृवर्गाथपिण्डोपस्थानमन्त्रैरेव मातामहिति गार्थिपिण्डोपस्थानं कार्यम्। 'पुत्रान् पैत्रान्' इत्यत्यचां द्वादशपि-ण्डानां युगपान्तिः मत्वयं परिपेचनं कार्यम्, शेपं यजुरावर्तनादि साधारणतया सकृदेव कार्यम्, 'मार्जयन्तां मातामहाः' इत्यूहो भाष्यार्थसङ्गहकारेण स्वितः—

योज्यः पित्रादिशब्दानां स्थाने मातामहादिकः। अन्नहोमे तथा स्पर्शे जलिएडादिदानके ॥ यन्मे मातामहीत्यादि तत्रीदाहरणं भवेत ॥ इति। अन्नहोमे 'यन्मे माता प्रखुलोभ चरत्यननुत्रता' इत्यादिभिः मन्त्रैः अग्रौकरणान्नहोमे । स्पर्शे 'एष ते तत मधुमार आर्मि-स्सरस्यान् ' इत्यादिभिर्मन्त्रैः ब्राह्मणभोजनार्थात्रस्पर्शे । जलपि-ण्डादिदानके 'मर्जयन्तां पितरः' इसादिजलदानमन्त्रे, 'एतत्ते ततासौ ये च त्वामनु' इत्यादिषिण्डदानमन्त्रे च पित्रादिशब्दानां स्थाने मातामहादिशब्दो योज्यः प्रयोज्य इत्यर्थः। यन्मे मातामहीत्यादि तत्रोदाहरणं भवेदिसस्यायमर्थः — तत्र पित्रादि-शब्दस्थाने मातामहादिशब्दयोजनम्। 'यन्मे माता प्रबुखोभ चर-सननुत्रता तन्मे रेतः पिता रुङ्काम् ' इति मन्त्रेण पातामहार्थ-मन्होमे कर्तव्ये मन्त्रगतमातृपदस्थाने मातामहीपदनशेषेण यन्मे मातामहीसेवं सम्पन्न ऊहः, तथा एतन्मन्त्रगतपितृपदस्थाने मातामहपदपक्षेपेण तन्मे रेतो मातामहो हृङ्कामित्येवं सम्पन्न
उत्हश्चोदाहरणं भवेदिति। नामाज्ञाने पिण्डदानं प्रकृत्य गृह्यान्तरं
'यदि नामानि न विद्यात् स्वधा पितृभ्यः पृथिवीपद्भद्यः इति
प्रथमपिण्डं दद्यात् स्वधा पितृभ्योन्तिरक्षसद्भद्य इति द्वितीयं,
स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भद्य इति तृतीयम् ' इति। एते मन्त्राः मातामहाद्यथपिण्डदानमन्त्रेऽपि नामाज्ञानविषये प्रयोज्याः। गोत्राज्ञानेऽप्याह व्याघ्रपात्—'गोत्रनाञ्चे तु कश्यपः' इति।
गोत्राज्ञाने कश्यपगोत्रग्रहणं कर्तव्यम्, कश्यपगोत्रस्य सर्वसाधारणत्वात्। तथाच श्रुतिः 'तस्मादाहुस्तर्वाः प्रजाः कश्यपः' इति।
एवं च मातामहादिगोत्राज्ञानेऽपि काश्यपगोत्रग्रहणं कर्तव्यम्॥

इति स्मृतिचिन्द्रिकायां पिण्डदानविषयााणि

अथ ब्राह्मणभोजनात्मकप्रधानपाश्चात्याङ्गविषयाणिः तत्र मत्स्यः—

अथाचान्तेषु चाचम्य वारि दद्यात्सकृत्सकृत् । इति । ब्राह्मणेष्वाचान्तेषु स्वयमप्याचान्तो भुक्तवद्वाह्मणद-क्षिणहस्तेषु सकृत्सकृद्यो दद्यादित्यर्थः । एतत् अनाचान्तेषु विषेषु पिण्डदानपक्षे द्रष्ट्रच्यम् । आचान्तेषु पिण्डदानपक्षे आचम्य पिण्डं दद्याच्ततो विषहस्तेषु सकृत्सकृद्यो दद्यात् । तेषां पवित्रपाणित्वाय दर्भाश्च देयाः, भोजनसमयपावित्राणां उच्छिष्टत्वेन सक्तत्वात् ।

पद्मपुराणेऽपि---

आचान्तेषूदकं द्यात्पुष्पाणि सयवानि च ।

इति । वैश्वदैविकब्राह्मणहस्तेष्वाति शेषः, सयवानि चेत्यभिधानात् । पैतृकब्राह्मणहस्तेषु तु यवस्याने तिला देयाः,
अर्घ्यादौ तथा दर्शनात् । सयवानि चिति चशब्दात्पुनरप्युदकं
देयमिति सच्यते । इस्तेषु दत्तानां यवादीनां दर्भाणामिव
धारणप्रयोजनकार्याभावात्कत्तकार्यत्वेन कचित् थुचौ देशे
प्रक्षेपणं विषाः कुर्युः । प्रक्षपणानन्तरं पुनः मत्स्यः—

आचान्तेषु पुनर्दद्याज्जलपुष्पाक्षतोदकम् । दत्वाऽऽशीः पतिगृह्वीयात् द्विजेभ्यः पाद्मुखो वुधः ॥

पुनइशब्देन पद्मपुराणोक्तं सयवपुष्पं जरुं प्रथमं देयिमिति
स्वितम् । जलपुष्पाक्षतोदकं दद्यात् प्रथमं जलं दद्यात्
साक्षतपुष्पं प्रदाय पुनरिप जलं दद्यादित्यर्थः । आज्ञीः
प्रतिगृह्णीयादाशिषः प्रतिगृह्णीयादिसर्थः । काः पुनराशिषः कथं
च तासां प्रतिग्रहः, प्रतिगृह्णा किं कर्तव्यमिस्रपेक्षिते तेनैवाननतरमुक्तं—

अघे।राः पितरस्सन्तु सान्त्वित्युक्ते पुनिर्द्वेजैः । गोत्रं तथा वर्धतां नस्तथेत्युक्तश्च तैः पुनः ॥ दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदास्सन्तितरेव च । श्रद्धा च नो मा व्यपगात् षहुदेयं च नोऽस्त्विति ॥

एतास्सत्याशिषस्मन्तु सन्तिवत्युक्तश्च तैः पुनः । स्वस्तिवाचनकं कुर्यात्।।। इति । अघोराः पितरस्सन्त्विति श्राद्धकर्त्रो वर्तव्यम् । शिवाः पितरस्पनित्वति तस्यार्थः । सन्तिवत्युके पुनर्दिनैः सन्तवघो राः पितर इत्युक्ते गोत्रं वर्धतां न इति कत्री वक्तव्या । तथेत्युक्तश्च तैः पुनः तैर्द्विजैः वर्धतां गोत्रमित्युक्तः कर्ता दा-तारो नोऽभिवर्धन्तां इयादिश्लोकं पठित्वा एतास्तत्या आः शिषस्पन्तिवाति ब्रूयात् । सन्तिवत्युक्तश्च तैः पुनः ध्वस्तिवाचनं कुर्यात् । तैर्द्विजैस्सन्त्वेतास्सत्या आशिप इत्युक्तः कर्ना द्विजै-दत्तमक्षतपुष्पं शिरसा प्रतिगृह्य स्वस्तित्राचनं कुर्यात् । का-त्यायनगृहो तु दातार इत्यादिंकं नोक्तम् । अघोराः पितर-स्सन्त्वत्युक्ते गोतं नो वर्षतामित्येतावन्मात्रमुक्तम्। यद्यप्याशीः-प्रतिग्रहानन्तरमेव स्वस्तिवाचनं कार्यमिति मत्स्यवचनमात्रा। त्त्रतिभाति । तथाऽप्याशिषं परिषृद्यानन्तरं भोजनपात्राणि चालियत्वा स्वस्तिवाचनं कुर्यात् । अन्यया दोपश्रवणात्ः तथाच नारायणः--

अचालायित्वा तत्पात्रं स्वस्ति कुर्वेन्ति ये द्विजाः। निराशाः पितरस्तेषां ऋष्त्वा यान्ति यथागतम् ॥ वृहस्पतिरपि—

> भाजनेषु च निष्ठत्सु स्वस्ति कुर्वन्ति ये द्विजाः । तद्दत्तमसुरैर्भुक्तं निराशाः पितरो गताः ॥

तस्मात् स्वस्तिवाचनात्माक् पात्रचालनमव्द्यं कार्यमित्यभिमायः पात्रचालनकर्ताविषये विधिमतिषेधौ जातूकण्येन द्भितौ--

> पात्राण्युचालयेच्छाद्धे स्वयं शिष्योऽथवा मुनः। न स्त्रीभिनं च बालेन नासजाया कथश्रन ॥

स्वस्तिवाचनप्रकारस्तु पारस्करेण दर्शितः- 'स्वस्तीति भगवन् बूहीति वाचनम् ' इति । अक्रोदकं दत्वा स्वस्तिवाचनिमति कासायनेनोक्तो विशेषः। अत्रैवं प्रयोगः---यज्ञोपवीती वैश्व-देंविकहस्ते उदकं दत्वा पुरूरवाईवसंज्ञिकेभ्यो विश्वेभ्यो . देवेभ्यस्त्वस्तीति भगवन् बूहीति कर्ता ब्रूयात्। विषेण च तेभ्यः स्वस्तीति वक्तव्यम् । प्राचीनावीती पित्र्यब्राह्मणहस्तेषू-द्कं दत्वा पितृभ्यः पितामहेभ्यः प्रिपतामहेभ्यः अमुकगो-त्रेभ्यः अमुकश्मभ्यः स्वस्तीति भगवन ब्रहीति कर्ता ब्रूयात्। विशेण च तेभ्यः स्वस्तीति वक्तव्यम् । एवं मातामहादित्रा-ह्मणहस्तेपूदकं दत्वा मातामहमातुःपितामहमातुःमपितामहेभ्योऽ-मुकगोत्रेभ्योऽमुकदार्मभ्यः स्वस्तीति भगवन् ब्रूहीति कर्ता ब्यात्। विशेण च तेभ्यस्स्वस्तीति वक्तव्यम् । स्वस्तिवाचः नानन्तरं याज्ञवल्क्यः-- 'ततः कुर्यादक्षय्योदकमेव च ' इति। ततस्वस्तिवाचनानन्तरं अक्षय्योदकं कुर्यात् । अक्षय्यमस्त्व-त्युक्ता विशहस्ते जलं निनयादिसर्थः । पिश्यविशहस्ते तु सतिलं जलं निनयेत्। अक्षय्यमस्त्विति च तिलोदकं दत्वेति का-त्यायनेनोक्तत्वात् । अस्त्वक्षय्यमिति विषेवीच्यम् । तथाच मार्कण्डेयपुराणम्—

पितृणां नामगोत्रेण जलं देयमनन्तरम् । ब्राह्मणानां द्विजैर्वाच्यमक्षय्यमिद्मस्ति ॥

त्राह्मणानां हस्ते व्यति शेषः । अत्रैवं प्रयोगः — पुरूरवाईव संज्ञकानां विश्वेषां देवानामक्षयमस्त्वित वैश्वदैविकत्राह्मण हत्तेषु के वर्षं वर्षं यज्ञोपविती निनयत् । पितृपितामहप्रापिता महानां अध्वकगोत्राणाममुकश्मणां सपत्रीकानां अक्षयमस्त्विति पित्र्यत्राह्मणहस्तेषु सतिलं जलं प्राचीनाविती निनयत् । एवं मातामहादीनाममुकगोत्राणाममुकश्मणां सपत्रिकानां अक्षय्यमस्त्विति मातामहादित्राह्मणहस्तेषु सतिलं जलं निनयत् । वेश्वदैवादिदिजेः तत्प्रदानानन्तरं अक्षय्यमिदमस्त्वित वक्तव्यम् । वेश्वदैवादिदिजेः तत्प्रदानानन्तरं अक्षय्यमिदमस्त्वित वक्तव्यम् । अक्षय्योदकयानानन्तरं दाक्षणां दद्यात् । तथाच मत्स्यः — 'अक्षय्योदकमेव च । सतिलं नामगोत्रेण दद्याच्छक्तचा च दक्षिणाम् ' इति । सतिलमक्षय्योदकं पित्रादिनामगोत्रेण दद्यात् । तदनन्तरं शक्तचनुसारेण दक्षिणां दद्यादित्यर्थः । अत्र देयवस्तृनि निार्देश्य व्यास आह—

गोभूहिरण्यवासांसि नन्यानि शयनानि च । दद्याद्यदिष्टं विषाणामात्मनः पितुरेव च ॥ वित्तशाख्येन रहितः पितृभ्यः पीतिमाचरन् ।

इति । वित्तशाट्येन रहितो गवादिकं पितृभ्यो दद्यात् । तेषां प्रीतिमाचरात्रित्यन्त्रयः । पारस्करोपि—'हिरण्यं विश्वेभ्यो देवेभ्यो रजतं पितृभ्योऽन्यच गोकृष्णाजिनादिकं यावच्छ-कनुयात् ' इति । वायुपुराणे— लोके श्रेष्ठतमं यत्तु आत्मनश्चापि यत्प्रियम् । सर्वे पितॄणां दातव्यं तेषांमवाक्षयार्थिना ॥ पितॄणां पितृभ्य इत्यर्थः । पितृभ्यो दक्षिणादाने प्रकार-माह जमदाग्नः—

सितलं नामगोत्रेण दद्याच्छक्तचा च दक्षिणाम् । हिरण्यस्त्रवासांसि हर्म्याणि शयनानि च ॥ इति । हिरण्यादि द्रव्यं तिलोपेतं पितृभ्यो गोत्रनामसाहि-तेभ्यः प्रतिपादयामी।ति सङ्करूप्य पैतृकत्राह्मणानां भुक्तवतां

समर्पयोदिसर्थः । 'ब्राह्मणान् भोजियत्वा तु दद्याच्छक्तचा च दक्षिणाम्' इत्युक्तत्वात् । यतु वायुपुराणेऽभिहितं—

यद्यदिष्ठतमं लोके यचान्यद्विद्यते गृहे ।
तत्तद्भुणवते देयं तदैवाक्षयामिच्छता ॥

इति, तत् देवेभ्यः पितृभ्यश्च सङ्गल्पितं दक्षिणाद्रव्यं, न भक्ष्यभोज्यादिकम् । भक्ष्यभोज्यं तु भोक्तृविष्ठेभ्यः समं देयम् । दक्षिणादिद्रव्यमपि भोक्तृविष्रगुणानुसारेण विषमं देयमिसे-वंपरं, न तु गुणवन्तं ब्राह्मणमुद्दिश्य देयपरमित्यवगन्तव्यम्। पारस्करः—

एकपङ्कचुपिविष्टानां विप्राणां श्राद्धकर्मणि । भक्ष्यभोज्यं समं देयं दक्षिणा त्वनुसारतः ॥ इति । समं देयं गुणतारतम्यनिवन्धनवैषम्यं हित्वा देयिमसर्थः। दक्षिणादौ तारतम्यनिवन्धनवैषम्ये कृतेऽपि न दोपः । अनु-Smrit Cha.—Vol. V.

सारतः निमन्त्रितविष्रगुणानुसारेणेत्यर्थः । एवंचेत्यं दक्षिणा-दानप्रयोगः - यज्ञोपवीती पुरूरवाईवसंज्ञिकेभ्यो विश्वेभ्यो दे-वेभ्यो हिरण्यादिदक्षिणां प्रतिपादयमीति संकल्प्य वैश्वदै-विकब्राह्मणहस्ते सम्पेयेत् । ततः प्राचीनावीती पितृपिता महप्रपितामहेभ्योऽमुकगोत्रेभ्योऽमुकद्यर्भभ्यस्सपत्रिकेभ्यः रजताः दिदक्षिणां प्रतिपादयामीति संकल्प पितृवगर्थिविपहस्ते स-मर्पयेत् । एवं मातामहादिभ्यस्समर्पयेत् । ननु यदि पित्राद्युः देशेन द्रव्यत्यागः न पुनर्वाह्मणोदेशेन, कथं तर्हि बाह्मणानां दक्षिणाद्रव्ये स्वाम्यम्? उच्यते—यथा दर्शपूर्णमासयोदीक्ष-णादाने 'ब्राह्मणा अयं व ओदनः' इत्युक्ता यजमानेन ओदने समार्पेते ब्राह्मणोद्देशेन ओदनत्यागाभावेऽपि ऋत्विजां कर्मकरत्वेनैव ओदनस्वाम्यमुत्पद्यते, तथेहापि हिरण्यरजता-दिसमर्पणे तत्र स्वाम्यं ब्राह्मणानां कर्मकरत्वेनैव सिध्यति। यथावा-मितष्ठादौ प्रातिष्ठाष्यदेवतायै संकल्पितवस्नाभरणादिषु आचार्यस्य स्वाम्यं 'प्रतिष्ठान्ते तु सर्वमुपकरणमाचार्यो गृह्णा-ति ' इति वचनानुग्रहीतकर्मकरत्वेनैव भवति तथेहापि 'ब्राह्मणान् भोजियत्वा तु दद्याच्छक्तचा च दक्षिणाम्'। इत्यनुगृहीतेन कर्मकरत्वेन त्राह्मणानां पित्राद्युद्देशेन संकल्पितरजतादौ स्वा-म्यं संपद्यत इति न कश्चिद्विरोधः । अथवा ब्राह्मणोद्देशेन यागादेवात्रापि बाह्मणानां स्वाम्यं भविष्याते-

आचान्तेभ्यो द्विजेभ्यस्तु प्रयच्छेदथ दक्षिणाम् ।

इति । देवलेन द्विजानुद्दिश्य दक्षिणा देयेत्यभिद्दितम्— दक्षिणां पितृविभेभ्यो दद्यात्पूर्वं ततो द्वयोः ।

इति । द्वयोर्वेश्वदैविकविषयोशित यावत् । द्वयोशिति पष्ठी पितृविषेभ्य इति चतुर्थीसमिभव्याहारात् चतुर्ध्वर्थे द्रष्टव्या। एवंचायमर्थः—पूर्वे पितृविषेभ्यो दक्षिणां दत्वा पश्चादैश्व दैविकब्राह्मणाभ्यां दद्यादिति । अस्मिन् पक्षे दक्षिणादान-स्यापैतृकत्वात् पितृविषेभ्योपि यज्ञोपविश्वेव दद्यात् । अत एव जमदिशः—

सर्वे कर्मापसन्येन दक्षिणादानवर्जितम् । इति । यत्पुनस्तेनोक्तम्—

अपसन्यं तु तत्रापि मत्स्यो भगवान् हि मेने । इति, तत् पितॄनुद्दिश्य दक्षिणादानपक्षे द्रष्टन्यम् । वृहस्प तिस्तु अनिमन्त्रितविषेभ्योपि दक्षिणादानमाह—

ज्ञातयो वान्धवा निस्स्वास्तथा वाऽतिथयोऽपरे ।
पदचादक्षणां तेषां सर्वेपामनुरूपतः ।। इति ।

ज्ञातयः पितृसंवन्धाः । वान्धवा मातृसंवन्धाः । दक्षिणा-दानानन्तरं याज्ञवल्क्यः—

दत्वा तु दक्षिणां शक्तचा स्यधाकारमुदाहरेत् । इति । दक्षिणादानानन्तरं स्वधां वाचायिष्ये इति विप्राननु-ज्ञापयेदित्यर्थः । अत्रिरपि—

वाचियव्ये स्वधां प्रश्नमित्थं कुर्याद्विजातिषु।

इति । स्वधां वाचियष्ये इतीत्थं स्वधापश्चं द्विजातिष्वासीने-ष्वेव कुर्यादिसर्थः । ततो द्विजातयः वाच्यतामित्यनुज्ञां दद्युः ।

वाच्यतामिसनुज्ञां तु भीता दद्युस्समाहिताः । इति तेनैवानन्तरमभिधानात् । एवमनुज्ञातः किं कुर्यादित्यपोक्षिते याज्ञवल्क्यः —

वाच्यतामित्यनुज्ञातः प्रकृतेभ्यः स्वधोच्यताम् ।

इति । अनेनदमुक्तं——पितृभ्यः पितामहेभ्यः प्रिप्तामहेभ्यो मान्
तामहेभ्यो मातुःपितामहेभ्यो मातुःप्रिप्तामहेभ्यस्सप्त्रिकेभ्यः
स्वधोच्यतामिति कर्ता द्र्यादिति । अस्तु स्वधेति विमा
द्र्ययः । ततः कर्ता कमण्डलुना पिण्डसमीपभूमो जलं सिचेत्।
कात्यायनस्तु दर्भानास्तीर्य तस्यां भूमो समन्त्रकं सेचनं
कार्यमित्याह—'सपवित्रान् कुशानास्तीर्य स्वधां वाचायिष्ये
इति पृच्छति वाच्यतामित्युक्ते पितृभ्यः पितामहेभ्यः प्रिप्तामहेभ्यः प्रिप्तामहेभ्यः स्वधोच्यतामस्तु स्वधेत्युच्यमाने ऊर्ज वहन्तीरित्यपो निपिच्चेत् सपवित्रेषु कुशेषु' इति । सपवित्रेषु अर्धसंस्कारार्थपवित्रसाहितेषु । सपवित्रेष्विति वदन् न्युब्जिताः
दर्यपात्रमुत्तानं कृत्वा तत्र पवित्राणि ग्राह्याण्यस्मिन्काल इति
सूचयति । अत एव सङ्गहकारः——

याज्ञवल्क्यो विसर्गीत्माक् पात्रमुत्तानामिच्छाति । यमो विसर्जनं कृत्वा गृह्यकर्ताऽपि शौनकः ॥ मीतिमश्चात्तु देवानां पूर्व कात्यायनादयः॥ इति । विसर्जनात्त्राग्विमविसर्जनात्पूर्वं देवानां प्रीतिप्रश्ना-त्पूर्वे विश्वेदेवाः पीयन्तामित्यभिधानात् पूर्वे स्वधावाचन-काले इसर्थः । अत्र यथास्वगृहां व्यवस्था ।

सर्वेषामिप पक्षाणां स्वस्वगृह्यात्तु गृह्यते । इति स्मरणात् । स्वस्वगृह्योक्तपक्षस्याभावे तु स्वेच्छैव पक्ष-विशेषग्रहणे नियामिका ।

स्वगृह्योक्तस्य चाभावे ग्रहणं स्वेच्छया भवेत् । इत्यपि स्मरणात् । सपिवत्रकुशवयां भूमौ उदक्षधारानिषेचना-नन्तरं स्वधा सम्पद्यतामिति कर्ता ब्रूयात् । विवेश्च संप-द्यतां स्वधा इति स्वधाकारात्मिका पितॄणामाशीर्वक्तव्या। तथा चात्रिः—

> अस्तु स्वधेति तैः शोक्ते निषच्योदीर्य निस्रकः। स्वधाकारः परा शोक्ता पितृष्वाशीस्स्वयंभुवा ॥ आयुःपुत्रधनारोग्यशान्त्यर्थे वाचयेद्विजान्।

इति । तैर्विषेरस्तु स्वधेत्युक्ते कर्ता 'ऋचे त्वा रुचे त्वा सिम-थ्स्नवन्ति सरितः' इत्यादिकं 'स्वधां दुहाना अमृतस्य धाराम्' इसन्तं मन्त्रं सामर्थ्यरूपलिङ्गादेवात्र प्राप्तमुदीर्योदकधारां नि-पिच्य स्वयम्भुवा ब्रह्मणा शोक्ता पितृस्वधाकारात्मिका परा उत्कृष्टा या आशीस्तामायुरादिफलसिद्धचर्थं द्विजान्वाचयोदित्य-र्थः । स्वधावाचनानन्तरं याज्ञवल्क्यः—

विश्वेदेवाश्च पीयन्तां विपेश्वोक्ते इदं जपेत्।

इति । विश्वेदेवाः प्रीयन्तामिति पूर्व श्राद्धकर्ता, पश्चात्प्रीय-न्तां विश्वेदेवा इति वैश्वदैविकविषेश्चोक्ते, चशब्दात्पितरः प्रीयन्तामिति पूर्व कर्ता, पश्चात्प्रीयन्तां पितर इति पिश्यवि-पश्चोक्ते इदं वक्ष्यमाणं जपेत् 'दातारो नोऽभिवर्धन्ताम्' इसादिकमाशीःप्रार्थनावाक्यवृन्दं कर्ता पठेदित्यर्थः । अत्र सङ्ग्-हकारः—दातार इति याज्ञोक्तचा पादार्थः प्रार्थना स्मृता ।

तां सुरिपातिसंप्रशात् प्रावभवेतास्तु मन्यते ॥
याज्ञयल्क्यस्तथा वक्ति प्रश्ने निर्वितिते सित ।
पारस्करस्स्विस्ति वाच्यं कृत्वाऽऽशीर्प्रहणं जगौ ॥
विसर्जितेषु विषेषु विहिष्ठेषु मनुर्जिगौ ।
यान्यत्र कालभेदेन कर्माणि मुनयो जगुः ॥
स्वस्वगृह्यानुसारेण विकल्पस्तेषु युज्यते ।
न गृह्यादिस्मृतिर्येषां श्राद्धादावुपलभ्यते ॥
कर्तुमहीन्ते ते कृत्स्तं यह्यकस्य मुनेरिति ।

वैकल्पिकेषु स्वगृह्याद्युक्तपक्षाभावे यस्य कस्यचिदेकस्य मुनेः
पक्षं स्वेच्छानुगुणं कुर्यादित्यर्थः । विश्वेदेवाः प्रीयान्तामित्युक्ता वैश्वदैविकत्राह्मणपाणौ अपो दत्वा पितरः प्रीयनतामित्युक्ता पैतृकत्राह्मणपाणौ अपो दत्वा अनन्तरं सर्वत्राह्मणपाणिषु सपुष्पाः साक्षताश्चापो दद्यात् । तथा चात्रिः—

विप्रपाणौ तु दत्वाऽपः सपुष्पास्साक्षतास्ततः।

इति । अपो दद्यादिति शेषः । अत्र वृहस्पतिः—

वाजे वाज इति मोच्य ब्राह्मणांस्तान्विसर्जयेत् ।

विमान् प्रदक्षिणीकृत्य पितृभ्यः मार्थयेद्वरान् ॥

तान् पाणिधृतपुष्पाक्षतान् विसर्जयेत् । स्वस्थानं प्रति गमनार्थं आसनेभ्य उत्थापयेत् ।

वाजेवाज इत्युत्थाप्य कृत्वा चैतान् पदक्षिणम् । इति मार्कण्डेयस्मरणात् । उत्थापने च साक्षाद्विप्रहस्तग्रहणं न कुर्यात्, किंतु इस्तसंस्टप्टदर्भद्वारा ।

वाजेवाजे इति जपन कुशाग्रेण विसर्जयेत्।

इति मत्स्येनाभिधानात्। कुशाग्रेण कुशेन हस्तस्पर्शनं कृत्वेत्यर्थः। अग्रेण तु हस्तस्पर्शने कियमाण एकदा एकस्येव हस्तसंस्पर्शो न वहूनाम्। ततश्च 'तृप्ता यात' इति वहुवचनं 'अदितिः पाशान्' इतिवद्विविक्षितं स्यात्। एवश्च कुशेन यावतां
हस्तसंस्पर्शनं युगपत्कर्तु शक्यं तावतां सकुन्मन्त्रोच्चारणं,
यातेति बहुवचनतो वहुविप्रविसर्जनस्त्रणकार्यस्य सकुदुचारणादेव सिद्धः। असंभवे मन्त्राद्वत्तिः। विनोत्थानं विप्राणां
यानं न संभवतीस्यर्शदुत्तिष्ठतेस्यि यातेत्यनेनैवोक्तं भवति।
विप्राणां उत्थापनेनैव तत्रावाहितदेविष्तृणामप्युत्थापनं सिद्धिमिति स्पृतिषु तत् पृथन्ङोक्तम्। तथाऽपि तस्य स्पष्टानुसस्थानार्थं दर्भेण संस्पर्शनात्पूर्वं उत्तिष्ठत पितरो विश्वेर्देवैस्सहेत्युक्वा विप्रविसर्जनं कार्यम्। एवश्च द्विजिवसर्जनसंपा-

तायातं पित्रादिविसर्जनं नाहत्यानुष्ठेयमिति न विसर्जने प्रा-चीनावितिना भावेतव्यम् । अत एव 'उपवीती विसर्जनम्' इति शौनकेनोक्तम् । विप्रविसर्जने क्रमः पुराणे दार्शतः— पश्चादिसर्जयेदेवान पर्व पैतामहान दिज्ञान ।

पश्चाद्विसर्जयेदेवान् पूर्व पैतामहान् दिजान् । मातामहानामप्येवं सह देवैः ऋमस्स्मृतः ॥

देवान् वैश्वदैविकद्विजान् । पैतामहान् पित्रादिस्थानेपूपविष्टान् । विमेत्थापनानन्तरं कास्रायनः—'आमा वाजस्य, इत्यनुत्रज्य मदिक्षणीकृसं दित्रादि । पदाक्षणीकरणानन्तरं दातारं इत्यादि-श्लोकद्वयेन पितृसकाशाद्वरयाचनं कार्यम् । तथाच मत्स्यः—

विस्रज्य ब्राह्मणांस्तांस्तु तेषां कृत्वा प्रदक्षिणम् । दक्षिणां दिशमाकांक्षन् पितृन्याचेत मानवः ॥ दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदास्सन्ततिरेव च । श्रद्धा च नो मा व्यगमद्भहु देयं च नोऽस्तु ॥ अन्नं च नो वहु भवेदतिथींश्च लभेमाहि । याचितारश्च नस्सन्तु मा च याचिष्म कञ्चन ॥

इति । दक्षिणां दिशमाकांक्षन् दक्षिणाभिमुखः श्लोकद्वयेन प्रतीयमानान् वरान् श्लोकद्वयपादेनैव पितृन् याचेत न विष्ठा-नित्यर्थः । वृहस्पतिरापि—

विमान मदाक्षिणीकृत्य पितृभ्यः मार्थयेद्वरान् । इति । वरयाचनानन्तरं वृद्धशातातपः— एवमस्त्विति तैर्वोच्यं मुर्झा ग्राह्यं च तेन तत् । इति । तैः भूतपूर्वगत्या पित्रिधिष्ठानभूतौर्वित्रैरेवमस्त्विति वाच्यं, साक्षात्पितृभिरेवमस्त्विति वचनासंभवात् । एवमस्त्वित्युक्त्वा तैस्स्वहस्तगतं पुष्पाक्षतं प्रदेयम् । तेन श्राद्धकर्त्रा च तत्पु-ष्पाक्षतं मूर्श्रा ग्राह्मम् । एवमाशीर्ग्रहणानन्तरं स एवाह—

> ततः पदक्षिणं कृत्वा पुनस्तेषां कृताञ्जिलः । उक्त्वा चैव पियां वाचं प्रणिपत्य प्रसादेयत् ॥

इति । ित्रयां वाचं—'धन्या वयं युष्मदनुग्रहेण पितॄणाम-नृणा जाताः' इत्येवमादिकाम् । प्रसादनार्थं यद्वक्तव्यं तदाह वृहस्पतिः—

अद्य में सफलं जन्म भवत्पादाभिवन्दनात् । अद्य में वंशजास्सर्वे याता वोऽनुग्रहाद्दिवम् ॥ पत्रशाकादिदानेन क्षेशिता यूयमीद्दशाः । तत्वेष्ठशजातं चित्ते तु विस्मृत्य क्षन्तुमहेथ ॥ इति । एवं प्रसाद्यानन्तरं सर्वे सम्पूर्णमस्त्विति विप्राः प्रार्थ-यितव्याः । तथाच विष्णुः—

मन्त्रहीनं क्रियाहीनं भिक्तिहीनं द्विजोत्तमाः । श्राद्धं संपूर्णतां यातु प्रसादाद्भवतां मम ॥ इति । विषेरीप सर्वे सम्पूर्णमस्तिवत्युक्तवा हविर्गुणस्तुतिः कर्तव्या—

श्राद्धावसाने कर्तव्या द्विजैरत्नगुणस्तुतिः । Smriti Cha.—Vol. V. इति चृद्धवसिष्ठस्मरणात् । ततो विष्ठान् स्वस्थानगमनार्थे विस् र्जयेत् । तथाच पुराणं—

विसर्जयेत्मीतिमतस्संमान्याभ्यन्यं तांस्ततः।

इति । मार्कण्डेयोपि —

जानुभ्यामवनीं गत्वा प्रणिपत्य विसर्जयेत्।

इति । मदालसावाक्यमपि — विसर्जयेत्प्रियाण्युकत्वा प्रणिपत्य च भक्तितः । आहारमनुगच्छेत आगच्छेतानुमोदितः ॥

इति । अनुमोदितो ब्राह्मणैरिति शेषः ।

इति स्मृतिचिन्द्रकायां ब्राह्मणभोजनात्मकप्रधानपाश्चा-त्याङ्गिकविषयाणि.

अथ पिण्डमतित्त्यादिविषयाणि.

तत्र देवलः--

ततः कर्मणि निर्नृत्ते तान् पिण्डांस्तद्नन्तरम् ।

ब्राह्मणोऽग्निरजो गौर्वा भक्षयेद्द्यु वा क्षिपेत् ॥

कर्मणि निर्नृत्ते पिण्डमितपत्तिरूपच्यतिरिक्ताङ्गसिहतश्राद्धकर्मणि
निर्नृते । पुत्रार्थित्वाभावविषयमेतत् । पुत्रार्थित्वे सित मध्यः

मिण्डं पत्नी भक्षयेत् । तथाच मनुः——

पतित्रता धमेपत्नीः पितृपूजनतत्परा ॥

मध्यमं तु ततः पिण्डमद्यात्सम्यक्सुतार्थिनी ॥

आयुष्मन्तं स्रुतं विन्देद्यशोमेधासमन्वितम् । धनवन्तं प्रजावन्तं धार्मिकं सात्विकं तथा ॥

इति । यमोपि--

यत्तदा मध्यमं पिण्डं पत्नी प्राक्षाति वाग्यता । पुत्रकामा सपुत्रां तां कुर्वन्ति प्रपितामहाः ॥

वायुपुराणेऽपि ---

पत्नी प्रजाधिन्यद्यातु मध्यमं मन्त्रपूर्वकम् ।

इति । पुराणे मन्त्रोपि प्रतीकेन दर्शितः—

पत्नीं तु मध्यमं पिण्डमाश्चयेद्विनयान्विताम् ।

आदत्त पितरो गर्भ मन्त्रस्सन्तानवर्धनः ॥

'आदत्त पितरो गर्भम्' इत्यादिको मन्त्रस्सन्तानवर्धन इसर्थः ।

एतदुक्तं भवित—

'आदत्त पितरो गर्भे कुमारं पुष्करस्रजम्। यदाऽ-यमरपा असत्' इत्यनेन मन्त्रेण मध्यमपिण्डं पत्नी प्राश्नी-यादिति। शङ्खालिखिताभ्यां तु पत्नचा विशेषो दींशतः—

पत्नी वा मध्यमं पिण्डमश्रीयादार्तवस्त्राता । इति । अगृहीतगर्भा स्त्री आर्तवस्त्रातेत्युच्यते । ततश्र गृहीतगर्भा पत्नी नाश्रीयात् । अत एवंविधविषये मध्यमपिण्डस्य प्रतिप-च्यन्तरमाह बृहस्पतिः—

अन्यदेशगता पत्नी रोगिणी गर्भिणी तथा। तदा तं जीर्णवृषभः छागो वा भोक्तुमहीति॥ तं मध्यमं पिण्डम् । जीणीं गतरेताः । अत एव वायुपुराणं — गतवीर्यस्तु यञ्छागोऽनङ्कांश्चैव तथाविधः । तयोः पिण्डः प्रदातव्यो ययोविर्यं न रोहति ॥

आपस्तम्बोपि —

यदि पत्नी विदेशस्था उच्छिष्टा यदि वा मृता ।
दुरात्माऽननुकूला च तस्य पिण्डस्य का गतिः ॥
आकाशं गमयेत्पिण्डं जलस्थो दक्षिणामुखः ।
पितॄणां स्थानमाकाशं दक्षिणा दिक्तथैव च ॥
इति । जीर्णपभादावुक्ता वैकल्पिकी प्रतिपत्तिर्यथालाभं द्रष्टन्या ।
तीर्थश्राद्धे तु सर्वपिण्डानामप्स्वेव प्रतिपत्तिः । तथाच विष्णुधर्मीत्तरे—

तीर्थश्राद्धे सदा पिण्डान् क्षिपेतीर्थे समाहितः ।
दक्षिणाभिमुखो भूत्वा पित्रचा दिक् सा प्रकार्तिता ॥
तीर्थश्राद्धमुदकसमीपे क्रियमाणं श्राद्धम् । तीर्थे क्षिपेत्
श्राद्धसमीपोदके क्षिपेत् । पिण्डप्रतिपत्त्यनन्तरं द्विजोच्छिष्टमार्जनं कार्यमिति वचोभङ्गचा दर्शियतुमाह याज्ञवल्क्यः —
पिण्डांस्तु गोऽजवित्रेभ्यो दचादग्रौ जलेऽपि वा ।

प्रक्षिपेत्सत्सु विषेषु द्विजोच्छिष्टं न मार्जयेत् ॥

पिण्डानिति वहुवचनादेतदापि पुत्राधित्वाभावविषयं सत्सु
विषेषु विसर्जनात्मागुच्छिष्टं न शोधयेत् । किंतु विसर्जितेषु विषेषु

पिण्डमितपत्तौ च कृतायां शोधयेदिसर्थः। यत्तु वसिष्टेनोक्तं—

श्राद्धे नोद्धासनीयानि उच्छिष्टान्या दिनक्षयात् । श्रयोतंत्ते वै स्वधाकाराः ताः पिवन्त्यकृतोदकाः ॥ इति । येषां मृतानामुदकदानं प्रतिपिद्धं ते अकृतोदकास्तेषा-मुच्छिष्टिनश्चयोतो यतो भागः अतः आऽस्तमयादुच्छिष्टानिनो-हासयोदित्यर्थः । यदपि न्यासेन—

उच्छिष्टं न प्रमृज्यातु यावन्नास्तिमतो रिवः । इति, तदेतत् अनेकग्रहसम्भवविषयं, तत्र ग्रहान्तरेष्विषि वान्धवादिभिस्सह पितृसेवितशेषभोजनादिसम्भवात् । अत्रैव प्रचेताः—

भृत्यवर्गवृतो भुङ्के कव्यशेषं सगोत्रजैः।
आसायं श्राद्धशालायां द्विजोच्छिष्टं न मार्जयेत्॥
सगोत्रजाः ज्ञातयः तैस्सह कव्यशेषं पितृभ्यो दत्तस्यान्नस्य
शेषं भुङ्के मध्याह्मकृत्यशेषं कृत्वेति शेषः। तथाच मार्कण्डेयः—

ततो निस्नित्रयां कुर्याद्वोजयेच तथाऽतिथीन्।
ततस्तदः भुञ्जीत सह भुसादिभिनेरः॥
नित्यिकिया श्राद्धारम्भात्याक् अकृतदेवतार्चनवैक्वदेवादिका।
तां कुर्यात्। यत्त्कं भविष्यपुराणे—

कुस्वा श्राद्धं महावाहो ब्राह्मणांश्च विस्रज्य च । वैश्वदेवादिकं कर्म ततः कुर्याचराधिय ॥ इति । वैश्वदेवादिकं वैश्वदेवविष्ठिकर्मादिकम् । तदेतत् प्रात- होंमानन्तरकाले येन देवार्चनं न कृतं तद्विषयम्। यत्पु-नरादित्यपुराणेऽभिहितं—

> पितृन् मंतर्प्य विधिवत् विश्ं द्याद्विधानतः । वैश्वदेवं ततः कुर्यात्पश्चाद्वास्मणवाचनम् ॥

इति । तस्यायमर्थः—ब्राह्मणभोजनेन पितृन् संतर्ध्य सर्वाह्मन विकिररूपं बर्लि पदायाननन्तरं वैश्वदेवं कृत्वा पश्चास्त्व-स्तिवाचनादि ब्राह्मणविसर्जना(न्तं)नन्तरं कुर्यादिति । अमु-मेवार्थ प्रकटियतुं तत्रैवानन्तरमुक्तं—

> ये अग्निद्ग्धामन्त्रेण भूमौ यं निक्षिपद्धधः। जानीहि तं विंछं वीर श्राद्धकर्माणे निसदा॥

इति। निसदा सर्वदेसर्थः। एवश्च श्राद्धसमाप्त्यनन्तरं श्राद्धमध्ये वा विकिरबिट्टानानन्तरं वैश्वदेवानुष्ठानं कार्यमिसवगन्तव्यम्। श्राद्धस्यान्ते मध्ये वो यत्र वैश्वदेवानुष्ठानं तत्र तदनन्तरं विटि-हरणं कर्तव्यम्।

वैश्वदेवं पकुर्वीत नैत्यकं विश्वपेव च।
इति मत्स्यपुराणे द्वयोर्नेरन्तर्येणाभिधानात्। अत एव समृयन्तरे
भूतयज्ञादेरेव श्राद्धान्ते कर्तव्यत्वं समृतं—

वैश्वदेवाहुतीरयावर्वाग्वाह्मणभोजनात्।

जुहुयाद्भृतयज्ञादि श्राद्धं कृत्वा ततः स्मृतम्।। इति । अविश्वाद्यणभाजनादित्यनेनायौकरणानन्तरं वैश्वदेवाः हुतर्जिहुयादित्युक्तम् । श्राद्धं कृत्वा भूतयज्ञादि स्मृतमित्यनेनाः र्थात् वैश्वदेवाहुस्रनन्तरमेव विलिहरणं कार्यामिति दर्शितम् । यत्तु पुराणेऽभिहितं—

यदा श्राद्धं पितृभ्यस्तु दातुमिच्छाति मानवः ।
वैश्वदेवं तदा कुर्यान्निर्द्धते श्राद्धकर्माणे ॥
इति, तत् श्राद्धात्माग्वैश्वदेवानिषेचपरं न तु मध्येऽपि, तथात्वे
पूर्वोक्तवचनाविरोधापत्तेः । अत एव श्राद्धस्यादावेव वैश्वदेवकरणे दोषस्तत्रैवानन्तरमुक्तः—

प्रतिवासिरको होमः श्राद्धादौ क्रियते यदि ।
देवा हव्यं न गृह्णन्ति कव्यं च पितरस्तथा ॥
इति । क्रियते पित्रशीन्नात्समुद्धसेति शेषः । अत एव
पैठीनसिः—

पितृपाकात्समुद्धस वैश्वदेवं करोाति यः।
आसुरं तद्भवेच्छाद्धं पितॄणां नोपतिष्ठते।।
इति । एवश्च श्राद्धादौ पृथक्पाकाद्धेश्वदेवकरणे न दोषः।
श्राद्धमध्ये पितृपाकात्समुद्धस वैश्वदेवकरणे पूर्वोक्तदोपप्रसङ्कात्पृथक्पाकादेवाग्रौकरणानन्तरं वैश्वदेवादिकं कार्यम्। श्राद्धान्ते तु पितृपाकात्समुद्धस वैश्वदेवादिकं कुर्यात्। तथा-

श्रादं निर्वर्त्य विधिवद्वैश्वदेवादिकं ततः। कुर्याद्भिशं ततो द्द्याद्धन्तकारादिकं तथा॥ इति। ततः पितृपाकसमुद्धृतात्राद्यादित्यर्थः। आदिशब्देन

चानन्तरमुक्तं तेनैव-

सर्वमन्नसाध्यं नैत्यकं कर्म गृह्यते । तेन नित्यश्राद्धमपि पितृपाकात्समुद्धतादन्नात्कार्यम् । अथवा नित्यश्राद्धं पृथक् पाकेन कार्यं, तस्यापि श्राद्धात्मकत्वेन श्राद्धधर्मभूतपाकप्राप्तेः । अत एव नित्यश्राद्धमधिकृत्य मार्कण्डेयेनोक्तं—'पृथक्पाकेन नेत्यन्ये' इति । पृथक्पाकेन नित्यश्राद्धं कार्यम् । नेत्यन्ये न पृथक्पाकेन कार्यं किंतु श्राद्धशेषणैव कार्यमित्यन्ये मन्यन्त इत्यर्थः । एतच नित्यश्राद्धं श्राद्धान्तरे कते सत्यन्यतम् । यदाह स एव—

नित्यिक्रियां पितॄणां च केचिदिच्छिन्ति मानवाः।
पितॄणां च तथैवान्ये शेषं पूर्ववदाचरेत्।
पितॄणां नित्यिक्रियां नित्यश्राद्धम्। शेषं वैश्वदेवादिकं पूर्ववदाचरेत् नियमैनव कुर्यादित्यर्थः। यत्तु लोकाक्षिणोक्तं—

पित्रर्थं निर्वेपत्पाकं वैश्वदेवार्थमेव च। वैश्वदेवं न पित्रर्थं न दार्शं वैश्वदैविकम्॥

दार्श दर्शश्रादं अमावास्त्राश्राद्धिमित यावत्। तदर्थे निरुप्तमन्नं कृतेऽपि श्राहे न वैश्वदेवार्थं भवतीत्यर्थः। तत् आग्नमहश्रश्राद्धविषयम्। तस्य दश्रश्राद्धात्मागेव वैश्वदेवविधानेन
श्राद्धान्ते श्राद्धशिष्टेन वैश्वदेवायागात्। दर्शश्राद्धात्मागेव वैश्वदेवाविधिश्च तेनैवाग्निमतो द्र्शितः।

पक्षान्तं कर्म निर्वर्त्य वैश्वदेवं च साम्रिकः। पिण्डयज्ञं ततः कुर्यात्तेताऽन्वाहार्यकं बुधः॥ इति । पक्षान्तं कर्म अग्रचन्वाधानम् । अन्वाहार्यक अमा-वास्याश्राद्धम् । एवश्र्व साग्निकामावास्याश्राद्धात्प्रागेव वैश्व देवार्थे पृथगेव पाकः अन्यत्र तु न पृथक् पाकानियम इति मन्तव्यम् । येपां तु स्वगृह्ये वैश्वदेवं कृत्वा श्राद्धं कर्तव्यमिति वचनमस्ति तेषामपि वैश्वदेवार्थे पृथगेव पाकः । वैश्वदवार्थे पृथवपाके कृतेऽपि पित्रथपाकादेव भोजनम् ।

प्रदाक्षणमनुत्रज्य भुद्धीत पितृसेवितम् । इति याज्ञवल्क्यस्मरणात् । अनेन पितृसेवितमेव भुञ्जीत नान्य-दिति नियम्यते तथा पितृसेवितं भुञ्जीतैव नोपवसेदिति च निय-म्यते । अत एवाभोजने दोषमाह देवलः—

श्राद्धं कृत्वा तु यो विमो न भुङ्के च कथंचन ।
देवा हव्यं न गृह्णान्ति कव्यानि पितरस्तथा ।
एतच पितृसेवितभोजनं सर्वविधात् पितृसेवितात्किञ्चितिकञ्चिदुपादाय कर्तव्यम् । तथाच मत्स्यपुराणं—

ततश्च वैश्वदेवान्ते सभृत्यसुतवान्धवः ।

भुजीतातिथिसंयुक्तस्सर्व पितृनिपेवितम् ॥

यद्यपि क्षन्न तथाऽपि शेपभोजनस्यावश्यकत्वात् सर्वमेव पितृसेवितं छेशतो भोक्तव्यम् । अत एवापस्तम्वः—

'सर्वतस्समवदायोत्तरेण यजुषा शेषस्य ग्रासावरार्धं प्राश्नीयात्'

इति । 'प्राणे निविष्टोऽमृतं जुहोमि ब्रह्मणि म आत्माऽमृतत्वाय' इत्युक्तरं यजुः । अनेन यजुषा यथासामथर्चे सर्व
ऽसरारा Снл.—Vol V.

मकाराजतः समवदायातृप्तेरश्रीयात् । असामर्थ्ये प्रासमात्रं माश्रीयादित्यर्थः । एवमुक्तं शेषभोजनावश्यकत्वं निमन्त्रित ब्राह्मणैः श्राद्धशिष्टमन्नामिष्टैस्सहोपभुज्यतामित्युक्ते सति द्रष्ट् च्यम् । विषेरेव तु श्राद्धशिष्टान्ने गृहीते अन्नान्तरं संपाद्य भोक्तव्यम् 'कृते श्राद्धे पुत्री नोपवसेद्गृहे' इति स्मरणात् । यत एव श्राद्धशिष्टान्नं इष्टेस्सह भुज्यतामित्युक्त एवायं शेषभोजनानियमः अत एव अनुज्ञापक्ष एव शेषभोजनानियममाह शातातपः—

शेषमत्रमनुज्ञातं भुञ्जीत तदनन्तरम् । इष्टैस्सार्थे तु विधिवद्वद्धिमान् सुसमाहितः ॥

वुद्धिमानिति वदन् मांसभक्षणप्रतिषेधकशास्त्रवलावलिवारणेन
भोज्याभोज्ये निर्धार्य प्रष्टितिनवृत्ती कर्तव्ये इति दर्शयति ।
तेन मापमांसादिकं पितृसेवितमपि अन्वाधानदिने कृतान्वाधोनन न भक्षयितव्यं, 'अमापमांसं व्रतं व्रतयेत्' इति
श्रुद्धा प्रतिपेधात् । अकृतान्वाधानेनानिवना च पञ्चद्रयामपि पितृसेवितं मांसं 'भुजीत पितृसेवितम्' इसेवंविधवचनैर्विहितत्वाद्वक्षयितव्यम् । 'आसप्तमं कुलं हन्ति इसनुवनौर्विहितत्वाद्वक्षयितव्यम् । स्वद्वश्यां मांसभक्षणानिपेधकवचनस्य रागप्राप्तमांसभक्षणविपयतया वैधमांसभक्षणाप्रतिपेधकत्वात् । यत्तु मधुमांसपायसादिकं द्वव्यं आपाढादिमासचतुष्टयादौ न भक्षयामीति सङ्कल्प्य तत्पालननिष्ठो व्रती पुरुषः

तेनापि पितृसेवितं मधुमांसपायसादिकं भक्षयितव्यम् । कृतेऽपि भक्षणे वैधत्वेन व्रतभङ्गाभावात्। तथाच वृहस्पतिः-दैवे नियुक्तः श्राद्धे वा नियमं न विसर्जयेत्। निपिद्धं कुर्वतां दोपस्तद्वद्वैधमुकुर्वताम् ॥ मांसाशनस्य वैधत्वान्न व्रतच्युतिरश्नताम् ।

इति । नियमं 'परिविष्टं भुञ्जीरंस्तेऽपि वाग्यताः' इति स्पटत्युक्तम् । नियुक्तग्रहणं श्राद्धकर्दुरपि पदर्शनार्थ, वैधमकुर्वतां दोपहेतो-रुभयत्र समानत्वात् । यत्तु स्मृयन्तरं—

> मधुमांसनिवृत्तानां श्राद्धकर्माणि कुर्वताम् । पात्रस्थगन्धमाद्याय पितॄणामनृणो भवेत् ॥

इति, तत् महाजनपरिग्रहाभावेन मूलप्रमाणाननुमापकत्वादुपेक्ष-णीयम् । केपांचित्परिग्रहेणापि समूलत्वे वानप्रस्थयतित्रह्मचाः रिविषयत्वात् न वाईस्पत्यवचनविरोधः । यतश्रोभयथा विरोधः परिहारसपर्थनं देवस्वामिना कृतम् । एवमेव पशुयागादा-विप न मांसभक्षणे व्रतभङ्गः। यदाह वृहस्पतिः--

कतौ श्राद्धे तदङ्गत्वाद्विपाज्ञाभङ्गतो वृतः । भक्ष्यत्वादनुयोगेऽपि खादन् मांसान्यपि त्रती ॥ रोगेण युक्तो विधिवद्धतं विशवृतस्तथा । मांसमयाचतुर्ध्वेषा परिसङ्खचा प्रकीर्तिता॥

इति । दृतः मधुपर्कादौ विषवृतः । रोगेण युक्तः दीर्घरोगेण

। निगमोप्यनुज्ञापक्ष एव पितृसेवितमोजनियम
 श्रीह—'अनुज्ञातो गृह्यान् वाल्रदृद्धांश्च पिरतोप्य भुञ्जीत'
 इति । गृह्यान् गृहे स्वानुज्ञया वर्तमानान् । चञ्चव्दो भिग न्यादेः पिरग्रहार्थः । अत एवादिपुराणम्—

भिगन्यो वान्धवाः पूज्याः श्राहेषु च सदैव हि । दारिद्रचोपहता दीनाः भिन्नाङ्गाश्चाधिकाङ्गुळिः ॥ वृह्याजातिवरक्ताश्च व्याधिभारमपीडिताः । एते भोजनमईन्ति भोकुस्सर्वत्र सर्वदा ॥ विन्दमागधसूताश्च तौर्यत्रिकविदस्तथा । अलव्धलाभाः श्नाहेषु नाशयन्ति महद्यशः ॥ तस्मात्तेऽपि विभक्तव्याः स्वकळ्त्रं विभज्यता ।

इति । भोक्तः सम्पन्नस्य गृहे इति शेषः । कळत्रहग्रणं पुत्रा-देरिप पदर्शनार्थम् । अत एव वृहस्पतिः—

एवं देवान् पितृंश्चेव तर्पयित्वा द्विजोत्तमः।
पुत्रमित्रादिसहितो गृहस्थो भोकुमईति॥

इति । दातृभोक्त्रोर्द्वयोरापि नियमान्तरमाह स एव— तां निशां ब्रह्मचारी स्थाच्छ्राद्वभुक्कुाद्वकृत्सह । अन्यथा वर्तमानो तु स्यातां निरयगामिनौ ॥

मत्स्यपुराणेऽपि-

पुनर्भोजनमध्वानं यानमायासमैथुनम् । श्राद्धकुच्छ्राद्धभुक्चैव सर्वमेतद्विवर्जयेत् ॥ स्वाध्यायं कलहं चैव दिवास्वापं तथेच्छया।
इति । श्राद्धभोक्तारं प्रसाह यमः—
पुनभंजिनमध्वानं भाराध्ययनमैथुनम् ।
सन्ध्यां प्रतिग्रहं होमं श्राद्धभुक्त्वष्ट वर्जयेत्॥
होमं स्वयं न कुर्यातु अन्यमेव तु कारयेत्।

यथाऽऽह कात्यायनः--

स्तके च प्रवासे च अशक्तौ श्राह्यभोजने ।

एवमादिनिमित्तेषु याजयेन्न तु हापयेत् ॥

इति । हावयेदिति यद्गोभिलादिभिरप्युक्तं तदेवमादिनिमित्तेषु

याजयेदित्यर्थः । होतुरन्यस्थालाभे भविष्यपुराणेऽभिहितं—

दश्चतः पिवेदापो गायत्रचा श्राद्धभुग्द्विजः ।

ततस्सन्ध्यामुपासीत जपेच जुहुयादिष ॥

अन्येऽपि भोकृनियमाः निमन्त्रणप्रकरणोक्ताः इहाप्यनुसन्धेन्याः । एवं श्राद्धं कुर्वतः फलमाह हारीतः—

कृत्वाऽनेन विधानेन चतुरो लभते वरान् ।

धनमन्नं सुतानायुर्ददते पितरो भुवि ॥

याज्ञवल्क्योपि—

आयुः व्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च । प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नृणां पितामहाः ॥ इति ॥ इति स्मृतिचन्द्रिकायां पिण्डप्रतिपत्त्यादिविपयाणि समाप्तं च पार्वणश्राद्धाविधानं अथ यथाशक्ति पार्वणानुष्टानविधिः. तत्र शातातपः—

यथाकथित्रित्यानि कुर्यादिन्दुक्षयादिषु ।
पात्रद्रव्यादिसम्पत्सु सर्वकामफलं लभेत् ॥
अमावास्यादिकालेषु चोदिनानि नित्याधिकाराणि पार्वणश्राद्धादीनि पात्रद्रव्यादिसम्पत्त्यलाभेऽपि यथाकथित्रत् कुर्यात् यथाशक्ति कुर्यादिति पूर्वाधिस्यार्थः । तत्र पात्रासम्पत्तौ देवलेनोक्तं-

एकेनापि च विषेण पिंद्वण्डं श्राह्माचरेत्।
पड्रियांन् दापयेत्तस्मै पङ्गचो दद्यात्तथाऽऽसनम्॥
पिना भुङ्के द्विजकरे मुखे भुङ्के पितामहः।
प्रिपतामहस्तु तालो च कण्ठे मातामहस्स्मृतः॥
प्रमातामहस्तु हृदये वृद्धो नाभौ तु संस्थितः।

इति । वृद्धः प्रमातामहस्य पिता । अत्र वसिष्ठः——
यद्येकं भोजयेच्छाद्धे दैवं तत्र कथं भवेत् ।
अन्नं पात्रे समुद्धृत्य सर्वस्य प्रकृतस्य च ॥
देवतायतने कृत्वा ततक्ष्राद्धं प्रवर्तयेत् ।
प्रास्येदग्नौ तदन्नं तु दद्याद्वा ब्रह्मचारिणे ॥

इति । देवतायतनं वैश्वदैविकत्राह्मणोपवेशनस्थानम् । तत्र त्राह्मणार्चनात्पूर्वे स्थण्डिले विश्वान् देवानावाह्यासनकल्पना-दिधूपद्पि। च्छादनान्तमाराधनं कृत्वा पश्चात् पित्रर्थमुपविष्टं त्राह्मणमभ्यर्च्य अन्नपरिवेषणकाले प्रकृतस्य श्राद्धार्थं सम्पा- दितस्य सर्वस्य सम्बन्धि किञ्चिद्तं पात्रे समुद्धत्याभिघा-र्याराधितस्थाने पुरतो निधायात्रत्यागकाले पूर्वमेतदत्रं विश्वान् देवानुद्दिश्य त्यक्त्वाऽनन्तरं श्राद्धं प्रवर्तयेत् । पितृनुद्दिस्य ब्राह्मणस्य पुरतः परिविष्टमन्नं त्यजेदित्यर्थः । एकस्यापि ब्राह्म-णस्यालाभे देवलेनोक्तं—

पात्राभावे परं कृत्वा पितृयज्ञविधिं नरः।
निर्दिश्याप्यत्रमुद्धृत्य यत्र पात्रं ततो गतिः॥
निथाय वा दर्भवदूनासनेषु समाहितः।
मैषानुमैषसंयुक्तं विधानं प्रतिपादयेत॥
पात्राभावे क्षिपेदग्नौ गवे दद्यादथाप्सु वा।
न तु प्राप्तस्य छोषोस्ति पैतृकस्य विशेषतः॥

अस्यार्थः—-पात्राभावे इनुकल्पतयोक्तिविष्स्याभावे पितृयज्ञविधि पिण्डिपितृयज्ञधर्मकमश्रोकरणं परं केळवं छत्वा अवावास्याया- मन्नं भाजनादाबुद्ध्य निर्दिश्य चतुर्थ्यन्तश्रद्धेन देवान् पितृ- नुिद्द्रिय उद्धृतमन्नं त्यक्त्वा यत्रात्यन्तानितदूरे पात्रळक्षणान्वितो विन्नोस्ति, तत्र नीत्वा तस्मै तदन्नं समर्पयेत् । यद्वा—पितृ- यज्ञधर्मकमग्रोकरणं कृत्वा दर्भवदून् कुश्मयान् विश्मतिनि- धीन् वदूनसन्तालपपिरमाणानासनेषु संस्थाप्य देवे क्षणः कियता श्राद्धे क्षणः कियता मिस्रादिष्रेषसंयुक्तमों तथेत्याद्यनु- मैपसंयुक्तं कृत्स्वं श्राद्धविधानं कृत्वा देवपित्रर्थं त्यक्तमन्नं पूर्ववत्पात्रलणयुक्ताविषेभ्यः प्रतिपादयेत्समर्पयेत् । अतिदृरस्थे

तु पात्रे पक्षद्वयेऽपि त्यक्तमन्नमभौ क्षिपेत् । अथवा गवे भक्ष-णार्थे पयच्छेत् । नद्याद्यदके वा क्षिपेत् । न तु पात्राभाव-मात्रेण कर्मणो छोपः कार्य इति । पक्षद्रव्यसम्पादनास-म्भवे तु सुमन्तुः—

> पाकाभावेऽधिकारस्स्याद्विशादिनां नराधिष । अपर्वानां महावाहो विदेशगमनादिभिः ॥ सदा चैव तु श्दाणामामश्राद्धं विदुर्वधाः । आत्मनो देशकालाभ्यां विषमे समुपागते ॥ आपद्यनग्रौ तीर्थे च प्रवासे पत्रचसम्भवे । चन्द्रसूर्यग्रहे चैव दद्यादामं विशेषतः ॥

इति । विश्रादीनां त्रैवाणिकादीनां पत्नीरहितानां विदेशगमना-दिभिश्च कारणैः पाकसम्पादनासम्भवे आमश्राद्धे अधिकारः स्यात् । चन्द्रसूर्यग्रहेऽपि यस्य पाकासम्भवः स आमं दद्यात्। यस्य वा भोक्तुर्वाह्मणस्यालाभः सोप्यामं दद्यात्। श्रूद्रस्तु सर्वश्राद्धेषु पार्वणविधानेनाममेव दद्यात् । तथाच मार्कण्डेयः—

सर्व श्राद्धं तथा कार्य शूद्रेणाप्येवमेव तु।

मन्त्रवर्ज तु शूद्रस्य सर्वमेवं विधीयते।

एवमेव पार्वणविधिनैव। तथाच प्रचेताः—
स्त्री शूद्रस्त्वपचश्चैव जातकर्मणि चाप्यथ।

आमश्राद्धं तदा कुर्याद्विधिना पार्वणेन तु॥

स्वयं पचतीति स्वपचः। वायुपुराणे—

न पक्वं भोजयेद्विपान् सच्छूद्रोपि कदाचन । भोजयेन्वश्नतां पापं तस्यापि प्रभवेत्सताम् ॥ सतां श्रद्रान्नभोजने भोक्तृणां श्रद्रस्य च पापं भवेत् । पुनस्सच्छूद्र इसपेक्षिते व्याघः--

> संस्कृतायां तु शूद्रायां ब्रह्मवीर्यसमुद्भवः । स्वकर्मनिरतश्चेव सच्छूद्रः संप्रकीर्तितः ॥

उज्ञनसा तु लब्धक्रीतादिपक्वान्नसद्भावेऽप्यामश्राद्धमेव द्विजैः कार्यमित्युक्तं-

अपत्रीकः प्रवासी च यस्य भार्या रजस्वला। सिद्धानेन न कुर्वीत आमं तस्य विधीयते ॥ सिद्धान्नेन कार्यान्तरार्थं यथाकथाश्चित्सिद्धान्नेन । अपत्नीका-दिग्रहणं पाकसामग्रचादिरहितपुरुपोपलक्षणार्थम् । अत एव जमदाग्नः---

न भवेद्यस्य सामग्री दारा वा गृहमेव वा। आमश्रादं प्रकुर्वीत वृद्धो वालश्च यो भवेत् ॥ पाकसामग्रीसद्भावे कस्यचिदामश्राद्धं कर्तव्यमित्याह स एव-यावत्स्यात्राप्रिसंयुक्तः उत्सन्नाप्रिरथापि वा । आमश्राद्धं तदा कुर्याद्धस्तेऽग्नौकरणं भवेत् ॥ पक्वेन श्राद्धं क्वचिदावश्यकामित्याह हारीतः— श्राद्धविद्रे द्विजातीनामामश्राद्धं मकीर्तितम् । अमावास्याद्यानियतं माससंवत्सराहते ॥ SMRITI CHA.—Vol. V.

णमत्र

अनेन मासिकमाब्दिकं च श्राद्धमवश्यं पक्वान्नेन कार्यामात वचोभङ्गचोक्तिमिति मन्तव्यम् । यत्पुनर्जमद्ग्निनोक्तं—

श्राद्धः श्रद्धया श्राद्धं श्राद्धकाले यथाविधि । पक्वेन वाऽश्रितेनापि नूनं कुर्यात्पितुस्स्रतः ॥ इति, तत् मासिके सांवत्सरिकेऽपि सर्वथा पक्वान्नासिन्दौ आ मद्रव्यविधानार्थमिति न पूर्वोक्तजमदग्निवचनेन गतार्थम्। आमश्राद्धे विशेषमाह व्यासः--

आमं तदनु कौन्तेय दद्यादन्नं चतुर्गुणम्। सिद्धाने तु विधिर्यस्स्यादामश्राद्धेऽप्यसौ विधिः॥ आवाहनादि सर्व स्यात्पिण्डदानं च भारत। दद्याद्यच द्विजातिभ्यः शृतं वाऽशृतमेव वा ॥ तेनाश्रौकरणं कुर्यात्पिण्डांस्तेनैव निर्वपेत । अन्नमामरूपं पुरुपापेक्षया चतुर्गुणं दद्यादित्यर्थः। अग्नौकर-पाणावेव,

आमश्रादं यदा कुर्याद्विधिज्ञः श्राद्धदस्तदा । इस्तेऽग्रौकरणं कुर्याद्वाह्मणस्स्वविधानतः ॥ इति तेनैवोक्तत्वात् । पट्त्रिंशन्मतेऽपि--आमश्राद्धं यदा कुर्यात्पिण्डदानं कथं भवेत्। गृहपाकात्समुद्धस सक्ताभिः पायसेन वा ॥ इति । पिण्डदानं भनेदिति शेषः । आमद्रव्यगृहपाकसक्तु-पायसेषु यथालाभं व्यवस्था। एतचामश्राद्धं पूर्वीह्ने कार्यं, 'आमश्राद्धं तु पूर्वाक्के' इति शातातपस्मरणात् । यत्तु तेनै-वोक्तं—

मध्याह्नात्परतो यत्तु कुतपस्समुदाहृतः । आममात्रेण तत्रैव पितॄणां दत्तमक्षयम् ॥ इति, तत् श्राद्धकर्तुः आमश्राद्धविपयमित्यपरार्केण साधितम् । आमद्रव्यासंभवे तु व्यासेनोक्तं--

द्रव्याभावे द्विजाभावे प्रवासे पुत्रजन्मित ।
हेमश्राद्धं प्रकुर्वीत यस्य भार्या रजस्वला ॥
अत्राप्यामश्राद्धविद्योपो यथासम्भवमनुसन्धेयः । आमश्राद्धे
हेमश्राद्धे च भोजनप्रयुक्तापोश्चनकमीदीनां 'यथासुखं जुपध्वं तृप्तास्स्थ' इत्यादीनां च द्वारकार्यलोपानिवृत्तिरवगन्तव्या । केषु चिन्मन्त्रेषृहोप्येवमवगन्तव्यः । तथाच मरीचिः—

आवाहने स्वधाकारे मन्त्रा ऊह्या विसर्जने । अन्नकर्मण्यनूह्यास्स्युरामश्राद्धविाधिः स्मृतः ॥

आवाहने आवाहनमन्त्रे । 'पितृन् हिवषे अत्तवे' इसत्र अत्तव इति पदस्थाने स्वीकर्तव्य इत्यूहः कार्यः । स्वधाकारे 'नमो वः पितर इषे' इस्रादिमन्त्रे इष इति पदस्थाने आम द्रव्यायेत्यूहः कर्तव्यः । विसर्जने विप्रविसर्जनमन्त्रे 'वाजे-वाजे' इत्यादिके तृप्ता इति पदस्थाने उद्घत्य आमेन तर्पयन्त इत्यूहः कार्यः । अन्नकमिणि ब्राह्मणाङ्गुष्ठनिवेशनादौ 'विष्णो हव्यं रक्षस्व' इत्याद्यो मन्त्रा अनुह्यास्स्युः । आमश्राद्धविधिस्स्मृतः इत्यामश्राद्धग्रहणं हेमश्राद्धोपलक्षणार्थम् । हेमद्रव्यालाभेऽपि स्मृत्यन्तरोक्तं—

> तृणानि वा गवे दद्यात्पिण्डान्वाऽधापि निर्वपेत्। तिलोदकैः पितृन्वाऽध तर्पयेत्स्तानपूर्वकम्।। अग्निना वादहेत्कक्षं श्राद्धकाले समागते। तर्सिश्चोपवसेदिह जपेद्या श्राद्धसंहिताम्।।

इति । अत्रापि यथासम्भवं व्यवस्था । अङ्गसम्पादनास-म्भवेऽपि स्पृत्यन्तरोक्तं—

> अङ्गानि पितृयज्ञस्य यदा कर्तुं न शक्तुयात्। स तदा वाचयेद्रिमान् सकला सिद्धिरस्त्विति॥

पितृयज्ञस्य श्राद्धस्य सकला सिद्धिः सकलाङ्गसिद्धिरिह्त्विति भवन्तो ब्रुवन्तु इति प्रार्थनेति । निमन्त्रितान् विपान् स-कलाङ्गसिद्धिरस्य श्राद्धस्यास्त्विति वाचयेदित्यर्थः—विस्मृत * पार्वणानुष्ठानासम्भवे तु व्यासेनोक्तंः—

सक्ताग्नेः पार्वणं नैव नैकोहिष्टं सिपण्डनम् । अत्यक्ताग्नेस्तु पिण्डोक्तिस्तस्मात्सङ्करूपं भोजयेत् ॥ अयमर्थः—त्यक्ताग्नेरिविधनोत्स्रष्टाग्नेः पार्वणैकोहिष्टसिपण्डीक-रणात्मकश्राद्धकर्मणि नैवाधिकारः । पिण्डोक्तिः श्राद्धं क-र्तव्यमित्युक्तिः असक्ताग्नेः त्यक्ताग्निव्यतिरिक्तस्यैव अस-

^{*ा}विस्तृतः

क्तांग्रेरेव श्राद्धाधिकार इति यावत् । तस्मात्त्यक्ताांग्रेरेव सङ्क रूप्य भोजयेत् । सङ्करुपविधानेन श्राद्धं कुर्यादिति ॥

सङ्करपविधानस्य पार्वणविधानात्को भेद इत्यपेक्षिते स एवाह—

सङ्कर्षं तु यदा कुर्यात्र कुर्यात्पात्रपूरणम् ।
नावाहनाग्नौकरणं पिण्डांश्रीव न दापयत् ॥
पात्रपूरणमर्ध्यदानम् । आवाहनस्य समन्त्रकस्य निपेधः, नत्वावाहनमात्रस्य * तदभावे देविपतृसान्निध्याभावात् । ततश्रावाहनमन्त्रमनुक्त्वैव पुरूरवार्द्रवसंज्ञकान् विश्वान् देवान्
आवाहयामीत्येतावन्मात्रमुक्त्वा देवावाहनं कार्यम् । पित्राद्यावाहनेऽप्येवमेव । पिण्डांश्रैवेत्यत्र चैवशब्देन उच्छिष्टिपिण्डस्थापि निषेधः । अत एव स्मृत्यन्तरे—

सङ्कर्षं तु यदा श्राद्धं न कुर्यात्पात्रपूरणम्। विकिरं च न दातव्यम् इति स्पष्टमुक्तम्।

एवमनुकरपानुष्ठानेऽपि शाठ्याभावे सति मुख्यकरपानुष्ठान-फल्ठं भवति । तथा च स्मृत्यन्तरं—

श्राद्धानुकरुपं यः कुर्याज्ञात्यवस्थाद्यपेक्षया । श्राद्धांशे सर्वमाप्नोति मुख्यकरूपफलं नरः ॥ इति । श्राद्धांशे श्राद्धप्रधानांशे ब्राह्मणभोजनमात्रे पिण्डपदा

स्वरूपस्य.

नमात्रेऽपि वा कृते, अङ्गांशे यथाशाक्ति कतिपयानुष्ठानेऽपि कृत इत्यर्थः ॥

इति स्मृतिचिन्द्रिकायां यथाशक्तिपार्वणानुष्ठानाविधिः

एवं प्रतिमासं कर्तव्यं पार्वणश्राद्धमुक्तम् अथ प्रतिसंवत्सरं कर्तव्यं सांवत्सरिकश्राद्धमुच्यते । अत्र लोकाक्षिः—

श्राद्धं कुर्यादवश्यं तु प्रमीतिपितृकस्त्वयम् ।
इन्दुक्षये मासिमासि दृढौ प्रसब्दमेव च ॥
स्वयंग्रहणमादरार्थं न पुनः पुत्रशिष्यत्विगादिनिवृत्त्यर्थम् ।
यजमानस्य पितः असावेतत्ते तत इसन्यकर्तृकपिण्डनिर्वपणदर्शनात् । असावेतत्ते तत इति मन्त्रेण यजमानस्य पित्रे
ऋत्विगादिः पिण्डान् दद्यादिति । तत्रामुकगोत्रामुकशमेत्रेतत्ते तत इति मन्त्रमुक्तवाऽमुकगोत्रायामुकशमेणे यजमानस्य
पित्रे असावेतत्ते, इस्रयं पिण्डो न यजमानयजमानस्य ।
स्मृत्यन्तरे यजमानस्येत्युक्त्वा वार्हिषि पिण्डस्थापनिमिति विशेषोऽवगन्तव्यः । एतच्चान्यकर्तृकत्वं यजमानस्यासामर्थेय
गुरुतरकार्यान्तरव्यग्रत्वेन कालातिपत्तिविषये वा द्रष्टव्यम् । प्रसव्दं श्राद्धं कथं कर्तव्यमिस्यपेक्षिते जातूकर्णः—

पितुः पितृगणस्थस्य कुर्यात्पार्वणवतस्रतः । मत्यब्दं प्रतिमासं च विधिर्ज्ञेयस्सनातनः॥ पितृगणस्थः सिपिण्डितः तस्य प्रत्यब्दं प्रतिमासं च पार्वणः वदााब्दिकं मासिकं च श्राद्धं स्रुतो स्ताहे कुर्यादिसर्थः। एतदुक्तं भवति—-यथा अमावाम्याश्राद्धे अर्ध्यदानादे। पितृ-पितामहपितामहानां त्रयाणामुद्देशः तथा पितुराब्दिकश्रा-द्धेऽपि त्रयाणामुद्देशः कार्यः। इति।

दर्शवत्स्यात् त्रयोदेशः सिषण्डीकरणे कृते । इति । प्रति-मासं चेति तावत्—

'तान्येवतु पुनः कुर्यात्' इति वचनात् सिपण्डीकरणाः दूर्ध्वमिप प्रथमसंवत्सरे क्रियमाणानुमासिकेषु पार्वणवित्रदे-वताकं कुर्यादिति विधानार्थमुक्तमिति मन्तव्यम् । न च वार्चं-

पितरो यत्र पूज्यन्ते तत्र मातामहा श्रुवम् । इति वचनात्पितृमृतामहे मातामहादीनामापि श्राद्धं कार्यमिति । यदाह पारस्करः—

पितुर्गतस्य देवत्वमौरसस्य त्रिपूरुपम् । इति । देवत्वं गतस्य सपिण्डीकरणेन पितृत्वं पाप्तस्य । त्रिपूरुपग्रहणं पट्पुरुपिनवृत्त्यर्थं । तेन मृताहे मातामहश्राद्धं न कार्यम् । कात्यायनोपि—

कर्षूसमिन्वतं मुक्तवा तदाद्यं श्राद्धपोडशम् । प्रत्याब्दिकमशेषेषु * पिण्डास्स्युपडिति स्थितिः ॥ इति । कर्षुसमिन्वतं सिपण्डीकरणम् । अनेनार्थात्कर्षूसमिन्व-

^{*} प्रत्याद्दिकं च शेषेषु.

तादिषु मातामहश्राद्धं न विद्यत इत्युक्तम् । सङ्ग्हकारस्तु— पितृमृताहे मातामहादिश्राद्धं न कार्यमिति न्यायेनैवोपपा-दयति—

याज्ञवरुक्येन कालस्तु अमावास्त्रादिनोदितः ।
अविशेषेण पिश्यस्य तथा मातामहस्त्र च ॥
युगपच स विज्ञेयो वचनाद्वक्ष्यमाणकात् ।
कालभेदेन तन्त्रं स्वादेशभेदेन चैव हि ॥
तस्मात्तन्त्रविधानातु यौगपद्यं त्रतीयते ।
अमावास्त्रादिकालेषु तद्ज्ञेयं न मृतेऽहनि ॥
अमावास्त्रादिकालेषु कालैकत्वात्सहिक्रया ।
मृताहनि तु तद्भेदात्र युज्येत सहिक्रया ॥ इति ॥

प्रथमश्लोकस्यायमर्थः — अमावास्यादिना

'अमावास्याऽष्टका वृद्धिः कृष्णपक्षोऽयनद्वयम्' इसादिवचेनन श्राद्धकालः अविशेषेण सामान्येन पित्र्यस्य पितृश्राद्धस्य मातामहसम्बन्धिश्राद्धस्य च याज्ञवल्क्येनोदित इति ।

युगपच स विज्ञेय इति पादस्यायमर्थः—स याज्ञवल्क्येनो-दितः कालः पिण्डिपितृयज्ञद्शिश्राद्धयोरिव न भागक्रमेण। किन्तु पितृश्राद्धमातामहश्राद्धयोर्युपदेकदा भागक्रममन्तरेणैव ज्ञेय इति । ननु—कालविधायके पूर्वोक्तवचने युगपदादि-पदाभावात्कथमेवमवगितारित्याशङ्कचोक्तम्—वचनादृक्ष्यपाणका दिति । तस्यायमर्थः — यद्यपि न कालविधायकात्पूर्वोक्तवचना-देवमवगतिः तथाऽपि —

मातामहानामप्येवं तन्त्रं वा वैश्वदेविकम्।
इत्यस्मिन्नेव श्राद्धप्रकरणे वक्ष्यमाणाद्यचनादेवमवगतिभेविष्यती
ति। नन्वस्माद्पि वचनात्कथं यौगपद्यावगतिारिसाशङ्कच कालभेदेनेसादिना समर्थयते स्पष्टार्थोऽयंश्लोक इति। एवञ्च—यत्र
पैतृकस्य मातामहश्राद्धस्य चामावास्यादिकाले यौगपद्यं प्रतीतं
तत्रैवानयोः समानतन्त्रत्वं न पुनर्मृताह इसाह—

अमावास्यदिकालेषु तत् ज्ञेयं न मृतेऽहानि। इति । मृतेऽहानि यौगपद्यस्याप्रतीतेरित्यभिपायः । कथं पुन यौँगपद्यस्यामतीतिर्मृताह इत्याशङ्कचाह-अमावास्यादिकाले ष्वित्यादि । तस्यायमर्थः — अमावास्यादिकालेषु पैतृकमातामह-श्राद्धयोरिवशेषेण प्राप्तयोः कालैकत्वादेकस्मिन्नेव कालभागे कर्तव्यत्वावगमात्समानतन्त्रता युज्यते । मृताहे तु प्रतिपुरु-षमायुः प्रमाणभेदात्पितृपातामहयोभिन्नकालत्वान्मातामहश्राद्धस्य पितृमृताहो न काल इति, तद्भागक्ष्पकालेक्यस्य दूरोत्सारितत्वा-त्तिवन्धेनानयोस्समानतन्त्रताऽत्यन्तं न युज्यत इति । अनेनैव न्यायेन मात्रादिश्राद्धस्यापि पितृमृताहो न काल इति, तत्र तस्य प्राप्यभावात् । पितृमृताहे केवलपितृपितामहप्रपितामहा-नामेव देवतात्वं, न पुनस्सपत्नीकानामिति मन्तव्यम्। यद्यप्यनेनैव न्यायेन पितृमृतादः पितामहश्राद्धस्यापि न कालः, मातृमृताहश्च SMRITI CHA.-Vol V.

पितामहादिश्राद्धस्य न कालः, तथाऽपि पार्वणवदिति वचनात् पितामहपितामहयोरपि पितृमृताहे, पितामहीप्रपितामह्योरपि मातृमृताहे देवतात्वं न तु न्यायत इति सर्वमनवद्यम् । यदा पितु-स्तांवत्सिरिकश्राद्धकालः, मातृस्तांवत्मरिकश्राद्धकालश्च देवा-देको जातः तदाऽपि न सपत्रीकं पितृसांवत्सिरिकश्राद्धम् । किन्तु, मातापित्रोमरणपौर्वापर्यानुसारिक्रमेण तयोः सांवत्सारिक-श्राद्धद्रयं विप्रानिमन्त्रणादितद्विसर्जनान्तं पृथगेव कार्यम् । यदा तु मातापित्रोर्युगपन्मरणे पौर्वापर्यम् इतं, तदा पूर्व पितृस्तां-वत्सिरिकं कृत्वा पश्चान्मातुस्सांवत्सिरिकश्राद्धं कार्यं पितुर्पुख्य त्वात् । एवमभूतविषये श्रात्रादिसांवत्सिरिकश्राद्धदिनैक्ये श्रान्वात् ज्येष्ठादिक्रमेण पृथगेव कार्यम् । यत्तु प्रचेतसांकं च्येष्ठादिक्रमेण पृथगेव कार्यम् । यत्तु प्रचेतसांकं —

नैकः श्राद्धय कुर्यात्समानेऽहान कुत्रचित्। हति, तदेकस्मिन्नेव श्राद्धे पुनःपुनः श्राद्धं न कुर्यादिसेवंपरम्। तेन नानानिमित्तकानेकश्राद्धमेकस्मिन्नहिन कुर्वतो न प्रचेतसो वचनविरोधः। यत्तु लेकिकिणोक्तं—

मृतेऽहाने समासेन पिण्डिनिवेषणं पृथक् ।
नवश्राद्धं च दम्पसोरन्वारोहण एव तु ॥
इति, अनेनापि न मृताहे सपत्नीकं श्राद्धमुक्तं * येन पूर्वोक्तिवरोध
स्रयात् । किं तर्द्धनेनोक्तं ? उच्यते-दम्पत्योर्पृताहें क्ये समासेन संक्षेपेण पिण्डिनिवेषणं यथा द्वैपितृकश्राद्धे एकस्मिन्पिण्डे दृयोः पि-

^{*} पिण्डम्तां.

त्रोरमुकनाम्ने अमुकनाम्ने च इत्युद्धिश्येक एव पिण्डो दीयते तथेहाप्येकस्मिन् पिण्डे द्वयोमीतापित्रोरमुकायामुकाये चेत्युद्धेशं कृत्वा एक एव पिण्डो देयः। त्राह्मणाश्रायुग्माः पिण्डदाः नवदेव द्वावेवोद्धिश्य भोजयितव्याः । पिण्डानिर्वपणग्रहणस्य श्राद्धोपलक्षणपरत्वात् । एवं चैतच्छाद्धमनेकोद्देश्यसाहित्यद्धप् श्राद्धोपलक्षणपरत्वात् । एवं चैतच्छाद्धमनेकोद्देश्यसाहित्यद्धप् श्राद्धावनालिङ्गात्पार्वणधर्मकं तन्त्रेण कार्यम् । नवश्राद्धं तु दम्पत्योः पृथक्कार्यम् । ततश्रौकोद्दिष्ठरूपं श्राद्धद्वयं प्राग्द्वादशा- हान्वश्राद्धदिनेषु पितुर्मातुश्च कार्यम् । एवमुक्तविधं सांवत्स- रिकश्राद्धं नवश्राद्धं चैकचियामन्वारोहणे यात्रा कृते कर्तव्यम् । नान्यत्रेत्यवधारयितुमन्वारोहण एवत्युक्तम् । यतु स्मृत्यन्तरं—

एकचियां समारूढौ दम्पती निधनं गतौ।

पृथक्छाद्धं तयोः कुर्यादोदनं च पृथक्पृथक् ॥
इति, ओदनं ओदनिषण्डः तदेतन्नवश्राद्धमात्रविषये योजयेत्।
प्रसब्दं तद्येपामेकोदिष्टविधानेनैव मासिकमाब्दिकं च श्राद्धं
माताषित्रोर्मृताहे भेदेनोदितं तद्विपयमिति न पूर्वोक्तसांवत्सिरकश्राद्धविशेषेण सहास्यापि विरोधः । यत्पुनभृगुणैव—

प्रत्यव्दं च इत्युक्तवाऽनन्तरमुक्तं नवश्राद्धं युगपत्तु समा पयेत्। इति, तस्यायमर्थः —

मातापित्रोमृताहैक्ये मात्रा चैकचियन्वाहरोहणे कृते सति पितुर्नवश्रादं चैककालमेकपाकेन (पाकाभावस्येव?) तन्त्रेण

^{*} श्राद्धपर इत्याधिकं.

प्रधानात्पूर्वाङ्गकलापं कृत्वा प्रथमं पित्रे पश्चानमात्रे च श्रादं कृत्वा पाश्चात्याङ्गकलापं च कृत्वा तन्त्रेण कुर्यादिति । अने-कमात्मिरेकचियामन्वारोहणे कृतेऽप्येवमेव । पितुरनन्तरं सा-क्षान्मातुस्तदनन्तरमुपमात्रषु ज्येष्ठादिक्रमेण नवश्चादं कुर्यात् तथाच स एव—

एककाले गतासूनां बहूनामथवा हयोः।
तन्त्रेण अपणं कृत्वा कुर्याच्छाद्धं पृथक्पृथक् ॥
पूर्वकस्य सतस्यादौ हितीयस्य ततः पुनः।
तृतीयस्य ततः कुर्यात्सान्निपातेष्वयं न्नमः॥

इति । श्रपणं प्रदेयात्रपाकः पूर्वकस्य मुख्यस्य द्वितीयस्य मुख्यापेक्षा जघन्यस्य तृतीयस्य जघन्यतरस्यस्यः । भित्रचि-सामन्वारोहणे तु सर्वे पृथगेव कार्यम् । एवमुक्तविधिष्वन्यतम्विधिना यथोक्तन्यवस्थानुसारिणा मृताहश्राद्धमवश्यं कर्तन्यम् । तथाच काष्णीजिनिः—

ऊषरेषु यथा क्षिप्तं वीजं न प्रतिरोहित ।
तथाच तद्भवेतेषां यन्न दत्तं मृतेऽहीन ॥
एतेन मृताहे अन्नमवश्यं दातव्यिमत्यिभिप्रायः । 'तच्च पार्वणवत्
स्मृतम्' इति जातूकणीदीनां वहुतराणां पक्षः । 'एकोिद्दिष्ट
विधानेन' इति याज्ञवल्क्यादीनां बहूनाम् । अतएव सुमन्तुः—

कर्तव्यं पार्वणं राजन् नैकोदिष्टं कथञ्चन ।
सुवहून्यत्र वाक्यानि मुनिगीतानि चक्षते ॥

अल्पेतराणि राजेन्द्र एकोदिष्टं प्रचक्षते । इति । अत्र पार्वणपक्षे चक्षते प्रचक्षते धर्मशास्त्रज्ञाः । अल्पेत-राणि बहूनि कतिपयानि वाक्यान्येकोदिष्टपक्षं प्रचक्षत इत्यर्थः । तेन एकोदिष्टपक्षं परिसज्य पार्वणपक्ष एव परिग्राह्य इत्याह स एव—

तस्माद्वचनसामर्थ्यात्पार्वणं स्यान्मृतेऽहनि ॥ इति । वचनसार्थ्योद्वह्वतराणां वचनानां सामर्थ्यादित्यर्थः । अयमेवार्थो जैमिनिनाऽप्युक्तः—

'विप्रतिषिद्धधर्मसमवाये भूयसां स्यात्सधर्मत्वम्' इति।
प्रत्यक्षश्रुतिभूळत्वात् जातूकण्यादिवचनान्येव बळवन्ति। प्रत्यक्ष
श्रुतिश्चेयं—'मासिमासि ऋताद्यतौ हेमन्तग्रीष्मवर्षासु प्रतिसंवत्सरे च देवाश्च पितरश्च सहासताम्' इति। प्रतिसंवत्सरे
स्ताहे देवाश्च पितरश्च सहासतां विश्वेदेवाः पितृपितामहप्रपितामहाश्च श्राद्धं भोक्तुं सह तिष्ठन्त्वियर्थः। अनया श्रुत्या
सदैवं श्राद्धं कार्यं भृताह इत्युक्तम्। तस्मात्सर्वेरेव पार्वणपक्षो
ग्राह्यः। पार्वणविधायकवचनैः एकोदिष्ठविधायकवचनानां वाधितत्वात् । अथवा कतिपयरेव पार्वणपक्षः परिग्राह्यः।
तथाच स्मृत्यन्तरम्—

पितुः पितृगणस्थस्य कुर्यातां दर्शवत्सुतौ । प्रत्यब्दं प्रतिमासं च विधिज्ञौ क्षेत्रजौरसौ ॥ एकोद्दिष्टवदितरे सुताः कुर्युरिति शेषः । अत एव सुमन्तुः — प्रसब्दं पार्वणेनैव विधिना क्षेत्रजौरसौ ।
कुर्यातामितरे कुर्युरेकोदिष्टं सुता दश ॥
उक्ता चैवं परस्परिकिद्धानां स्मृतीनां विषयभेदेन व्यवस्था—
श्रुतिदेवें तु यत्र स्यात्तत्र धर्मांवुभौ स्मृतौ ।
स्मृतिदेवें तु विषयः कल्पनीयः पृथकपृथक् ॥
इति जाबालस्मरणात् । एवमेव विषयव्यस्था मातृमृताहेऽपीत्याह कात्यायनः—

प्रत्यब्दं यो यथा कुर्यात्पुत्रः पित्रे सदा द्विजः।
तथैव मातुः कर्तव्यं पार्वणं वाऽन्यदेव वा ॥
यत्तु तेनैवोक्तम्—

पितृच्यभ्रातृमातॄणां एकोहिष्टं सदैव तु ।
इति, तत्र मातृशब्दो गौणमुख्यमातृसपत्नीपर इति पितृच्यादि
समिभव्याहारादवगम्यते। अतो न पूर्वीकत्वचनेन सह विरोधः।
एतच मातृग्रहणं मुख्यमातृव्यतिरिक्तस्त्रीणामुपलक्षणार्थम्। अत
एव विष्णुधर्मीत्तरम्—

प्रतिसंवत्सरं कार्यमेकोदिष्टं नरैस्स्नियाः ।

मृतेऽहिन यथान्यायं नॄणां यद्वदिहोदितम् ॥

यद्वत्पुरुषाणां समन्त्रकं श्राद्धं तद्वत् द्विजातिस्त्रीणां कृतिनिवाहानां समन्त्रकमेव श्राद्धं कार्यम् । इत्यन्त्यपादस्यार्थः । अपरिणीतानां तु स्त्रीणां संस्कारहीनत्वादमन्त्रकमेव । स्त्रिया इत्ये

तद्पुत्रायाः स्त्रिया इत्यभिषायकम् । अत एव गर्गः—

अपुत्रा या सताः काश्चित् स्त्रियो वा पुरुपाश्च ये।
तेषामिष च देयं स्यादेकोदिष्टं न पार्वणम् ।।
इति । स्त्रियः मातुस्सपत्रचादयः। पुरुषाः पितृच्यादयः। यद्वा—
येनास्य पितरो याताः येन याताः पितापहाः ।
तेन यायात्सतां मार्गं तत्र गच्छन्न रिष्यिति ॥
इति स्मृत्यन्तरोक्तपूर्वपुरुषाचारेणैकोदिष्टपार्वणपक्षयोरुदितानुदितहोमवत् अन्योन्यनिन्दार्थवादेन सह विहितयोः मातापितृमताहश्राद्धित्रषये च्यवस्था वोद्धच्या । अत्र पैठीनिसः—
विभक्तैस्तु पृथक्कार्यं प्रतिसांवत्सरादिकम् ।
एकेनैवाविभक्तेषु कृते सर्वेस्तु तत्कृतम् ॥

एकनवाविभक्तपु कृत सवस्तु तत्कृतम् ॥

इति स्मृतिचन्द्रिकायां मृताहश्राद्धविधिः.

अथ श्राद्धभेदपकरणोक्तपार्वणविकृतिभूतिनत्यश्राद्धादिविषयाणि कानिचिद्वचनानि छिख्यन्ते । तत्र पारस्करः--

> अहन्यहानि यच्छ्राद्धं तानित्यमिति कीर्तितम् । वैश्वदेवविहीनं तु अशक्तावुदकेन च ॥

वैश्वदेविवहीनं तु पार्वणधर्मातिदेशतः पाप्तस्य वैश्वदैविकस्य कर्मऽणोनुष्ठानेन रहितम् । अनेन नित्यश्राद्धं पार्वणवत्र कार्य मिति स्वचितम् । अहन्यहनीत्येतदत्यन्तश्रद्धाळुविषयं सुसमृद्ध-विषयं वा । यथाऽऽह देवलः— एतेन विधिना श्राद्धं कुर्यात्संवत्सरं सकृत्। त्रिश्चतुर्वी यथाश्रद्धं मासेमासे दिनेदिने॥

ति । एतेन विधिना पार्वणविधानेन प्रतिसंवत्सरमेकवारं विशिष्टेऽहि, प्रतिसंवत्सरं त्रिवारं वा त्रिषु मासेषु विशिष्टेऽहि, प्रतिसंवत्सरं त्रिवारं वा त्रिषु मासेषु विशिष्टेऽहि, प्रतिसंवत्सरं चतुर्षु मासेषु विशिष्टेऽहि, मासे मासे वा विशिष्टेऽहि, दिनोदेने वा यथाश्रद्धं श्रद्धानुसारेण श्राद्धं नित्यश्राद्धं कुर्यादिसर्थः। यथाश्रद्धमित्येतत् यथासामथर्चमि त्यस्यापि प्रदर्शनार्थम्। शक्त्यपेक्षयाऽपि व्यवस्थाया उचित त्वात्। अस्य च नित्यश्राद्धस्य करपः अस्माभिराहिकं सम्य-क्पपिश्चत इति नेह प्रपश्चचते॥ निमित्तिकं तु श्राद्धमेकोदिष्टात्मकं पार्वणविक्रतिभूतं आशौचका-ण्डेऽस्माभिर्वक्ष्यते॥

काम्यश्राद्धं तु शातातपेन निरूपितं— कामाय तु हितं काम्यमभित्रेतार्थसिद्धये । पार्वणेन विधानेन तदप्युक्तं यथाक्रमम्॥

इति । तद्दिष काम्यश्राद्धमापे पार्वणिवियानेन प्रतिपदोक्त-धर्मान्तरसिहतं विप्रानिमन्त्रणाद्युक्तक्रमानतिक्रमेण कार्यमिति मुनिभिरुक्तमित्यर्थः। तेन काम्यश्राद्धं 'काम्ये तु धुनिरोचनौ ' इति वचनेन प्रतिपदोक्तधुनिरोचनतं क्षिकविश्वदेवान्त्रितं कार्यम्॥

वृद्धिश्राद्धमपि प्रतिपदोक्तधर्मान्तरसहितं पार्वणवत्कार्यम्। तथाच विष्णुधर्मोत्तरं— रृद्धौ श्राद्धं नरः कुर्वन् निसं वृद्धिमवाप्नुयात् । इत्युक्त्वा,

रृद्धौ समर्चयोद्वेद्दान् नित्यं नान्दीमुखान् पितृन् । संपादितो विशेषस्तु शेषं पात्रणवद्भवेत् ॥ इत्युक्तम् । रृद्धौ पुत्रजन्मविवाहाद्याभिरृद्धिक्रपनिमित्ते पस्तुत इत्यर्थः ।

पुत्रजन्मविवाहादौ वृद्धिश्राद्धमुदाहृतम् । इति विसिष्ठस्मरणात् । नरोत्र पिता* विवक्षितः । अत एव विष्णुपुराणे—

जातस्य जातकर्मादिकियाकाण्डमशेषतः । पुत्रस्य कुर्वीत पिता श्राद्धं चाभ्युदयात्मकम् ॥ कास्रायनोपि—

स्विपतृभ्यः पिता दद्यात्सुतसंस्कारकर्मसु ।
पिण्डानोद्वहनात्तेषां तस्याभावे तु तत्क्रमात् ॥
अस्यार्थः—सुतसंस्कारकर्मसु जातकर्मादिषु तेषां सुतानां ओद्वह्नात् विवाहपर्यन्तेषु पिता स्विपतृभ्यः पिण्डान् दद्यात् ।
वृद्धिश्राद्धं कुर्यादित्यर्थः । तस्याभावे तु पितुरभावे तु तत्क्रमात् तेषु जातकर्मादिकर्मसु,

असंस्कृतास्तु संस्कार्या भ्रातामिः पूर्वसंस्कृतैः । इसादिवचनात् यो गम्यमानः कर्तृक्रमः तेन क्रमेण ज्येष्ठभ्रात्रादिः स्विपित्रभ्यो दद्यादिति । समावर्तनस्यापि विवाहात्माचीनस्रत- संस्कारत्वाज्जीविषितृकसमावर्तने पिता स्विषितृभ्यो दद्यात्। अजीविषितृकस्तु पूर्वसंस्कृतभ्रात्रसम्भवे स्वयमेव पितृभ्यो द-द्यात् उपनयनेन कर्माधिकारस्य जातत्वात्। विवाहेऽप्येवमेव द्रष्टन्यम्।

हृद्धौ समर्चयेद्विद्वान् निसं नान्दीमुखान् पितृन् । इत्यादिविष्णुधर्मोत्तरवचनशेपस्यायमर्थः—हृद्धौ हृद्धिश्राद्धे नान्दी-मुखसंशिकान् पितृन् समर्चयेत्। सम्पादितो विशेपस्तु नान्दी-मुखसंशिक्षाे वैशेषिको धर्मः सम्पादितः मतिपादितः। शेपं पार्वणवद्भवेत् । प्रतिपादितनान्दीमुखसंशारूपवैशेपिकधर्मादन्य-द्धमेजातं पार्वणवदिहाप्यवगन्तव्यमिति।

नचैवं पुरूरवार्द्रवसंज्ञिकरूपो धर्मः पार्वणवत् विश्वेपां देवानामत्र स्यादिति वाच्यं विष्णुधर्मोत्तरे नान्दीमुखसंज्ञारूप-वेशेषिकधर्माभिधानस्य स्मृत्यन्तरोक्तवैशेषिकधर्मभदर्शनार्थत्वात् । तस्मात् 'सत्यो नान्दीमुखे वसुः' इखाद्यः स्मृत्यन्तरोक्ताः विशेषाः दृद्धिश्राद्धे ग्राह्याः । तत्र तावच्छातातपेन केचन विशेषा उक्ताः—

मातृश्राद्धं तु पूर्वं स्यात्पितॄणां तदनन्तरम् । ततो मातामहानां च वृद्धौ श्राद्धत्रयं स्मृतम् ॥ इति । मातामहश्राद्धं पार्वणवत्सपत्नीकमेव । न तु मात्रादिः श्राद्धवन्मातामहादिश्राद्धं पृथक्कार्यमिति वक्तुं श्राद्धत्रयं स्मृतमिः त्युक्तम् । न तु मातृश्राद्धमित्यनेन मातुरेव श्राद्धं पृथाग्विहितं न पितामहीप्रिपतामह्योरिति वाच्यम् । मातृशब्दस्यात्रं स्रक्षणया मात्रादिपरत्वात् । अत एवोक्तं तेनैव—

> पित्रादित्रयपत्नीनां भोज्या मातृः प्रति द्विजाः । स्त्रीणामेव तु तद्यस्मान्मातृश्राद्धमिहोच्यते ॥

इति । मातृः पति द्विजाः भोज्याः । मातृपितामहीपापितामहीरुद्दिश्य भोज्याः द्विजा इत्यर्थः । पित्रादित्रयपत्नीनां स्त्रीणां
इह पृथेगवैतछ्। द्वं यस्मात्तस्मान्मातृश्राद्धमित्युच्यत इत्यन्वयः ।
उक्तश्राद्धत्रयंस्य कालभेदमाह गाग्र्यः—

मातृश्राहं तु पूर्वेद्यः कर्माहन्येव पैतृकम् ।

मातामहां चोत्तरेयुर्वृद्धौ श्राह्मत्रयं स्मृतम् ॥

एवं दिनत्रयश्राह्मपक्षो यदा दुष्करः तदा त्वाह वृद्धशातातपः—

पृथद्गिने त्वशक्तश्चेदेकस्मिन् पूर्ववासरे ।

श्राह्मत्रयं तु कुर्वीत वैश्वदेवं तु तान्त्रिकम् ॥

इति । फल्रदेशकाल्रद्रव्यदेवतासाधारण्यादत्र वैश्वदैविकं तन्त्रे णैव कार्यमिसर्थः । ननु कथमत्र काल्रसाधारण्यं?

पूर्वीह्ने मातृकं श्राद्धं मध्याह्ने पैतृकं तथा । ततो मातामहानां तु वृद्धौ श्राद्धत्रयं स्मृतम् ॥

इति शातातपेन मातृश्राद्धादिषु पूर्वोह्वादिकालभेदविधानात्। अतः कथमत्र तन्त्रताः ससं शातातपत्रचनासुसारेणानुष्ठाने काः लभेदान्न तन्त्रता । किन्तु— पूर्वीह्ने दैविकं कार्य अपराह्ने तु पैतृकम् ।
एकोदिष्टं तु मध्याह्ने प्रात्तृहिद्धिनिमित्तकम् ॥
इति प्राचेतसवचनानुसारेणैकदिने प्रातःकाले यदा श्राद्धत्रयाः
नुष्टानं तदैव वैश्वदैविकं तन्त्रं स्यात् कालैक्यात् । प्रातःकाले न सङ्गवाख्यकालनिवृत्तिपरः—

पूर्वाक्के वै भवेद्घृद्धिर्विना जन्मनिमित्तकम् ।
पुत्रजन्मिन कुर्वीत श्राद्धं तात्कालिकं वुधः ॥
इत्यत्रिणाऽभिधानात् । लघुपक्षत्वाद्धेश्वदैविकतन्त्रपक्षेणैव सम्प्र
त्यनुष्टानम् । वृद्धशातातपोपि विशेषानाहः—

त्रिष्वप्येतेषु युग्मांस्तु ब्राह्मणान्नियतदशुचिः ।
प्रदाक्षणं तु सव्येन भोजयेद्देवपूर्वकम् ॥
इति । अयमर्थः—द्वौ दैवे ब्राह्मणौ । द्वौ मातृश्राद्धे। द्वौ पितृश्राद्धे। द्वौ सपत्नीकमातामहश्राद्धे एवमष्टावरान् ब्राह्मणान् निमन्त्रणादि विसर्जनान्तं सर्वमुपचारजातं प्रदाक्षणं यथा भवति
तथा कुर्वन् सव्येन सव्यांसगतेनैव यज्ञसूत्रेणोत्तरवाससा चान्वितः
श्राद्धकर्ती भोजयेदिति । अत्र विष्णुपुराणोक्तविशेषः—

युग्मांस्तु पाङ्माखान्विमान् भोजयन्मनुजेश्वर । इति । प्रचेता अपि विशेषमाह---

न जपेत्पैतृकं जप्यं न मांसं तत्र दापयेत्। प्राड्युखो देवतीर्थेन क्षिपं देशविमार्जनम्॥ इति। पैतृकं पितृछिङ्गकं जप्यं भोजनसमयादौ जप्यत्वेन विाहितमत्र न प्रयोक्तव्यं जपस्यैवात्र निषेधात्। पितृलिङ्गोपि करणमन्त्रः प्रयो-क्तव्य एव । अतएव स्ष्टत्यन्तरम्—

> पितृलिङ्गेन मन्त्रेण यत्कर्म मुनिभिस्स्मृतम् । तेनैव तिद्वधातव्यं अमन्त्रमकृतं यतः ॥

इति । प्राङ्मुखः कर्ता देवतीर्थेन पैतृकमापि कर्मजातं कुर्यादिति तृतीयपादस्यार्थः । क्षिपं देशादिमार्जनं भुक्तवत्सु द्विजेषु तानि भोजनस्थानानि संमार्जनं कर्तुं कर्तुः पाङ्मखत्वं भोकृषूदङ्ग वेषु सत्सु कथि डिमाभिमुख्यसम्मवाद्युज्यते । न तु प्राङ्मावेषु भोक्तृषु । तेनोदङ्ख्यान् ब्राह्मणान् भोजयेदिति पक्षोऽस्माद्व चनाद्गम्यत इसवगन्तव्यम् । विष्णुपुराणोक्ते तु प्राङ्कुलान् ब्राह्मः णान् भोजयेदिति पक्षे कथि द्विद्वाभिमुख्यं कर्तुरुदङ्गुस्तत्वे सति युज्यते न तु प्राङ्मुखत्व इति कर्तुरुदङ्मुखत्वपक्षस्तद्वः चनाह्रम्यत इति बोद्धव्यम्। एवं च यदा पाङ्मुखा विप्रास्तदा कर्तोदङ्गल आवाहनादिकं कुर्यात्। यदा तु विमा उद ब्युखाः तदा कर्ता प्राब्यस्य इत्यवगन्तव्यम्। अत एवाश्व-लायनगृह्मपरिशिष्टम्-'आभ्युद्यिके युग्माः त्राह्मणाः। अमूला दर्भाः । प्राङ्मखेम्य उदङ्मुखो दद्यात् । उदङ्मुखेभ्यः प्राङ्मुखः। द्दौ दभौँ पवित्रे' इति । भविष्यत्पुराणे अपि विशेष उक्तः—

> मधुरं भोजनं दद्यात्र चाम्लं परिवेषयेत् । रक्तपुष्पं तिलांश्चेव ह्यपसव्यं च वर्जयेत् ॥

पार्वणे जलोख्नवानि रक्तपुष्पाणि विहितानि तदितररक्तपुष्पाः णि प्रतिषिद्धानि इह जलोद्धवरक्तपुष्यस्यापि प्रतिषेधार्थे रक्त-पुष्पग्रहणम् । केन तर्हि तिलकार्यं कर्तव्यिमत्यपेक्षिते कात्या-यनः—'यवैस्तिलार्थः' इति ।

तिलार्थिस्तिलकार्यं यवैः कर्तव्यिमत्यर्थः। एवंच 'तिल्लोऽसि सोमदेवत्यः' इति मन्त्रे यवोसीत्यूहः कार्य इत्याह स एव 'तत्र यवोसीत्यूहः' इति । तत्र तथासाति तिल्लार्थार्थं यवोपादाने सतीत्यर्थः। अन्नत्यागादौ स्वधाशब्दो न प्रयोक्तव्य इत्याह स एव—'न स्वधां प्रयुक्तीत' इति । एवंच 'स्वधा नमः' इत्यत्र स्वधाशब्दस्य स्थाने स्वाहा इसेवं प्रयोगः। 'स्वधाहर्याः' इत्यत्र 'स्वाहाहर्याः' इसेवं प्रयोगः कर्तव्यः।

सदा परिचरेद्भकत्या पितॄनप्यत्र देववत् । इति तेनैवाभिधानात् । देववदित्यभिधानात्सव्यजानुप्रपतनं पित्रचेपूपचारेषु न कर्तव्यम्। तथाचोक्तं तेनैवः—

निपातो न हि सव्यस्य जानुनो विद्यते काचित् ।

इति । एवंच यत्रयत्र पार्वणश्राद्धे दैविकमचारादन्यथा पैतृक

प्रचारः स्मृतः तत्रतत्र वृद्धिश्राद्धे दैविकमचार आश्रयणीयः ।

मत्स्यपुराणे विशेष उक्तः—'दद्याद्द्यं द्व्योर्द्वयोः' इति ।

अर्ह्यग्रहणं पाद्यादेरिष प्रदर्शनार्थम् । अत एवानन्तरमुक्तं
तत्रैव—

युग्मा द्विजातयः पूज्या नान्दीशब्दानुपूर्वकम् । इति । एवश्चैवं प्रयोगः —नान्दीदैवे क्षणः क्रियतामिति दैवे द्वयोर्द्वयोर्युगपदेव निमन्त्रणं कृत्वा ओं तथेति द्वाभ्यां वि प्राभ्यां युगपद्क्ते प्राप्तुतां भवन्ताविति कर्ता ब्रूयात् । विभौ तु प्राप्नवावेति युगपदेव प्रतिवचनं ब्रूयाताम् । एवमेव पित्रच-नियन्त्रणं नान्दीमुखश्राद्धे क्षणः क्रियतामिति तु विशेषः। आवाहनादौ तु प्रयोगपकारमाह कात्यायनः—"नान्दीमु-खान् पितृनावाहियष्ये इति पृच्छति, 'अस्तु स्वधा 'इसस्य स्थाने तु 'नान्दीमुखाः पितरः पितामहाः प्रपितामहाः मा तामहाश्च पीयन्ताम् 'इति पतिवचनम्। 'स्वधां वाचायिष्ये ' इत्यस्य स्थाने 'नान्दीमुखान् पितृन् वाचियष्ये ' इति पृच्छति, नान्दीमुखाः पितर इत्यादि प्रीयन्तामित्यन्तं प्रतिवचनम्" इति। वित्रा ब्र्युरित्यर्थः । तृप्ताः स्थेति पश्चस्थाने सम्पन्नमिति पृच्छे-दित्याइ स एव-'संपन्निपिति तृप्तिपक्षे' इति । पिण्डद्रव्ये त विशेषमाह स एव-

'दिधवदराक्षतिमश्राः पिण्डाः' इति । कार्या इति शेषः। अत एव वृद्धवसिष्ठः --

तृप्तिपश्चे तु सम्पन्नं दैवे रुचितमित्यपि । द्धिकर्कन्धुसंमिश्राः पिण्डाः कार्या यथाक्रमम् ॥

इति। कर्कन्धः वदरीफलम् । पिण्डदाने विशेषमाह स एव-प्राड्मुखो देवतीर्थेन प्राक्क्लेपु कुशेषु च । दत्वा पिण्डाम्न कुर्वीत पिण्डपात्रमधोमुखम् ॥ इति । प्राक्तुलेषु प्रागग्रेषु । पिण्डदानमत्र नोच्छिष्टसमीपे । किन्तु भोजनशालाया वहिः कार्यः

पदचात्पाञ्चाखः पिण्डान् वृद्धौ नाम्ना स वाह्यतः। इति वृद्धशातातपस्मरणात्, 'वहिस्तु प्राक्क्षेषु च दध्यक्ष-तकर्कन्धूमिश्रान् पिण्डान्निधापयेत्' इति प्रचेतसाऽभिधानाच । चतुर्विशतिमतेऽपि विशेष उक्तः—

एकं नाम्ना परं तृष्णीं दद्यात्पिडान् पृथक्पृथक् । इति । पृथक्पृथगेकैकस्मिन् द्वां द्वौ पिण्डौ दद्यात् । तत्र मथमपिण्डं नाम्ना गोत्रमन्त्रसहितेन दद्यात् । द्वितीयं तृष्णीं दद्यादित्यर्थः। भविष्यपुराणे तु पिण्डदानमत्र वैकल्पिकामित्युक्तं—

पिण्डिनिवेपणं कुर्यात्र वा कुर्यात्रराधिप । दृद्धिश्राद्धे महावाहो कुलधर्मानवेश्च्य तु ॥

इति । कुलधर्मानवेश्येत्यभिधानात् येपां कुले पिण्डदानादि । विमविसर्जनान्तस्य कर्मकलापस्य अननुष्ठानं तेपां विमभोज-नान्तमेव द्वादिश्राद्धं कार्यम् । विमविसर्जनान्तपक्षेऽपि पितृभ्यो वर्याचनमन्त्रात् 'दातारः' इत्यादेः पूर्वं मातृभ्यो वर्या-चनमन्त्रोऽत्र भयोज्यः । एनदपि तत्रैवोक्तम्—

माना पितामही चैव तथैव प्रिपतामही।
एता भवन्तु मे पीताः प्रयच्छन्तु च मङ्गळम्॥ इति।
इति स्मृतिचिन्द्रिकायां पार्वणश्राद्धविकृतिभूतश्राद्धेषु
नित्यादिश्राद्धविषयाणिः

अथ वृद्धिश्राद्धस्यैव प्रयोगसौकर्यार्थ कात्यायनाद्यक्त-प्रयोगपद्धातिः लिख्यते । तत्र तावत्कात्यायन आह— अतः परं प्रवक्ष्यामि विशेष इह यो भवेत् । प्रातरामन्त्रितान् विपान् युग्मानुभयतस्तथा ॥ उपवेश्य कुशान् द्याटजूनेव हि पाणिना । इति ।

पूर्वेद्युर्निमन्त्रितान् विषान् उत्तरेद्युः पातः पूर्वोह्रे पक्षाळितपादा-नासनेपूपवेक्य प्रकान्तं कर्म करिष्ये इत्यादि पार्वणवत्कु-र्यात् । विशेषस्तु वैश्वदैविकार्थं पित्रर्थमापि युग्मानेव बाह्म-णानुपवेश्य ऋजून् दिगुणभङ्गराहितान् युग्मान् समूलान् कुः शानासनार्थ विपाणां प्राड्मखानामुदद्मखानां वा दक्षिणोरु-समीपे पूर्वक्रुप्तासनस्योपिर पाञ्चख उदञ्जलो वा दद्यात्। ततो नान्दीदैवे क्षणः क्रियतामित्यादिपूर्वप्रकरणोक्तप्रकारेण दैवे पित्रचे च पुनरामन्त्रणं च कुर्यात्। ततः पार्वणविद्विश्वान् देवान् विमद्वये सक्चदावाह्य मातृपितामहीप्रपितामहीरावा-इयिष्ये इति मात्वर्गार्थविष्रौ पृष्टा, 'उशन्तस्त्वा हवामहे' इति मन्त्रेण विषद्वे मातृवर्ग सकृदावाह्य नान्दीमुखान् पि-तूनावाहिय वये इति पितृवर्गार्थवित्रौ पृञ्जा वित्रद्वयेऽपि पितृ-वर्गमावाहयेत्। नात्र सपत्रीकानामावाहनम्। ततो नान्दीः मुखान् मातामहान् सपत्नीकान् आवाहयिप्ये इति मातामह-वर्गार्थविषी पृष्टा सपत्रीकं मातामहवर्ग विषद्वे सकुदा-वाहयेत्। ततोऽध्योदिकसंस्कारं कुर्यात्। तत्र विशेष आ-

श्वलायनगृह्यपरिशिष्टेऽभिहितः—"द्वौ दभौं पवित्रे पात्राणि चत्वारि 'शं नो देवीः' इत्यनुमन्त्रितासु यवानावपति—

> यवोसि सोमदैवत्यो गोसवे देवनिर्मितः। भववद्भिः भवः....।।

इति दृष्ट्वा नान्दिशिखान् पितृनिमान् लोकान् प्रीणयाहि नस्त्वाहेति स्वधाद्याः" इति । समीपनयनमन्त्रोपि स्वाहाद्यी इत्यूह्यः । अद्यप्तदाने तु विशेषः कात्यायनेन दार्शतः—

> गोत्रनामाभिरामन्त्रच पितृभ्योऽद्यं निवेद्येत्। नात्रापसन्यकरणं न पित्रचं तीर्थामिष्यते॥ पात्राणां पूरणादीनि देवेनैव हि कारयेत्। ज्येष्ठोत्तरकरान् युग्मान् कराग्राग्रपवित्रकान्॥ कृत्वाऽद्यं संप्रदातन्यं नैकस्यात्र प्रदीयते।

इति । ज्येष्ठोत्तरकरानित्यादेरयमर्थः—द्वयोर्द्वयोत्रीह्मणयोर्द्वस्तौ मेळियत्वाऽर्ध्यदानं कार्यं तत्र ज्येष्ठस्य ब्राह्मणस्य हस्ते उत्तरः कार्य इति । 'या दिन्या आपः' इत्याद्यर्ध्यान मन्त्रान्ते विशेष आश्वलायनपृद्यपरिशिष्ठे दश्चितः—'विश्वदेवा इदं वो अर्ध्य नान्दीभुखाः पितर इति यथालिङ्गमर्ध्यदानम् 'इति । विश्वदेवा इदं व इत्यत्र सत्यवस्रसंज्ञका विश्वदेवा इति पूर्वमकरणोक्तो विशेषो द्रष्टन्यः । एवं यत्रयत्र विश्वेषां देवानां नामनिर्देशः क्रियते तत्रतत्रायं विशेषोऽनुः संधेयः । अर्ध्यनवत् व्राह्मणयोर्द्वस्तौ मेळियत्वा न गन्धाः

दिदानं किन्तु पार्वणवदेकैकस्य इस्त एव, अर्ध्यविद्येषानिभधानात्। एकैकस्य इस्तेऽपि द्विद्विर्गन्धादिदानं कार्य,
'गन्धादिदानं द्विद्विः' इति गृह्यपरिशिष्टेऽभिधानात्। अप्रौकरणिवशेषस्तेनैवोक्तः—'पाणौ होमोऽप्रये कव्यवाहनाय
स्वाहा सोमाय पितृमते स्वाहा" इति। 'निसं चाग्नौकरणं
स्वाहाकारेण होमश्च' इति यृह्यपरिशिष्टे पाठान्तरम्। पूर्यवादिति वक्तव्ये नित्यमिति तत्रतत्र परिशिष्टकारादिभिरुच्यते।
ततश्चायमर्थः—निसं चाग्नौकरणं पूर्ववदेवाग्नौकरणं इति।
पार्वणवद्गौ पाणौ वा करणिमति। 'इदं विष्णुः' इसङ्गृष्टग्रहणमन्त्रस्थाने मन्त्रान्तरमुक्तं तत्रैव—'अतो देवा अवन्तु
न इत्यङ्गुष्ठग्रहणम्' इति। आपोश्चनदानानन्तरं जपे विशेषः
कात्यायनेन दार्शितः—

मधु मध्विति यस्तत्र त्रिर्जपेच्छ्रेय इच्छता।
गायत्रचाऽनं तत्र सोऽत्र मधुमन्त्रविवर्जितः ॥
इति । मधुमन्त्रः 'मधुवाता' इत्यादिमन्त्रः । भुञ्जानेषु विमेषु
जप्यमन्त्रविशेपस्तेनैवोक्तः—

न चाश्नत्सु जपेदत्र कदाचित्पितृसंहिताम् । अन्य एव जपः कार्यः सोमसामादिकः शुभः ॥ इति । गृह्यपरिाशिष्टे—'पावमानीः शंवतीरैन्द्रीरमातिरथं च श्रा वयेत्' इति । पावमानीः स्वादिष्ठयेत्येवमाद्याः । शंवतीः 'शंन इन्द्राग्री भवतामवोभिः' इत्याद्याः । ऐन्द्रीः 'इन्द्र त्वा द्रषभं वयम्' इत्याद्याः । अप्रतिरथं 'आशुरिशशानः' इति सक्तम् । 'मधु वाताः' इत्यृचस्त्थाने ''उपास्मै गायता नरः' इति पञ्च मधुमतीश्च श्रावयेत् । 'अक्षन्नमी मदन्त इति पष्टीं'' इति यद्यपरिशिष्टे पाठान्तरम् । तृप्तिपश्चादौ विशेषः कासायनेन दार्शतः—

सम्पन्नीमित तृप्ताःस्थितश्चस्थाने विधीयते । स्सम्पन्निमिति मोक्ते शेषमत्तं निवेदयेत् ॥ यस्तत्र विकिरोऽन्नस्य तिलवान् यवमांस्तथा । उच्छिष्टसंनिधौ सोऽत्र तृप्तेषु विपरीतकः ॥

इति । तत्र पार्वणे तृप्तेषु विषेषु उच्छिष्टसान्निधौ योऽन्नादेः विकिरः तृप्तित्रश्नत उत्तराभ्यां त्रागनुष्टेयतया तदीयगृह्यसूत्रे उक्तः, सोऽत्र दृद्धिश्राद्धे विपरीतकः तृप्तित्रश्नत उत्तराभ्यां ऊर्ध्वमनुष्टेय इत्यर्थः । पिण्डदानेऽपि विशेषस्तेनैव दर्शितः—

प्रागग्रेषु तु दर्भेषु आद्यमामन्त्र्य पूर्ववत् ।
अपः क्षिपेनमूलदेशेऽवनेनिङ्क्ष्वेति निस्तिलाः ॥
द्वितीयं च तृतीयं च मध्यदेशाग्रदेशयोः ।
मातामहमभृतींस्तु एतेपामेव वामतः ॥
सर्वस्मादत्रमुद्धृत्य व्यञ्जनैसम्भूपपायसैः ।
संयोज्य यवकर्वन्धूद्धिभिः प्राङ्मुखस्ततः ॥
अवनेजनवित्पण्डान् दत्वा विल्वप्रमाणकान् ।
तत्पात्रक्षाळनेनाथ पुनर्प्यवनेजयेत् ॥

उत्तरोत्तरदानेन पिण्डानामुत्तरोत्तरः ।
भवेदधश्च करणादधरः श्राद्धकर्मसु ॥
तस्माच्छ्राद्धेषु सर्वेषु दृद्धिमित्स्वतरेषु च ।
मूलमध्याग्रदेशेषु ईषत्सक्तांश्च निर्वेषेत् ॥
गन्धादि निर्वेषेत्रूष्णीं तत्रश्चाचमयोद्धिजान् ।

इति । मातामहप्रभृतींस्तु एतेषामेव वामत इसस्यायमर्थः—
एतेषां मातृवर्गार्थमवनेजनस्थानानामुत्तरतः कृतिपृतृवर्गार्थावनेजनस्थानानामुत्तरतः मातामहप्रभृतीनवनेजयोदित्यर्थः । एतदुक्तं भवति—पिण्डस्थाने संस्तीर्णेषु प्रागग्रेषु दर्भेषु मूल्णमध्याग्रदेशेषु पथमं मातृवर्गपिण्डदानार्थमपः क्षिपेत् । तत उत्तरतः
पितृवर्गपिण्डदानार्थं, तत उत्तरतो मातामहवर्गार्थमेवमपः क्षिपेदिति । पिण्डान् दत्वेत्यत्र मातृभ्यः पितृभ्यो मातामहभ्यश्चेति शेषः । ईषत्सक्तान् परस्परमीषत्स्पृष्टान् मात्रादिषु पित्रादिपु च पत्येकं द्वौद्वौ पिण्डौ देयौ । तत्र प्रथमः पिण्डः
समन्त्रकनामगोत्रेण देयः । द्वितीयस्तृष्णीमिति । शेषः प्राचीनप्रकरणोक्तोऽनुसंधेयः । पिण्डार्चनानन्तरं कर्तव्यविशेषस्तसिमन्नव दर्शितः—

तद्वद्विभूमिमासिश्चेत् सुष्ठुपेाक्षितमस्त्विति । शिवा आपस्संत्विति च युग्मानेवोदकेन हि ॥ सौमनस्यमस्त्विति च पुष्पदानमनन्तरम् । अक्षतं चारिष्टं चास्त्वित्यक्षतान् प्रतिपादयेत् ॥ इति । स्वस्तिवाचनेऽपि विशेपस्तेनैव दार्शतः—'युग्मानेव स्वस्ति वाच्यम्' इति । अक्षय्ये स्वधावचने च विशेपो नान्दीमुखाः पितरः पीयन्तामिति । अक्षय्यस्थाने नान्दीमुखान् पितृन् वाचियष्य इति पृच्छति । नान्दीमुखाः पितरः पि तामहाः प्रपितामहश्च पीयन्तामिति वचनेन प्राचीनप्रकरणोन्तमनुसन्धयम् । शेपं पार्वणवदेव । पार्वणं च द्विविधं विस्तृतपार्वणमित्रस्तृतपार्वणं चेति । तत्राविस्तृतपार्वणं सङ्करुपविधानेन क्रियमाणम् । पिण्डानिर्वापणादि विधानेन क्रियमाणं विस्तृतपार्वणम् । पार्वणवदित्यातिदेशिकवचनेन द्विविधपार्वणधमातिदेशादिस्तृतपार्वणधमातिदेशादिस्तृतपार्वणधमानिष्ठानासम्भवे सङ्करुपविधानपार्वणधमित्रभाषि वृद्धिश्राद्धाद्यनुष्ठेयमित्यवगन्तव्यम् ।

इति स्मृतिचन्द्रिकायां कात्यायनायुक्तवृद्धिश्राद्ध-प्रयोगपद्धतिः

अथाभ्युदयिकश्राद्धनिरूपणप्रसङ्गादन्यदाभ्युदयिकं कर्म निरूप्यते । तत्र चतुर्विंशतिमतम्—

> श्राद्ध आभ्युद्ये प्राप्ते देवतास्थापनं स्मृतम् । जातिधर्मकुलश्रेणीलोकानां वृद्धिकारणम् ॥ तिस्रः पूज्याः पितुः पक्षे तिस्रो मातामहे तथा । इत्येता मातरः प्रोक्ताः पितृमातृष्वसाऽष्टमी ॥ ब्राह्मचाद्याश्च तथा सप्त दुर्गाक्षेत्रगणाधिपान् ।

दृद्धचादौ पूजियत्वा तु पश्चान्नान्दीमुखान् पितृन् ॥ मातृपूर्वान् पितृन् पूज्य ततो मातामहानपि । मातामही ततः केचिद्युग्मा भोज्या द्विजातयः ॥

इति । आभ्युद्ये अभ्युद्यनिमित्ते श्राहे प्राप्ते कर्तव्यतया प्रस्तुते ततः प्रागेव मात्रादिपूजनार्थ देवतास्थापनं स्थिण्ड-लादौ मात्रादिगणाधिपान्तदेवतावाहनं स्मृतमिति प्रथमार्ध-स्यार्थः । पितुः पक्षे पितृ वर्गे तिस्रः मातृपितामहीपपिता-महाः पूज्याः । तथा मातामहे मातामहवर्गे तिस्रः मातामहीमा-तुःपितामहीमातुः मिपतामहाः । 'पितृमातृस्वसाऽष्टमी' इति पितृष्वसा सप्तमी मातृष्वसा अष्टमी पूज्याः इत्यष्टौ मनुष्य-मातरः मोक्ता इति द्वितीयश्लोकस्यार्थः । ब्राह्मचाद्यास्तथा सप्त ब्राह्मी बैप्णवी माहेश्वरी ऐन्द्री वाराही कौमारी चामुण्डा इत्येताः सप्त देवमातरः। तथा दुर्गाक्षेत्रगणाधिपान्। दुर्गा क्षेत्राधिपं गणाधिपं च वृद्धचादौ वृद्धिश्राद्धात्माक् पोडशोप-चारैः पूजियत्वा पश्चान्नान्दीमुखान् पितृन् श्राद्धे 'पूजियदिति तृतीयश्लोकस्वार्थः । शेपं व्यक्तम् । अथवा वृद्धिश्राद्धात्त्राक् कात्यायनोक्तदेवताः पूज्याः । तास्तु तृतीयश्लोके प्रदर्श्यन्ते-

> कर्मादिषु च सर्वेषु मातरस्सगणाधिपाः। पूजनीयाः प्रयत्नेन पूजिताः पूजयन्ति ताः॥ मतिमासु च शुद्धासु लिखिता वा पटादिषु। गन्धपुष्पाक्षतैश्चैव नैवेधैश्च पृथाग्विधैः॥

(कुल)कुड्यलया वनोद्धारा पश्चधारा घृतेन तु । कारयेत्सप्तधारा वा नातिनीचा न चोच्ल्लिताः ॥ आयुष्याणि च शान्त्यर्थं जप्त्वा तत्र समाहितः । पश्चयः पितृभ्यः तदनु श्राद्धदानप्रपक्रमेत् ॥ वसिष्ठोक्तो विधिः कृत्स्तः द्रष्टव्योऽत्र निरामिषः । गौरी पद्मा शची मेधा सावित्री विजया जया ॥ देवसेना स्वधा स्वाहा मातरो लोकमातरः । धृष्टिः पुष्टिस्तथा तुष्टिः आत्मदेवतया सह ॥ आभ्योऽष्टर्यं गन्धपुष्पं च धूपदीपं निवेदयेत् ।

इति । कर्मोदिषु नान्दीश्राद्धत्रयोजककर्मोषक्रमेषु आयुष्याणि 'आ नो भद्राः कतवः' इत्यादिनोक्तानि । प्रभुचः पितृभ्यः पित्रादिभ्यो मातामहादिभ्यश्च मातृश्राद्धपूर्वकं श्राद्धदानम्रपक्रमेत् । वसिष्ठोक्तो विधिः वसिष्ठादिस्पतिकारोक्तविधिः। आ-त्मदेवता आत्मनोऽभीष्टदेवता ॥

कर्मादिषु च सर्वेषु मातरस्सगणाधिषाः। पूजनीयाः प्रयत्नेन पूजिताः पूजयन्ति ताः॥

इत्यनेनोक्तमात्रादयः पूजनीयाः।

कन्यापुत्रविवाहेषु प्रवेशे नववश्मनः। नामकर्मणि बालानायन्नप्राशनकर्मणि **॥ सीमन्तोन्नयने चैव पुत्रादिमुखदर्शने।

^{*} सूक्तःनि.

^{**} चूडाकर्माण वै तथा.

नान्दीमुखं पितृगणं पूजयेत्प्रयतो गृही ।।
कर्मण्यथाभ्युदयिके माङ्गळ्यवति शोभने ।
जन्मन्यथोपनयने विवाहे पुत्रकन्ययोः ॥
पितृन्नान्दीमुखान्नाम तर्पयेद्विधिपूर्वकम् ।

इत्यादिवचनेनोक्तनान्दीमुखश्राद्धस्य चानुष्ठानं कचिद्विपये तन्त्रे-ण कार्ये, न त्वावृत्त्या इत्यत्राह स एव—

> गणशः कियमाणेषु मातृभ्यः पूजनं सकृत्। सकृदेव भवेच्छृ।द्धं आदौ न पृथगादिषु॥

अस्यार्थः—देशान्तरगतस्य चिरकालमश्रूयमाणसद्भावस्य एत-इति बुद्ध्या पुत्रादिना कृतमेतकार्यस्य कालान्तरे आगतस्य यानि जातकर्मादीनि संस्कारकर्माणि पुनः संभूय क्रियन्ते तथा तस्य कृतप्रायंश्चित्तस्य यानि जातकर्मादीनि कर्माणि सम्भूय क्रियन्ते तथोपनयनात्प्राक् स्वस्वकाले कथश्चिदकृत-चौल्लपर्यन्तसंस्कारस्य यानि कर्माण्युपनयनात्पूर्व संभूय क्रियन्ते तेषु गणशस्संभूय क्रियमाणेषु जातकर्मादिसंस्कारेषु मात्राः दिपूजाया नान्दीश्राद्धस्य च सकृतन्त्रेण प्रथमं क्रियमाणस्य कर्मण आदौ अनुष्ठानं न पृथगादिषु नावृत्या सर्वसंस्कार-कर्मादिष्विति । यत्तु तेनैवोक्तं—

मातृयागिकयां पूर्वे कृत्वा शेपं तु मङ्गळम् । ऋतुत्रयात्तु कर्तव्यं न चान्यछ्नघु मङ्गळम् ॥ इति, तत् पूर्वोक्तव्यतिरिक्तविषये क्रमेण यथाकालिकयमाणस-Smrit Cha.—Vol V. 57 र्वसंस्कारकर्मणां पण्मासातिक्रमेऽपि कालासयामावे सित द्रष्ट्वयम् ॥

इति स्मृतिचन्द्रिकायां आभ्युद्यिककर्मानिरूपणम्.

अथ वृद्धिश्राद्धविकृतिभूतकर्माङ्गश्राद्धविषयाणि— तत्र पारस्करः—

निषेककाले सोमे च सीमन्तोन्नयने तथा।

क्रेयं पुंसवने श्राइं कर्माङ्गं द्राइमित्स्मृतम् ॥

इति । निषेककालो भार्याया ऋतुस्नानकालादारभ्य षोडशरात्रपर्यन्तः । तत्र पूर्णनक्षत्रान्वितदिने गर्भाधानाल्यकर्माङ्गश्राइं कार्यम् । सोमे सोमयागकाले तत्र दीक्षादिने तदङ्गश्राइं कार्यम् । सोमशब्दोऽत्र आधानाग्निहोत्रादिकर्मणामुपलक्षणार्थः । कर्माङ्गवचनमकरणे कर्मवैगुण्यक्षापनार्थम् । अत
एवैतत्कृत्वैव कर्म कर्तव्यामाति वचोभङ्गचा शातातपेन दार्शतं—

तानिष्टा तु पितृन् यहे कर्म नैदिकमाचरेत्।

इति । पितृन नान्दीमुखसंद्यिकान् । नैदिकं कर्म गर्भाधानपुंसवनसीमन्तोन्नयनसोमयागामिहोत्रादिकम् । एतच कर्माङ्गश्राद्धः

मसकृत्तियमाणामिहोत्रादिकर्मणां प्रथममेकदैव कर्तव्यम् । यत

आह कात्यायनः—

असक्त्रद्यानि कर्माणि क्रियेरन् कर्मकारिभिः। प्रतियागं न चैतास्स्युः मातरः श्राद्धमेव च ॥ इति । एताः 'कर्मादिषु च सर्वेषु मातरस्तगणाधिपाः पूज-नीयाः प्रयत्नेन ' इत्यनेन या गणाधिपसहिताः मातर उक्ता इत्यर्थः । श्राद्धं कर्माङ्गश्राद्धम् । अत एवानन्तरमुक्तं तेनैव—

> आधाने होमयोश्वेव वैश्वदेवे तथैव च । वालिकमाणि दर्शे च पूर्णमासे तथैव च ॥ सर्वयज्ञेषु यज्ञज्ञाः वदन्त्येवं मनीषिणः । एकमेव भवेच्छाद्धमेतेषु न पृथक्षृथक् ॥

इति । होमयोरित्यनेनाधानसमभिव्याहाराद्विवचनात्सायंप्रात-रिप्तरोगावृत्तौ कर्माङ्गश्रादं कार्यम् । यतोऽनन्तरमाह—

नाष्ट्रकासु भवेच्छ्राद्धं न श्राद्धे श्राद्धामिष्यते ।
इति । अष्टकाश्राद्धविषयाः विशेषधर्मास्तत्तद्वृद्धोक्ता द्रष्ट्रच्याः ॥
गोष्टीश्राद्धशुद्धचर्यश्राद्धयात्राश्राद्धपुष्टचर्यश्राद्धविषयाणि विशेषवचनानि अस्मिन्नेव काण्डे श्राद्धभेदनिरूपणमकरणे दर्शितान्यनुसन्धेयानि । सापण्डीकरणश्राद्धविषयाणि तु विशेषवचनान्याशौचकाण्डे दर्शयिष्यामः ॥

इति स्मृतिचिन्द्रिकायां कर्माङ्गश्राद्धविषयाणि.

अथ तीर्थश्राद्धविषयाणि— तत्र मत्स्यपुराणं—

> स्नात्वा नदीषु सर्वामु पितृन् देवांश्च तर्पयेत् । तत्रतत्र यथावित्तं कुर्याछाद्धादिकं तथा ॥

अकालेऽप्यथवा काले तीर्थश्रादं तथा नरैः।

फाप्तरेव सदा कार्य कर्तव्यं पितृतर्पणम्॥
तीर्थे तु ब्राह्मणात्तेव परीक्षेत कथञ्चन।
अन्नार्थिनमनुप्राप्तं भोजयेन्मनुशासनात्॥
सक्तिः पिण्डदानं स्यात्संयावैः पायसेन वा।
कर्तव्यमृपिभिर्द्धं पिण्याकेनैङ्गदेन वा॥
पिण्याकेन तिलानां वा तत्रसद्भिनरैस्सह।
श्राद्धं च तत्र कर्तव्यमध्यीवाहनवार्जतम्॥
भध्वाङ्कृष्टभकङ्काद्या द्वान्ति दृष्टा न ते क्रियाः।

इति । ऐङ्गुदेन पिण्याकेन इङ्गुदफलानिष्पन्नेन पिण्याकेन । श्वध्वा-ङ्कादयः श्राद्धकर्जादिभिर्देष्टा अपि तीर्थे कियमाणाः श्राद्ध-कियाः न प्रन्तीत्यर्थः ।)

इति स्मृतिचिन्द्रकायां तीर्थश्राद्धविषयाणिः

श्राद्यकाण्डस्य रचना वचनैर्मुनिभिः कृतैः।
कृता गदाधरपीत्यै श्रीमद्याज्ञिकदेवणैः॥

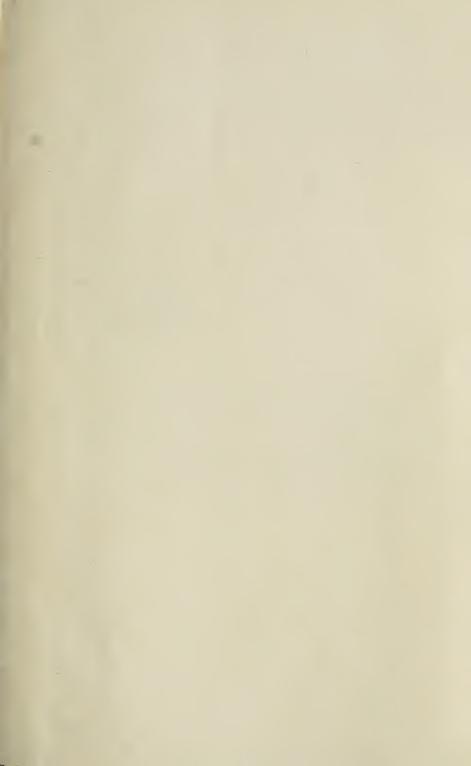
इति सकलविद्याविशारदश्रीकेशवादित्यभट्टोपाध्याय-सूनुयाज्ञिकदेवणभट्टोपाध्यायसोमयाजि-विराचितायां स्मृतिचन्द्रिकायां श्राद्धकाण्डः समाप्तः.

श्रीः

अशुद्धसंशोधनम्.

| पुटे. | पङ्कौ. | अशुद्धम्. | शुद्धम्. | | |
|--------------------------------------|------------------|-------------------------|------------------|--|--|
| 6 | 19 | षुत्राभावे | पुत्राभावे | | |
| 8 | 6 | विधि | विधि | | |
| 16 | 8 | पि दिषु | पित्रादिषु | | |
| 1 9 | 14 | सर्वसिन्वा | सर्वास्मिन्वा | | |
| 27 | 19 | शताभि षश् शुक्ता | शतभिषग्युक्ता | | |
| | 28 तमपुरे | 12 पङ्कचनन्तरं-' शुक्के | | | |
| चैवापराह्निकी ' इत्यर्धऋोकेन भाव्यम् | | | | | |
| 46 | 16 | संसुखा | संमुखा | | |
| 48 | 6 | अमावात्या | अमावास्या | | |
| 81 | 21 | श्राद्धावधानात् | श्राद्धविधानात् | | |
| 85 | 6 | तद्ष्युक्त | तदप्युक्त | | |
| 85 | 11 | कुर्याच्छूद्धं | कुर्याच्छ्राद्धं | | |
| 96 | 15 | त्राद्धं | श्राद्धं | | |
| 117 | 1 | स्र्ति | मृति | | |
| 1 62 | 19 | अनुशंस्यं | आनृशंस्यं | | |
| 165 | 11 | रहितमिनि | रहितमिति | | |
| 207 | 11 | प्रभृतीत्यर्थ | प्रभृतीत्यर्थः | | |
| 235 | 16 | व्यक्तिमात्रयेव | व्यक्तिमात्रमेव | | |
| 244 | 4 | भोज्यो | भोज्यौ | | |
| 282 | 9 | प्रधमं | प्रथमं | | |
| | SMRITI C | HA.—Vol. V. | | | |

| पुटे. | पङ्को. | अशुद्धम्. | शुद्धम्. |
|-------|------------|-----------------|--------------------|
| 318 | 14 | पैतृकैब्राह्मणै | पैतृकैः ब्राह्मणैः |
| 320 | 17 | पमसुक्ता | पवमुक्ता |
| 342 | 10 | देवर्पू | देवपूर्व |
| 357 | 8 | पीतशेशं | पीतरोषं |
| 357 | 8 | पिभेत् | पिवेत् |
| 360 | 16 | हति | इति |
| 364 | 1 | स्वयं चा | स्वयं वा |
| 364 | 17 | दाषे | दोष |
| 365 | 20 | म र्ही | महीं |
| 372 | 15 | पितामहापितृ | पितामहस्य पितृ |
| 373 | 9 | शाण्डित्यौ | शाण्डिल्यौ |
| 373 | 12 | षिण्डानुमन्त्रण | पिण्डानुमन्त्रण |
| 373 | 12 | पितृयज्ञ | पिण्डापितृयञ्च |
| 423 | 12 | मृतामहे 🕖 | मृताहे : |
| 424 | 19 | युपदेकदा | युगपदेकदा |
| 424 | 21 | वक्ष्यपाण | वक्ष्यमाण |
| 429 | 7 | वचनसार्थ्यात् | वचनसामर्थ्यात् |
| 430 | 6 | विषयव्यस्था | विषयव्यवस्था |
| 432 | 1 8 | धुनिरोचनौ | धुरिलोचनौ |
| " | 19 | " | ,, |
| 435 | 12 | पृथद्गिने | पृथग्दिने |
| 442 | 6 | द ष्ट्रा | पुष्टचा |





BL 1215 R5D4 1914 v.4

Devanna Bhatta Smrticandrika



PLEASE DO NOT REMOVE

CARDS OR SLIPS FROM THIS POCKET

UNIVERSITY OF TORONTO LIBRARY

